प्रकाशक

दरबारीलाल जैन, कोठिया

मन्त्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

२१, दरियागंज, दिल्ली ६ ।

प्रथम संस्करण : ग्यारहसौ प्रतियाँ

मुद्रण-मास : कार्तिक सं० २०२०

प्रकाशन-दिवस : ११ दिसम्बर १९६३

पृष्ठसंख्या कुल ३६४

मूल्य मात्र : [illegible]

मुद्रक

१. सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज, देहली

२. महावीर प्रेस, अलीगंज (एटा)

Preface पृ० ९ से १६ :

३. रामाप्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

मुखपृष्ठ तथा आवरण

मुनिश्री समन्तभद्रजी, बाहुबली

सेठ माणिकचन्द वीरचन्द शहा जैन
सोलापुरके सौजन्यसे प्राप्त ।

समर्पण

मानीनीय बाल-ब्रह्मचारी, अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी

पूज्य मुनि श्रीसमन्तभद्रजीको

उनके

जिनशासनानुराग, विद्याप्रेम, कषायजय, सरल-सत्य-व्यवहार
गुणानुरक्ति, विषयविरक्ति, परोपकारवृत्ति, सदाचित्तप्रसत्ति-जैसे

सद्गुणोंके सम्मानमें

यह कृति

जो कि ध्यानविषयक अतीवोपयोगिनी पुरातनाचार्य-कृतिकी
सानुवाद-व्याख्यादिके रूपमें अलंकृति है,

सादर समर्पित।

जुगलकिशोर मुख्तार

स्व० श्रद्धेय साहू रामस्वरूपजी जैन
संस्थापक
देवेन्द्रकुमार जैनट्रस्ट नजीबाबाद
की पुण्यस्मृतिमें
उपर्युक्त ट्रस्टकी सहायतासे लोक-हितार्थ
नि.शुल्क वितरणके लिये प्रकाशित ।

स्व० साहू रामसरूपजी जैन, नजीबाबाद

जन्म २१ जनवरी १८८९ निधन ११ दिसम्बर १९६१

प्रकाशकीय

आचार्य रामसेन-द्वारा रचित प्रस्तुत तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ एक बडा ही सुन्दर-सुव्यवस्थित पुरातन ध्यानशास्त्र है, जिसमे निश्चय और व्यवहार दोनो प्रकारका मोक्ष-मार्ग ध्यानसे सिद्ध होता है इस बातको स्पष्ट करते हुए, ध्यानका और उसके द्वारा आत्माके विकासका एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम उपस्थित किया गया है।

यद्यपि यह ग्रन्थ इससे पूर्व भी एक-दो जगहसे मूल रूपमे तथा अनुवादके साथ, ग्रन्थ-कर्ताके गलत नामको लिये हुए, प्रकाशित हो चुका है किन्तु जैसे शुद्ध और आधुनिक सम्पादनसे युक्त सस्करणकी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति उक्त सस्करणोसे नही हो सकी। इस आवश्यकता तथा ग्रन्थके महत्वको अनुभव करके सुविख्यात साहित्यकार और अनुभवी विद्वान् वयोवृद्ध प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने इसका सशोधन, सम्पादन और हिन्दी भाष्य तैयार किया, साथ ही इसपर विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी। ग्रन्थको सर्वाङ्गपूर्ण बनानेके लिए उन्होने कई वर्षो तक इसका गहरा अध्ययन और मनन किया। लगभग तीन वर्ष पूव पूज्यश्री मुनिराज समन्तभद्रजीके निकट बाहुवली (कोल्हापुर) जाकर कई दिन तक ग्रन्थके विषयोपर विचार-विमर्श किया एव ध्यानशतक, आर्ष, ज्ञानार्णव, योगशास्त्रादि दूसरे ग्रन्थोसे तथा कुछ विद्वानोसे भी विषयको स्पष्ट किया है और इस तरह उनके कठोर परिश्रम एव अध्यवसायके वाद अब यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ सुन्दररूपमे वीरसेवा-मन्दिर-ट्रस्टकी ओरसे प्रकाशित किया जा रहा है।

वस्तुत' ध्यान-विषयक खास तथा महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध करनेके लिए यह एक वहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है। नये ढंगसे किये गये सम्पादन, विस्तृत हिन्दी भाष्य प्रस्तावना और परिशिष्टोसे ग्रन्थ और अधिक उपादेय तथा पठनीय बन गया है। ग्रन्थकी प्रस्तावनामे कर्तृत्व-सम्बन्धी अनेक भूल-भ्रान्तियोको, जो अरसेसे चली आ रही थी, सप्रमाण दूर करके उसके कर्त्ताका निर्णय किया गया है।

सस्कृत-विश्वविद्यालय वाराणसीके भूतपूर्व कुलपति डा० मङ्गलदेवजी एम० ए०, डी० फिल० ने ग्रन्थ पर अपना महत्वका प्राक्कथन लिखा है। इसके लिए हम उनके आभारी है और उन्हे धन्यवाद देते है।

हमें आशा है प्रस्तुत सस्करण एक बडी भारी माँगको पूरी करेगा तथा अध्यात्म-प्रेमी मुनियो, त्यागियो, विद्वानो और सद्-गृहस्थोको ऐसे ग्रन्थोके अध्ययन-मनन करनेकी रुचि उत्पन्न करके उन्हे विपुल आध्यात्मिक भोजन प्रदान करेगा।

हमे प्रसन्नता है कि 'युगवीर-निबन्धावली'के प्रकाशनके तुरन्त बाद ही वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट अपने पाठकोकी सेवामे इस सुन्दर ग्रन्थको उपस्थित करनेमे समर्थ हो सका है। यद्यपि प्रेस आदिकी कितनी ही कठिनाइयाँ एव बाधाएँ आई है किन्तु मुख्तारश्रीके अदम्य उत्साह, धैर्य एव परिश्रमसे अन्तको वे दूर हो गई और ग्रन्थ अपने वर्तमान रूपमे सामने प्रस्तुत है। इतना ही नही, किन्तु इस महान् ग्रन्थरत्नको नि शुल्क वितरित कराने के अपने प्रयत्नमें भी वे सफल हो सके हैं, यह और भी प्रसन्नताकी बात है। इस सत्कार्यमे जिनका सहयोग प्राप्त हुआ है वे सभी धन्यवादके पात्र हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
३० सत म्बर १९६३

दरबारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य, एम० ए०)
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट

सम्पादकीय

यह 'तत्त्वानुशासन' ग्रन्थ जबसे माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला-के 'तत्त्वानुशासनादिसंग्रह' नामक १३ वें ग्रन्थमे सर्वप्रथम (विक्रमाब्द १९७५ मे) मूलरूपसे प्रकाशित हुआ है तभीसे बराबर मेरे अध्ययनका विषय रहा है और मैंने इसके संशोधन तथा सम्पादन-कार्यको अनेक प्रतियोका प्रयत्नपूर्वक आयोजन करके सम्पन्न किया है, जैसा कि प्रस्ता-बनाके द्वितीय अधिकार ('ग्रन्थकी प्रतियोका परिचय')से प्रकट है। और उसके द्वारा मुद्रित मूलपाठकी अशुद्धियोका ही नही बल्कि ग्रन्थ-कर्तृत्वके विषयमे जो बहुत बडी भ्रान्ति चल रही थी, उसका भी सुधार हुआ है। ग्रन्थमे सर्वत्र मूलपाठको अपने शुद्धरूपमे रक्खा गया है, अशुद्धरूप तथा भिन्न पाठोको पाद-टिप्पणियो मे, उन-उन प्रतियोके सकेतचिह्नपूर्वक, दे दिया गया है, जिनमे वे पाये जाते हैं। इससे विज्ञ-पाठकोको उन प्रतियोके मूलरूपको भी समझनेमे सहायता मिलेगी और वह गलती भी पकड़ी जा सकेगी जो कही मूलपाठके ग्रहण मे हुई हो।

इस ग्रन्थका अनुवादकार्य, जिसे करनेकी बहुत दिनोसे इच्छा चल रही थी, श्रावण शुक्ला पचमी गुरुवार ता० २८ जुलाई १९६० को हाथमें लिया गया और वह कोई एक महीनेमे ही ३१ अगस्त १९६० को पूरा हो गया। व्याख्याका कार्य प्रथमपद्यसे ५ अक्तूबर १९६० से प्रारम्भ हुआ। वह कभी चला, कभी-कभी परिस्थितियोके वश अर्से तक बन्द रहा और उसका कोई एक क्रम भी नही रहा—जिन पद्योकी व्याख्या-का जब अवसर मिला तभी उसे लिख लिया गया। और इस तरह वह प्राय दिसम्बर १९६१ मे समाप्त हो पाई है। मूलानुगामी अनुवादको ब्लैक टाइपमे रखा गया है और उसके यथावश्यक स्पष्टीकरणको तदनन्तर डैशो-(— —) के भीतर अथवा डैश (—) पूर्वक दूसरे भिन्न एवं सफेद टाइपमे दिया गया है। इससे पाठकोको मूलग्रन्थके सन्दर्भ, शब्द-अर्थ-विन्यास तथा आत्माको समझनेमे अच्छी मदद मिलेगी।

अब मैं, अपने वक्तव्यको समाप्त करता हुआ, उन सब ग्रन्थो तथा ग्रन्थकारो, एव लेखों और लेखकोका हृदयसे आभार मानता हूँ जिनके

वाक्योका इस भाष्यके निर्माणमे कुछ भी सहयोग मिला अथवा उपयोग हुआ है। न्यायाचार्य प० दरबारीलालजी कोठिया और प० दीपचन्द-जी पाण्ड्याने भाष्यका एकाग्रताके साथ अलग-अलग अवलोकन किया है, इस कृपाके लिए मैं दोनोका आभारी हूँ। जिन विद्वानो तथा अन्य सज्जनोसे मुझे ग्रन्थादिक-सामग्रीकी प्राप्ति अथवा किसी सूचना-विशेष-की उपलब्धि हुई है उन सबका आभार मैं प्रस्तावनामे यथास्थान व्यक्त कर चुका हूँ। उनमे तीन सज्जनोके नाम शेष रहे हुए हैं—एक ला० पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीका, जिन्होने मुझे धर्मरत्नाकर और विद्या-नुसाशनादि ग्रन्थोकी हस्तलिखित प्रतियोको शास्त्रभण्डारोसे लाकर दिया है, दूसरे ला० मनोहरलालजी जोहरी दिल्लीका, जिनके शास्त्र-भण्डारसे मुझे विद्यानुशासनका हिन्दी अनुवाद आदि कई ग्रन्थ देखनेको मिले है, तीसरे प० अमृतलालजी दर्शनाचार्य बनारसका, जिनसे आसन-विषयक कुछ ग्रन्थ-वाक्योकी सूचना प्राप्त हुई है। इन तीनोका भी मैं यहाँ आभार व्यक्त करता हूँ।

ट्रस्टमन्त्री प० दरबारीलालजीकी प्रेरणाको पाकर डा० मगलदेवजी शास्त्रीने, अनेक कार्योंमे व्यस्त होते हुए भी समय निकालकर,'प्राक्कथन' लिखनेकी जो कृपा की है उसके लिये मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस अवसरपर मैं डा० ए० एन० उपाध्येजीको नही भुला सकता, जिन्होने मेरी प्रेरणाको पाकर मुद्रित भाष्यको पूरा पढ जाने और उस पर अग्रेजीमे अपना सुन्दर आमुख (preface) लिखकर भेजनेकी कृपा की है। इसके लिये मैं उनका खास तौरसे आभारी हूँ।

अन्तमे साहू शीतलप्रशादजीको मैं अपना हार्दिक धन्यवाद अर्पण करता हूँ, जिन्होने मेरी प्रेरणा और बाबू छोटेलालजीके परामर्शसे अपने पिताजीके द्वारा सस्थापित देवेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट नजीबाबादकी ओरसे इस अनुपम ध्यानशास्त्रके नि शुल्क वितरणका आयोजन किया है।

दिल्ली, २५ सितम्बर १९६३
आश्विन शु० ७ स० २०२०

जुगलकिशोर मुख्तार

PREFACE

The term *anuśāsana* as a second member in the titles of works is quite common in various branches of Indian literature like grammar (Śabdānuśāsana), poetics (Kāvyānuśāsana),metrics (Chandonuśāsana), religious and didactic anthology (Ātmānuśāsana) etc. The present text, the Tattvānuśāsanam, is intended to instruct the fundamental religious principles as they are. It expounds what is *upādeya* and what is *heya*. All that leads to worldly bondage is *heya*, and whatever contributes towards the attainmet of liberation is *upādeya*. This takes one to the explanation of sentient and non-sentient principles (*jīva* and *ajīva*) and their interaction and its causes. From the vyavahāra point of view, *samyaktva* consists in accepting the fundamentals of religion, *jñāna*, in knowing the same, and *cāritra*, in practising the penances; and these three constitute the path leading to Liberation. From the *niścaya* point of view, however, the cause of liberation is the saint himself who has evolved in himself the above qualities. A monk who is detached and realizes himself, by himself and in himself is the veritable occasion of liberation. Such attainment is possible in *dhyana* or meditation, to the exposition of which the major part of this work is devoted.

Dhyāna is of four kinds: *ārta*, *raudra*, *dharma*, and *śukla*. It is the last two which are *upādeya*, deserving acceptance, on the path of *mokṣa* or liberation. Dharm-dhyāna is explained in its eight aspects. In *dhyāna* there is unruffled concentration

of mind, and it is helpful in destroying the Karmas. The author shows the ways and means of concentration of mind. To attain this, the Mahāmantra is to be meditated upon in a number of contexts, and various other topics are to be reflected on. It is this meditation with a balanced mind that leads one to self-realisation The author expounds the various accessories, procedures, attainments etc. in the cultivation of Dhyāna which leads to the highest bliss of Liberation for which there is no comparison (See the Intro pp. 59 f. for a detailed summary of the work).

This short and cursory resume of the Tattvānuśāsana clearly indicates that the main object of the author is to propound *dhyāna* in its various details. That is why this work is called Dhyāna-śāstra or Dhyāna-grantha as well.

In the year 1918, as a part of the thirteenth volume of the Mānikachandra-Digambara Jaina granthamālā, Bombay, the text of the Tattvānuśāsanam was published from a single Ms. On account of a faulty reading, the late lamented Pt. Nathuramaji Premi was led to take Nāgasena as its author; but he rightly observed that the work was very important (*mahattvaka*) and of great merit (*ucca kotika*) and assigned it to a period earlier than Āśādhara who quotes it in his commentary on the Istopadeśa which was completed by him some time before Vikrma Saṁvat 1285 (–57= A. D. 1228). Then it was published by the Bhāratiya Jaina-Siddhānta-prakāśinī Saṁsthā, Calcutta, with the Hindi translation of Pt. Lalaramaji No attempt was made in this edition to improve the text with

the help of additional Ms. material. This was followed by one more Hindi translation of Shri Dhanyakumar Jain, in 1946 Obviously, it showed no advancement in the constitution of the text. Then it is published by the Jaina Sāhitya Vikāsa Maṇḍala, Bombay, in 1961, with Gujarati translation (see also Namaskāra-Svādhyāya, p 7 of the Nivedana and pp.223 ff., published by the same Maṇḍala, 1962). The translator has realised the value of the contents of this work, but excepting some minor corrections here and there, he follows the text of the earlier edition (See Intro pp 81 ff).

Pandit Jugalkishore Mukhtar was attrached by this important work almost from 1920, and since long, he wanted to bring out a critical edition of it along with a thorough study of its contents. In 1920 he rightly pointed out that the name of the author was Rāmasena and not Nāgasena. in an article in the Jaina Hitaishī. The subsequent editions did not take note of it, and it was left to Pt. Jugalkishoreji himself to bring out an edition with the correct name of the author. With the advance of age, lately, he is showing more of spiritualistic and meditational inclination in his writings; and today, we have here a worthiy edition of the Tattvānuśāsana which fully testifies to his mature scholarship, indefatigable industry and argumentative zeal.

For the present edition, besides the printed text, Panditaji has used some five Mss. i) *A* from Jaipur; ii) Ju a transcript of the Arrah Ms; iii) *Si*, the orginal of *Ju*; iv) *Ja* from Jaipur; and v) *Me* from Amer. All these Mss. are duly described by him (see the Intro. pp.2 f.) and important readings are

noted in the foot-notes while explaining the text.

The Tattvānus'āsana in view of its valuable exposition of Dhyāna deserved a deep study and through explanation of its contents in the light of corelated works. Panditaji has given us here a systematic translation of the text. Every verse, in addition, is accompanied by what he calls Vyākhyā in which the specialities of its contents are explained in a thorough and learned manner. To substantiate his exposition, Panditaji has given in its footnotes helpful quotations in many places. In fine his Vyākhyā is a deep study of a number of topics connected with this text. It deserve to be studied with particular care by all those who are interested in the Dhyānas'āstra, elaborated in the back-ground of Jaina idealogy. Though Rāmasena's work was neglected for a long time, it found at last a worthy interpreter in Pt. Jugalkishoreji whose study of this work extends over a number of years and is completed at his ripe age of eightyfive.

Panditaji has added a lengthy Introduction which is divided into ten sections and is full of details. In the First, it is pointed out that the name of the work is Dhyānasāstra or Dhyānagrantha, besides the Tattvānusāsanam. In the Second, the various Mss. are described. Sections Three to Five are devoted to the author's name, individuality and date. Section Six discussed about the Teachers of the author. Section Seven gleans from traditional sources some details about Rāmasena Section Eight presents a runing summary of the Tattvānus'āsana. Section Nine takes a critical review of the earlier editions and translations. Lastly, Section

Ten is an Upasaṁhāra with personal touches.

Rāmasena, the author of the Tattvānusāsana, was initiated into the ascetic order by Nāgsena; and he recieved instructions in scriptural knowledge from viracandra, S'ubhadeva, Mahendradeva and Vijiyadeva. There might have been many teachers bearing the name Nāgasena: at least five of them of distinct personality, so far known, have been listed (Intro. pp. 14-5).

Rāmasena shows in his Tattvānuśāsana the influence of the works of earlier authors like Kundakunda, Umāsvāti, Samantabhadra, Pūjyapāda, Akalanka and Jinasena. This Tattvānus'āsana is specifically quoted by As'ādhara who completed his commentary on the Istopades'a some time before A. D. 1228 So Rāmasena must have flourished some time between Jinasena and As'ādhara.

Some of the expressions of Rāmasena remind us of similar contexts in the Uttarapurāṇa and Ātmānus'āsana of Guṇabhadra whose former work was completed some time before 897 A. D. Jayasena in his commentary on the Pancāstikāya and Brahmadeva in his commentary on the Dravyasaṁgraha specifically mention this Tattvānus'āsana. Further, some of the expressions of Hemacandra in his Yogas'āstra, of Nemichandra Siddhāntadeva in his Dravyasaṁgraha, of the other Jayasena in his Dharmaratnākara (1055 Vikrama saṁvat), of Amitagatis (I and II) in their Upāsakācāra and Yogasāra, and of Devasena in his Ālāpa-paddhati remind us of similar contexts in the Tattvānus'āsanam. It also appears that the Tattvānus'āsana shows the influence of the Tattvārthasāra of of Amṛta-

candra. Taking all these points into account, Pt. Jugalkishore assigns Rāmasena circa probably to the last quarter of the tenth century of the Vikrama era.

After thus assigning Rāmasena to the 10th century of the vikrama era, Pt. Jugalkishore proposes identification of his teacher Mahendradea with one of that name who is mentioned by Somadeva in his Nītivākyāmrta. This identification he takes as *suniscita*, i. e., definite and certain. If any one had reached a conclusion like this, Pt Jugalkishore Mukhtar would have perhaps argued with his usual pleader's zest like this: i) we do not possess the census of all the Mahendradevas in the tenth century of the vikrama era, and it cannot be ruled out that there was some other Mahendradeva also at that time than the one mentioned by Somadeva, ii) it is well-known that very often teachers having the same name flourihsed at one and the same time, iii) Somadeva has not indicated that Mahendradeva had a pupil by name Rāmasena; lastly, iv) Rāmasena has not described his teacher Mahendradeva with the titles, *bhattarraka* and *vadīndra-kālānala.* So this proposed identity is based primarily on the similarity of name and nothing more, thus it is a matter of probablity and not certainty.

Pt. Jugalkishore has taken S'rīvijaya and Vijayadeva as identical names He identifies, therefore, Vijayadeva with one S'rivijaya (after ruling out other known S'rīvijayas) who is mentioned by Padmanandi in his Jambūdīvapannatti and who belongs approximately to the period to which Rāmasena is assigned (Intro. p. 48.)

About Vīracandra and S'ubhadeva no additional information is available. About Nāgsena, the Dīkṣā-guru, he has ruled out other teachers of that name known to us, and he suggests that the corrupt reading Noyaguru stands for Nāgaguru in one of the Gurvāvalīs of the Kāsthā Saṁgha, Nanditaṭa Gaccha. (See Intro. p. 15, 49 f) As Rāmasena has not mentioned his Saṁgaha or Gaccha, this proposed identity also is a matter of probability.

The Introduction is more than exhaustive, and it contains otherwise useful details even to show that they are not relevant to the point at issue. They would, however, be useful to other workers in kindered fields of study.

In course of his discussions, Pt. Jugalkishore has reached or assumed certain conclusions which merit special attention. i) Nemicandra-Gani, - Muni or Siddhāntadeva and Nemicandra Siddhānta-Cakra-varti are two distinct individuals The former is the author of the Dravyasaṁgraha and the latter, of the Gommatasāra; and these two works, of different authorship, show some difference in doctrinal enumeration It is a matter of futher investigation whether the evidence adduced justifies the conclusion arrived at. One fact may be noted here that one Padmanandi is called both Siddhānta-deva and Siddhāntacakravarti in an inscription (E C , VIII, Sorab, No. 262) ii) Brahmadeva, the author of the Sanskrit commentary on the (Bṛhat) Dravyasaṁgraha is put as a contemporary of the Paramāra ruler Bhojadeva, Mhāmandales'vara S'rīpāla, the banker Soma & Nemicandra Siddhānt-deva, the author of the Dravyasamgraha. iii)

Jayasena's reference to the Dravyasaṁgraha and Soma-s'reṣthin is taken as his acquaintence of Brahmadeva's commentary. What is obvious from Jayasena's remark is that he knew that one Dravyasamgraha was composed for Soma, and that could be the text which has been lately brought to light. iv) Here and there negative evidedence is used, and this can be easily questioned as a methodological defect. If an author does not show acquaintance with a work, it should not necessarily mean that he was earlier in time: in a big country like that of ours with meagre communications of the middle ages, other alternatives are equally admissible.

All research is a progressive study. Authentic facts are more valuable than ingenious arguments, interpretations and construings which often melt away in course of time. We should, therefore, always have some regard for our predecessors who have brought relevant facts to light in the march of study. We are highly gratful to Pt. Jugalkishore Mukthar for giving us in this volume his solid and mature study of the Tattvānus'āsana along with a learned Introduction rich in details.

Dhavlā
Kolhapur : 4-7-63

A. N. Upadhye

प्रस्तावना

१. ग्रन्थका नाम

इस ग्रन्थका मूल नाम 'तत्त्वानुशासन' है, जैसा कि ग्रन्थके 'वक्ष्ये तत्त्वानुशासनम्' इस प्रतिज्ञावाक्य (१) और 'तत्त्वानुशासनमिव जगतो हिताय श्रीरामसेन-विदुषा व्यरचि स्फुटार्थम्' इस उपसहार-वाक्य (२५७) से प्रकट हैं। और यह ठीक ही है, क्योकि ग्रन्थका विपयारम्भ ही हेय तथा उपादेय ऐसे दो मूल तत्त्वोंकी प्ररूपणाको लेकर हुआ है, जिसमें वन्ध-मोक्षादि सारे तत्त्वोंके कथनको समाविष्ट किया गया है। वस्तुके याथात्म्यको—चेतन या अचेतन जो भी वस्तु जिस प्रकारसे व्यवस्थित है उसके उसी प्रकारके भावको—'तत्त्व' बतलाया है (१११), और इसलिए इस ग्रन्थका जो भी कथन है वह सव वस्तुके याथात्म्यकी दृष्टिको लिये हुए होनेसे तात्त्विक है और ग्रन्थके 'तत्त्वानुशासन' नामको सार्थक करता है।

तत्त्वानुशासनके रूपमे इस ग्रन्थका प्रधान विषय 'ध्यान' है। प्रारम्भके ३२ पद्योको छोडकर शेष सारा ग्रन्थ प्रायः ध्यानसे ही सम्बन्ध रखता है। ध्यान-द्वारा व्यवहार तथा निश्चय दोनो प्रकार-का मोक्षमार्ग सिद्ध होता है, इस विषयकी सूचना करते हुए ३३वें पद्यमे सुधीजनोंको ध्यानके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है और उसके बादसे ही ध्यान-विषयक कथनका प्रारम्भ हुआ है, जो उपसहार-पर्यन्त चला गया है, जैसा कि उपसहारके निम्न पद्यमे भी जाना जाता है —

> सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन् मोक्ष स ध्यान-पूर्वक
> इति मत्वा मया किंचिद् ध्यानमेव प्रपचितम् ।। २५२ ।।

ध्यानके ही प्रपचन अथवा विस्तृत कथनको लिए हुए होनेसे, इस ग्रन्थको 'ध्यान-शास्त्र' भी कहते हैं। इसीसे कुछ ग्रन्थकारोंने 'ध्यानशास्त्र' अथवा 'ध्यानग्रन्थ'के रूपमे इसका उल्लेख किया है, जैसा कि पचास्तिकाय (गा० १४३) की तात्पर्यवृत्तिमे जयसेनाचार्यके 'तथा चोक्त तत्त्वानुशासन-ध्यानग्रन्थे' इस वाक्यसे प्रकट है, जिसके साथ ग्रन्थका 'चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य सम्प्रति' इत्यादि पद्य (८६) उद्धृत किया है। परमात्मप्रकाश-टीकामे ब्रह्मदेवने भी 'यथा चोक्त तत्त्वानुशासने ध्यानग्रन्थे' इस वाक्यके साथ 'यत्पुनर्वज्रकायस्य' इत्यादि पद्य(८४) उद्धृत किया है। ध्यानग्रन्थकी अपेक्षा 'ध्यानशास्त्र' नाम अधिक उपयुक्त जान पडता है। भगवज्जिनसेनाचार्यने भी अपने ध्यानतत्त्वानुवर्णन (आर्ष पर्व २१) को 'ध्यानशास्त्रके नामसे उल्लेखित किया है[१]। इस तरह 'तत्त्वानुशासन' और 'ध्यानशास्त्र' ये दोनो ही इस ग्रन्थके सार्थक नाम हैं।

२. ग्रन्थकी प्रतियोंका परिचय

यह ग्रन्थ आजसे कोई ४४ वर्ष पूर्व (विक्रमाब्द १९७५) सबसे पहिले माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाके 'तत्त्वानुशासनादि-सग्रह' नामक त्रयोदशवें ग्रन्थमे मूलरूपसे प्रकाशित हुआ है। जिस हस्तलिखित प्रतिपरसे यह प्रकाशित हुआ है वह बम्बई-दिगम्बरजैन-मन्दिर-पुस्तकालयके एक जीर्ण-शीर्ण गुटकेमे सगृहीत है। 'उसीपरसे इस ग्रन्थकी प्रेस-कापी कराई जाकर और दूसरी प्रतिके कहींसे न मिलनेके कारण, उसी एक प्रतिके आधारसे सशोधन कराया जाकर यह ग्रन्थ मुद्रित हुआ है,' ऐसा ग्रन्थमालाके मत्री प० नाथूरामजी प्रेमी अपने 'सक्षिप्त परिचय' मे सूचित करते हैं। बम्बई दिगम्बर जैन-मन्दिरकी वह मूल प्रति अपने देखनेमे नही आई, इससे उसका कोई

---

१. तदस्य ध्यानशास्त्रस्य यास्ता विप्रतिपत्तय ।
निराकुरुष्व ता देव भास्वानिव तमस्तती ॥ आर्ष २१-२१९।

विशेप परिचय यहाँ नही दिया जा सका। उसके आधारपर मुद्रित हुई प्रति जब बहुत कुछ अशुद्ध है, जैसा कि तुलनात्मक फुटनोटो (पाद-टिप्पणियो) से जाना जाता है, तब उस बम्बई (मुम्बई) प्रतिका अशुद्ध होना भी स्वत सिद्ध है। उक्त मुद्रित प्रतिको यहाँ 'मु' सज्ञा दी गई है, जिसमे मुम्बईकी वह हस्तलिखित प्रति भी शामिल है।

मुद्रित प्रतिके अशुद्ध पाये जानेपर मेरे हृदयमे, ग्रन्थके महत्त्व-को देखते हुए, उसी समयसे दूसरी शुद्ध प्रतियोको प्राप्त करनेकी इच्छा जागृत हो उठी और प्रयत्नके फलस्वरूप मुझे एक अच्छी प्रति सन् १९२० मे जयपुरसे प्राप्त हो गई, जो प्रायः शुद्ध जान पडी और इसलिये मैंने अपनी मुद्रित प्रतिमे उसके पाठान्तरोको नोट कर लिया और मुद्रित प्रति पर सुर्खीसे लिख दिया—"जयपुरकी प्रतिपरसे सशोधन किया गया।" इसके सिवाय मैंने उस प्रतिका और कोई परिचय उस समय नोट नही किया। दो तीन वर्षसे मैंने उस प्रतिको परिचयके लिए, फिरसे प्राप्त करनेका प्रयत्न किया और प० कस्तूर-चन्दजी कासलीवाल एम०ए० को कितने ही प्रेरणात्मक पत्र लिखे, परन्तु उत्तर यही मिलता रहा कि तलाश करनेपर भी जयपुरके किसी भडारमे वह प्रति अभी तक मिल नहीं रही है। स्वर्गीय मास्टर मोती-लालजी सिंघीका शास्त्रभडार वन्द पडा है, वह खुल नही पाया, जिसमे उक्त प्रतिके मिलनेकी वडी सभावना थी, क्योकि सिंघी मास्टर जी एक वडे ही उद्योगशील एव परोपकारी पुरुष थे, वे एक-एक ग्रन्थ-की कई-कई प्रतियाँ अपने सग्रहमे रखते थे, लोगोको उनके घर तक जाकर ग्रन्थ-प्रति स्वाध्यायके लिये दिया करते थे और स्वाध्याय हो जाने पर प्राय स्वय ही जाकर उसे ले आया करते थे। वहुत सभव है कि उन्हींके द्वारा तत्त्वानुशासनकी वह प्रति मुझे भेजी गई हो। अस्तु, ग्रन्थके न मिलनेसे उसका कोई विशेष परिचय नही दिया जा सका। उस प्रतिको मैंने आदर्श प्रति माना है, और इसलिये उसको 'आ'

सज्ञा दी गई है। ग्रन्थका अधिकाश सशोधन-कार्य उसीके आधारपर हुआ है।

उक्त आदर्श जयपुर-प्रतिकी प्राप्तिके आस-पास ही (कुछ आगे पीछे) मुझे इस ग्रन्थकी एक दूसरी प्रति स्व० बाबू देवेन्द्रकुमारजीने जैनसिद्धान्त-भवनकी प्रतिपरसे नकल कराकर भेजी थी, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ, और जो इस समय भी मेरे पास मौजूद है। यह प्रति शास्त्राकार खुले पत्रोपर है, जिनकी सख्या ११ और लम्बाई १२$\frac{3}{4}$ इच तथा चौडाई ७$\frac{1}{2}$ इच है। पहले और अन्तके दोनो पत्रोंकी पीठ खाली है। पहले पत्रपर १२ और अन्तके पत्रपर कुल दो पक्तियाँ हैं, शेष पत्रोके प्रत्येक पृष्ठपर ११-११ पक्तियाँ हैं, जिनमे अक्षर-सख्या प्रति-पक्ति प्राय. ३८ से ४१ तक पाई जाती है। यह प्रति बहुत कुछ अशुद्ध है और इसे 'जु' सज्ञा दी गई है। लेखनकाल इसपर अकित नही है। लेखकने अपना नाम 'बापूराव जैन' दिया है और अपनेको सांगली-निवासी तथा पागलगोत्रीय व्यक्त किया है, जैसा कि ग्रन्थप्रति-की निम्न अन्तिम पक्तिसे जाना जाता है :—

"लिखितमिद सांगलीनिवासीपागलगोत्रीयबापूरावजैनेन ।"

इस प्रतिके कुछ अंशो पर सन्देह होने और उन्हें आराके जैन सिद्धान्त-भवनकी मूल प्रतिसे जाँचनेके लिये मैंने हालमे (कोई डेढ़ वर्ष हुआ) सिद्धान्तभवनकी उक्त प्रतिको मँगाया था और वह मुझे बा० सुबोधकुमारजीके सौजन्यसे सहज ही प्राप्त हो गई थी, जिस-के लिये मैं उनका आभारी हूँ। इस प्रतिकी शास्त्राकार पत्रसख्या १५ है। अन्तिम पत्रका द्वितीय पृष्ठ खाली है। पत्रके प्रत्येक पृष्ठ पर १० पक्तियाँ और पक्तियोंमे अक्षरोका औसत प्राय प्रति-पक्ति ३० का जान पडता है। पत्रकी लम्बाई ११$\frac{1}{2}$ इच और चौडाई ६ इच की है। लिखाई साधारण और कागज फुलस्केप-जैसा है। यह प्रति कही-कही सशोधनको भी लिये हुए है, जो लिखनेके बाद उसी लेखक-द्वारा

मिलान करने पर किया गया मालूम होता है। दडो आदिके रूपमे कही सुर्खी नही लगी। लिपिकाल और लिपिकारके नामादिकका उल्लेख, ग्रन्थ-समाप्तिके अनन्तर एक पक्तिमे २५ सख्या-प्रमाण 'श्री' अक्षरको देकर, निम्न प्रकारसे किया गया है .—

"इदं पुस्तकं परिधाविसवत्सरे उत्तरायणे अधिकआषाढमासे कृष्ण-पक्षे एकादश्याया सौम्यवासरे द्वाविंशघटिकाया दिवा च वेणूपुरस्त (स्थ) पन्नेचारिस्ति(स्थि)त विद्वत्वामनशर्मणा पंचमपुत्र मद्गीति-केशवशर्मणेन लिखितं समाप्तमित्यर्थ श्रीजिनाय नमः ।।"

यह प्रति भी वहुत अशुद्ध है। लिपिकारको उस प्रतिके अक्षरोका ठीक ज्ञान मालूम नही होता जिसपरसे प्रतिलिपि की गई है। इसीसे इसमे अ-आ, इ-ई, उ-ऊ जैसे मात्रादि के मोटे अशुद्ध पाठ भी पाये जाते हैं, जिन्हे तुलनामे प्राय. छोड दिया गया है। द-ध तथा द-थ का भेद भी कही-कहीं नही रक्खा गया, कही 'द्ध' को 'ध' के रूपमे ही लिखा है। कही द्वित्व अक्षरको द्वित्व न रखकर अकेला रक्खा है, कही अकेले अक्षरको द्वित्व बना दिया है और कही 'म्न' जैसे द्वित्व अक्षर को 'न्म' का रूप दे दिया है। यह सब कुछ होते हुए भी मुद्रित (मु) प्रति की अपेक्षा कई महत्वके पाठ भी इसमे उपलब्ध हुए हैं। सिद्धान्तभवनकी इस प्रतिको तुलनाके अवसर पर 'सि' सज्ञा दी गई हैं। 'जु' प्रति मे इस प्रतिकी कुछ वहुत मोटी अशुद्धियोको कही-कही सुधारा गया है और कही-कही नई अशुद्धियाँ भी की गई हैं।

जयपुरके शास्त्रभडारोकी छान-बीन करने पर, पं० कस्तूरचन्द-जी कासलीवालको दिगम्बर जैन बडा मन्दिर तेरहपन्थीसे तत्त्वा-नुशासनकी एक प्रति मिली, जिसे उन्होने मिलते ही मेरे पास भेजनेकी कृपा की। इसके वाद दो प्रतियाँ जयपुर-स्थित आमेरके भडारसे भी प्राप्त हुई, जिनमेसे उन्होंने एक जीर्ण-शीर्ण प्रतिको मेरे पास भेज दिया, दूसरीको अशुद्धप्राय समझ कर नही भेजा। इस कृपाके लिये

मैं उनका बहुत आभारी हूँ। जयपुरकी उक्त प्रतिको 'ज' और आमेर-की प्रतिको 'मे' सज्ञा दी गई है। 'ज' प्रतिकी पत्र सख्या १४ है। प्रथम पत्रका पूर्व पृष्ठ खाली है। अन्तिम पृष्ठके द्वितीय पृष्ठ पर केवल दो पक्तियाँ हैं—शेष भाग खाली है। वे दोनो पक्तियाँ इस प्रकार हैं —

(प्र० प०) यायास्तु नः ॥ ५६ इति तत्त्वानुशासनं समाप्तमिति

॥ छ ॥ ॥ छ ॥ सवतु १५६० (द्वि० पं०) वर्षे आषाढ वदि ७

पत्रकी लम्बाई १०½ इच और चौडाई ४¾ इचके करीब है। पक्तियोका प्रति-पृष्ठ कोई एक क्रम नही है। प्रथम पत्रके द्वितीय पृष्ठ पर १२, दूसरे पत्रके दोनो पृष्ठो पर १०-१० पक्तियाँ हैं। शेष पत्रो-के पृष्ठो पर ११-११ तथा १२-१२ और कुछ पर १३ पक्तियाँ भी है। प्रति जीर्ण तथा पतले कागज पर है, जिससे एक तरफके अक्षर दूसरी तरफ कुछ छनेसे मालूम होते हैं। पक्तियोका एक समान क्रम न रहने-से ऊपर-नीचेका हाशिया भी छोटा-वडा हो गया है। लिपि साधारण है। लिपि-काल अन्तकी दोनों पक्तियोके अनुसार आषाढ वदि ७ सवत् १५६० है। अन्तका पत्र कुछ टूट गया—फट गया तथा अतीव जीर्ण-शीर्ण स्थितिमे है। इस प्रतिका मुद्रित (मु) प्रतिसे मिलान करनेपर जो महत्व-अमहत्वके पाठ-भेद उपलब्ध हुए हैं, उन्हें नोट कर लिया गया है। साधारण व-ब, स-श तथा मात्रा आदिके मोटे अशुद्ध पाठ-भेदो-को प्राय' छोड दिया है, जो बहुत हैं। यह प्रति साधारण तथा अशुद्ध होते हुए भी, इसमें भी उक्त बम्बईकी मुद्रित (मु) प्रतिके अशुद्ध पाठो-के स्थान पर कितने ही महत्वके शुद्ध पाठ उपलब्ध होते हैं, और इस लिये ग्रन्थके सशोधनमे इससे भी अच्छी मदद मिली है।

आमेर भण्डारकी उक्त 'मे' प्रतिकी पत्र-सख्या १३ है, जिनमेसे पहला और तीसरा पत्र नही है। पत्रकी लम्बाई १०½ इच और चौडाई प्राय ४⁵⁄₁₂ इच है। उपलब्ध प्रत्येक पृष्ठ पर यद्यपि १०-१० पक्तियाँ है परन्तु १२वें पत्रके द्वितीय पृष्ठ पर ११ पक्तियाँ हैं। प्रति अति जीर्ण-शीर्ण है, नीचेकी ओरका हाशिया प्राय. टूट-फट गया है, ऊपरका

हाशिया भी खराब हालतमे है और दीमक-भक्षणका भी सब पत्रो पर प्रभाव है। जिन अक्षरोके ऊपर रकार है वे द्वित्व हैं। लिखावट अच्छी है। दूसरे पत्रका प्रारम्भ "मिथ्याज्ञान तु तस्यैव सवित्वमशिश्रियत् ॥१२॥" इस १२वें पद्यके उत्तरार्धसे होता है और समाप्ति 'आर्त्तं रौद्र च दुर्ध्यान वर्ज-" इस ३४वें पद्यके प्रारभिक अशसे होती है। चौथे पत्रका प्रारम्भ "चितां स्मृति निरोध तु तस्यास्तत्रैव वर्त्तन ॥५७" इस पद्याशके साथ और समाप्ति 'सचितयन्ननुप्रे" इस ७९वें पद्यके प्रारम्भिक अंशके साथ होती है। इससे पहला और तीसरा पत्र जो गुम हैं, उनके ऊपरके ग्रन्थ-भागका सहज बोध हो जाता है। इस प्रतिमे दो पत्रो पर ७० का अक पड जानेसे ७९वें पद्यको ७८वाँ लिखा है, और इसीसे ग्रन्थके अन्तमे पद्य-सख्या २५८ दी है, जब कि वह २५९ दी जानी चाहिए थी। अन्त मे "इति तत्त्वानुशासनं समाप्त-मिति ॥छ॥" ऐसा लिख कर नीचे 'तत्त्वानुशासन' के अनन्तर टूट देकर "श्रीनागसेनविरचित" लिखा है, जो गलत है। यह प्रति ग्रन्थ-कर्त्ताके नामादिकी गलतियोके रूपमे प्राय. मुद्रित (मु) प्रतिके समान है। कही-कही गलतियोका जो सुधार है वह प्राय जयपुरकी उस आदर्श प्रतिसे मिलता-जुलता है जिस परसे सर्वप्रथम मैंने अपनी मुद्रित प्रति पर सुधार-सशोधनका कार्य किया था।

इन परिचित और सम्पादनमे उपयुक्त प्रतियोसे भिन्न दूसरी भी कुछ ऐसी हस्तलिखित प्रतियाँ इस तत्त्वानुशासनकी कतिपय शास्त्र-भडारोमे उपलब्ध जान पडी हैं, जो अभी तक अपने देखनेमे नही आई, जैसे (१) आमेरके शास्त्रभडारकी दूसरी प्रति, (२) व्यावरके ऐलक पन्नालाल-सरस्वती-भवनकी गुटकान्तर्गत प्रति, जिसका ६९वें पद्यकी व्याख्यामे कुछ उल्लेख भी किया गया है, (३) बम्बई-भूलेश्वरके ऐलक-पन्नालाल-सरस्वतीभवनकी प्रति नं० १६४३, (४) दिगम्बर भण्डार ईडरकी गुटका न० ८४ के अन्तर्गत प्रति, और (५) मूडबिद्रीके

चारुकीर्ति-भट्टारक-ज्ञानभडार (जैन मठ) की तीन प्रतियाँ न० ६५, ३८६, ५७५[1]। पिछली ५ प्रतियो का डा० वेलरणकर जिनरत्नकोश-से पता चला है। खोज करने पर दूसरे भी कुछ शास्त्रभडारोमे इस ग्रन्थकी अन्य प्रतियोके मिलनेकी सभावना है।

३. ग्रन्थकार . रामसेनाचार्य

इस तत्त्वानुशासन ग्रन्थके कर्ता रामसेन नामके विद्वान (आचार्य) हैं; जैसा कि ग्रन्थ-प्रशस्तिके निम्न पद्यसे जाना जाता है —

तेन प्रवुद्धधिषणेन गुरूपदेशमासाद्य सिद्धिसुख-सम्पदुपायभूतम्।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय श्रीरामसेन-विदुषा व्यरचि स्फुटा-
र्थम् ॥२५७॥

ये, गुरूपदेशको पाकर वुद्धिके विकासको प्राप्त हुए, रामसेन नाम-के विद्वान कौन हैं, इसका अतिसक्षिप्त परिचय ग्रन्थकारमहोदयने स्वय प्रशस्तिके पूर्व पद्यमे अपने गुरुवोके नामोका उल्लेख-पूर्वक दिया है, जो इस प्रकार है:—

श्रीवीरचन्द्र-शुभदेव-महेन्द्रदेवा
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयाऽमरश्च।
दीक्षागुरु पुनरजायत पुण्यमूर्ति
श्रीनागसेनमुनिरुद्घ-चरित्र-कीर्ति. ॥२५६॥

इस पद्यके पूर्वार्धमे शास्त्र-गुरुवो (विद्यागुरुवो) का उल्लेख है, जिनके नाम हैं वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव। उत्तरार्ध-मे दीक्षा-गुरुका उल्लेख है, जिनका नाम है 'नागसेन' मुनि और जिनके 'पुण्यमूर्ति' तथा 'उद्घचरित्रकीर्ति.' ये दो विशेषण दिये गए हैं। 'यस्य'

---

१ श्री प० के० भुजबली शास्त्री-द्वारा सकलित और सम्पादित 'कन्नड-प्रान्तीय ताडपत्र-ग्रन्थ-सूची' में मूडविद्रीके जैन मठकी इन प्रतियोंके नम्वर ३२०, ७०६ ७५५ दिये हैं और इनकी पत्रसख्या क्रमश ११, १४,५ वतलाई है। साथ ही पत्रोंके साइज तथा पक्तियों आदिकी भी सूचना की है।

पदके प्रयोगद्वारा, जिसका उत्तरवर्ती पद्य मे प्रयुक्त हुए 'तेन' पदके साथ गाढ सम्बन्ध है, ग्रथकारमहोदयने इन पाचोको अपना गुरु सूचित किया है अर्थात् यह व्यक्त किया है कि 'जिसके अमुक-अमुक नामके चार विद्यागुरु और 'नागसेन' नामक मुनि दीक्षागुरु हैं उस रामसेनके द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया है।'

प्रथमतः प्रकाशित 'मु' प्रतिमे 'रामसेन' के स्थानपर फिरसे 'नागसेन' का नामोल्लेख है, जिससे ग्रन्थकारका वास्तविक नाम गडबड-मे पड गया। इतना ही नहीं, किन्तु दीक्षागुरुका नाम भी गडबडा गया और ग्रन्थकारके वास्तविक दीक्षागुरु ही इस ग्रथके कर्ता समझ लिये गये। माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमालाके मत्री प० नाथूरामजी प्रेमी-ने अपने 'सक्षिप्त ग्रथपरिचय'मे लिख दिया:—

' इस (तत्त्वानुशासन) ग्रथके कर्ता आचार्य नागसेन हैं। ग्रथके अन्तमे वे अपने दीक्षागुरुका नाम विजयदेव और विद्या-गुरुओका नाम वीरचन्द्रदेव, शुभचन्द्रदेव तथा महेन्द्रदेव बतलाते हैं।"

इस परिचयमे 'शुभदेव' के स्थान पर 'शुभचन्द्रदेव' नामकी कल्पना तो कर ली गई, परन्तु 'महेन्द्रदेव' के स्थानपर 'महेन्द्रचन्द्रदेव' नामकी कल्पना नही की गई। साथ ही 'यस्य' पद का 'तेन' पदके साथ जो गाढ संबध है उसका विचार छूट गया, जब तक इस गाढ सम्बन्धको हटाकर कोई दूसरा सम्बन्ध किसी अन्य पदके द्वारा बीचमे स्थापित नही किया जाता तब तक 'नागसेन' को दीक्षागुरुके पदसे अलग नही किया जा सकता। नागसेनको ही ग्रन्थकार मान लेनेसे दीक्षागुरुके लिये जो 'पुण्यमूर्ति' और 'उद्घचरित्रकीर्ति' ये दो विशेषण प्रयुक्त हुए थे वे स्वय ग्रथकारके लिये लागू हो जाते है। ग्रथकार स्वय गुरुको गौणकर अपने लिये उन विशेषणोका प्रयोग करे, यह कुछ सगत मालूम नही होता। यह सब सोचकर मुझे इस ग्रन्थके घोषित कर्ताके नामके सम्बन्ध-में सन्देह हो गया और इसलिये ग्रन्थकी दूसरी प्रतियोको प्राप्त करने-की इच्छा और भी बलवती हो उठी।

जब 'आ' और 'जु' सज्ञक प्रतियाँ मुझे मिल गईं और उनसे यह स्पष्ट जान पडा कि ग्रथकारका नाम 'रामसेन' है—'नागसेन' नही। साथ ही प० आशाधरजीके एक नाम-पूर्वक उद्धरणसे उसकी पुष्टि भी हो गई, तब मैंने सन् १६२० मे 'तत्त्वानुशासनके कर्ता' नामसे एक लेख लिखा, जो जैनहितैषी भाग १२ के सयुक्ताङ्क १०-११ मे पृ० ३१३ पर प्रकाशित हुआ है। इस लेखमे दोनो प्रतियोके पाठको स्पष्ट करते हुए लिखा था—

"इस पाठके अनुसार दोनों (प्रशस्ति) पद्योका अर्थ यह होता है कि—श्रीवीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव ये चारो जिसके शास्त्रगुरु अर्थात् विद्यागुरु थे और फिर पुण्यमूर्ति तथा उद्यचरित्रकीर्ति ऐसे श्रीनागसेनमुनि जिसके दीक्षागुरु हुए उस प्रवुद्धवुद्धि श्रीरामसेन नामके विद्वान्ने, गुरूपदेशको पाकर, यह सिद्धि-सुख-सपदाका उपाय-भूत और स्फुट अर्थको लिये हुए 'तत्त्वानुशासन' नामका ग्रथ जगतके हितके लिये रचा है।' जहाँ तक हम समझते हैं यह अर्थ दोनो पद्यो-की शब्द-रचना-परसे बहुत कुछ सीधा, सुसगत और प्राकृतिक मालूम होता है। विपरीत इसके, छपे हुए पाठको ज्यो-का-त्यो रखनेकी हालत-मे, 'नागसेन' की पुनरावृत्ति बहुत खटकती है। 'स' आदि शब्दोको ऊपरसे लगाकर पहले पद्य (२५६) का अर्थ करना होता है और विजय-देवको खीच-खाँचकर नागसेन-मुनिका दीक्षागुरु बनाना पडता है। इसलिये हमारी रायमे जयपुरादि प्रतियोका उपर्युक्त पाठ बहुत कुछ ठीक मालूम होता है और उसके अनुसार यह ग्रन्थ श्रीनागसेनमुनिका बनाया हुआ न होकर उनके दीक्षित-शिष्य श्रीरामसेन विद्वानका बनाया हुआ जान पडता है। प० आशाधरजी भी अपने अनगारधर्मामृतके ९ वें अध्याय मे, इस ग्रथका एक पद्य 'रामसेन' के नामसे उद्धृत करते हैं। वह उद्धरण इस प्रकार है —

'तथा श्रीमद्रामसेनपूज्यैरप्यवाचि—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ता ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-सपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥" (८१)

इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि यह ग्रन्थ 'नागसेन'का नही, किन्तु 'रामसेन' का बनाया हुआ है। 'नाग' और 'राम' ये दोनो शब्द लिखनेमें बहुत कुछ मिलते-जुलतेसे मालूम होते हैं। हस्तलिखित ग्रन्थोके पत्र वर्षा आदिके कारण अक्सर चिपट जाया करते हैं और उनको छुडानेमे किसी-किसी अक्षरका कुछ भाग उडकर उसकी आकृति बदल जाया करती है। ऐसी हालतमे यदि किसी लेखकने 'राम' के स्थानपर 'नाग' पढकर वैसा लिख दिया हो तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है। और यह भी सभव है कि पहले पद्यमे जो नागसेन लिखा था उसीके खयाल तथा सस्कारसे दूसरे पद्यमे भी नागसेन लिखा गया हो और इस तरहपर लेखकसे भूल हुई हो। तत्त्वानुशासनकी इस छपी हुई प्रतिमे वैसे भी पचासो अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। यदि बम्बईके मन्दिरकी वह प्रति बिल्कुल इसीके मुताबिक है तो कहना होगा कि वह प्रति बहुत कुछ अशुद्ध है और उसमे ऐसी भूलका हो जाना कोई बडी बात नही है।"

इसके सिवाय, यह भी लिखा था कि "प० आशाधारजीने इन (रामसेन) के लिये बहुवचनान्त 'पूज्य' शब्दका प्रयोग किया है, जिससे ये कोई बडे आचार्य मालूम होते हैं। अब यह बात और भी स्पष्ट हो गई है। प० आशाधरजीने भगवती आराधना (मूलाराधना) की टीका-मे, इस ग्रन्थके कितने ही पद्योको उद्धृत करते हुए, एक स्थानपर (गा० १७०७ की टीका मे) "तत्र भवन्तो भगवद्रामसेनपादा" इस वाक्यके साथ तत्त्वानुशासनके 'यथोक्तलक्षणो ध्याता' से लेकर 'स्वरूप पररूप वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये' तक सात पद्य उद्धृत किये हैं, जो ग्रथमे न० ८६ से ९५ तक पाये जाते हैं, और इस तरह गथकार रामसेनके वचनोको भगवान रामसेनके वचन सूचित करके उन्हें भगवज्जिन-सेनाचार्य-जैसा गौरव प्रदान किया है। अत. वे एक बहुत ही बडे आचार्य थे, इस कथनमें अब कोई सन्देह नही रहता। प्रस्तुत कृति भी उनके

इसी महत्वको सूचित करती है। अनेकानेक प्रतियोंके सामने आ जाने और उनमे ग्रथकारका नाम रामसेन मिलनेसे ग्रन्थके रामसेन-कृत होने-मे भी अब विवाद के लिये कोई स्थान नही रहता। खेदका विषय है कि प० नाथूरामजी प्रेमीने मेरे उक्त लेख-परमे ग्रन्थकर्ताके नामकी गलतीको मान तो लिया था, परन्तु वे उसके सुधारकी कोई सूचना मुद्रित प्रतियोमे न लगा सके। इसलिये गलती बराबर रूढ होती चली गई—किसी भी अनुवादके अवसर पर उसका सुधार नही हुआ—और उसने कितने ही पाठकोको भ्रमके चक्करमे डाला तथा गलत उल्लेखोको अवसर दिया है !! हालमे एक गलत उल्लेखकी सूचना पाकर श्री डा० ए० एन० उपाध्यायने अपने ५ मई १९६१ के पत्रमे ठीक ही लिखा है कि 'जब तक मुद्रित मूल ग्रथ पर नागसेनका नाम (ग्रथकारके रूपमें) चल रहा है तब तक ऐसी गलतियाँ (गलत उल्लेख) अनिवार्य (inevitable) हैं।

४. रामसेनाचार्यका परिचय और समय

ग्रन्थकारमहोदय श्रीरामसेनाचार्यने, ग्रन्थ-प्रशस्तिमे, अपना जो सक्षिप्त परिचय पाँच गुरुओके नामो और अपने दो साधारण विशेपणो-के उल्लेख-रूपमे दिया है उससे अधिक दूसरा कोई विशेप एव स्पष्ट परिचय अभी तक ऐसा उपलब्ध नही हो सका जिससे यह मालूम होता कि वे किस सघ, गण या गच्छके आचार्य थे, कौन-कौन उनके शिष्य-प्रशिष्य हुए हैं और उन्होने किन दूसरे ग्रन्थोका निर्माण तथा कार्योंका सम्पादन किया है। रामसेन नामके अनेक आचार्य, भट्टारक तथा विद्वान हो गये हैं, उनमेसे किसके साथ इस ग्रन्थके कर्तृत्वका सम्बन्ध जोडा जाय अथवा किसको इसका कर्ता माना जाय, यह कार्य सहज नही है; क्योकि किसी भी ग्रन्थ, प्रशस्ति, पट्टावली या शिलालेख-मे अभी तक ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख देखनेमे नही आया जिसमे

नागसेनके शिष्यरूपसे रामसेनका उल्लेख करके रामसेनकी शिष्य-परम्पराका उल्लेख किया गया हो। पट्टावलियोमे प्राय: पट्ट-शिष्यो-का उल्लेख रहता है। हो सकता है कि रामसेन नागसेनके पट्टशिष्य न हो, उन्होने नागसेनको अपना 'पट्टगुरु' लिखा भी नही—साफ तौर पर 'दीक्षागुरु' लिखा है। एक दीक्षागुरुके अनेक दीक्षित-शिष्य हो सकते हैं और हुए हैं, परन्तु पट्ट-शिष्य एक ही होता है। इसीसे पट्टा-वलियोमे एक दीक्षागुरुके सब शिष्योका नाम प्राय नही रहता, पट्टशिष्यको छोडकर दूसरे शिष्योकी परम्पराएँ अलगसे चला करती हैं, और इस तरह एक पट्टरूपी वटवृक्षकी कुछ शाखाएँ वृक्षसे अलग होकर अन्यत्रारोपित हुई अलगसे ही फलने-फूलने लगती है—उनके मूलका पता चलना तब बहुधा कठिन हो जाता है। सभवत. यही स्थिति रामसेनकी जान पडती है, वे किसीके पट्टशिष्य न होकर स्वयं पट्टप्रस्थायक तथा अन्वयकारक हुए हो ऐसा मालूम होता हैं और शायद इसी लिये अनेकोने अपनेको उनके (रामसेनके) अन्वय (वश)में होना तो लिखा है परन्तु उनके दीक्षागुरुका नाम साथमे नही दिया। इससे वे ये ही ग्रन्थकार रामसेन हैं या कोई दूसरे रामसेन, इसको पह-चाननेमे बडी कठिनाई उपस्थित हो रही है। अस्तु।

ऐसी स्थितिमें हमे सबसे पहले ग्रन्थके निर्माणकालका पता चलानेकी जरूरत है, जिससे उस समयके समीप जो कोई रामसेन नामके महान् विद्वान् हुए हो उनके साथ इस ग्रन्थके कर्तृत्वका सम्बन्ध जोडा जा सके। इसके लिये ग्रन्थके अन्त परीक्षण और बहिः-परीक्षण दोनोकी जरूरत है। अन्त परीक्षणके द्वारा यह मालूम किया जाना चाहिये कि इस ग्रन्थमे पूर्ववर्ती किस-किस ग्रन्थ या ग्रन्थकारादिका नामोल्लेख है और किस ग्रन्थके किन वाक्योको अपनाया गया है अथवा ग्रन्थमे कहाँ उनका प्रभाव लक्षित है। और बहिःपरीक्षणके द्वारा यह खोजनेकी जरूरत है कि उत्तरवर्ती किस-किस ग्रन्थमे इस

ग्रन्थके वाक्यादिको ग्रन्थ-नाम-सहित या विना नामके ही अपनाया गया अथवा उद्धृत किया गया है।

उक्त परीक्षणसे पहिले मैं यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि ग्रन्थमे ग्रन्थकारने अपने चार विद्या-गुरुओं-के जो नाम वीरचन्द, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयामर (विजयदेव)-के रूपमे दिये हैं उनका कोई परिचय साथमे नही दिया—किसी खास विशेषणका भी उनके साथमें प्रयोग नही किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व तथा समयका कुछ पता चलकर उनके समयका निर्धार होता और उससे ग्रन्थकारके समयको निश्चित किया जाता, क्योंकि इन नामोके भी दूसरे विद्वान हुए हैं, और इसलिए नाम-मात्रके उल्लेखसे उनमेंसे किसीका ग्रन्थकारके विद्यागुरुके रूप-मे सहज ही ग्रहण नही किया जा सकता। दीक्षागुरु नागसेनके नाम-के साथ दो विशेषण 'पुण्यमूर्ति' और 'उद्घचरित्रकीर्ति' जरूर दिये हैं, इन विशेषणोपरसे उनके महान् व्यक्तित्वका पता तो चलता है, परन्तु उन्हे पूरी तौरसे पहचाना नही जा सकता, क्योंकि नागसेन नामके भी कई विद्वान् आचार्य हो गए हैं, जिनमेसे कुछका परिचय इस प्रकार है:—

(१) वे नागसेन जो दश-पूर्वके पाठी थे और जिनका समय विक्रमसंवत्से कोई २५० वर्ष पूर्वका है।

(२) वे नागसेन गुरु जो ऋषभसेनगुरुके शिष्य थे, जिन्होंने सन्यासविधिसे श्रवणबेलगोलमे चन्द्रगिरिपर्वत पर देह-त्याग किया था, जिसका श्रवणबेलगोलके शिलालेख न० १४ (३४) मे उल्लेख है और उसमे उनकी महत्त्वके सात विशेषणो-द्वारा स्तुतिको लिए हुए निम्न श्लोक भी दिया हुआ है—

नागसेनमनघं गुणाधिकं नागनायकजितारिमडल।
राजपूज्यममलश्रियास्पद कामदं हतमद नमाम्यह ॥

इस शिलालेखका समय शक स० ६२२ (वि० स० ७५७) के लगभग अनुमान किया गया है। परन्तु किस आधार पर, यह कुछ बताया नही गया।

(३) वे नागसेन जो चामुण्डरायके साक्षात् गुरु अजितसेनके प्रगुरु थे अर्थात् अजितसेनके गुरु आर्यसेन(आर्यनन्दी)के गुरु थे और जिनका चामुण्डराय-पुराणमे आचार्य कुमारसेनके बाद उल्लेख है। चामुण्डरायपुराण का निर्माण शक स० ६०० (वि० स० १०३५) में हुआ है, और इसलिये इन नागसेनका समय वि० स० १००० से कुछ पहलेका समझना चाहिये[1]।

(४) वे नागसेन जिन्हे राणी अक्कादेवीने 'गोणदवेडगि-जिनालयके लिये ई० सन् १०४७ (वि० स० ११०४) मे भूमिका दान दिया था और जो मूलसघ. सेनगण तथा होगरि (पोगरि) गच्छके विद्वान् आचार्य थे[2]।

(५) वे नागसेन जो नन्दीतट-गच्छकी गुर्वावली[3] के अनुसार गगसेनके उत्तरवर्ती और सिद्धान्तसेन तथा गोपसेनके पूर्ववर्ती हुए हैं। जिनका समय भी १०वी शताब्दीका मध्य काल जान पडता है। अथवा वे नागसेन जो उक्त गुर्वावलीके अनुसार गोपसेनके उत्तरवर्ती जान पडते हैं और जिनके नामका पाठ कुछ अशुद्ध हो रहा है। अत ग्रन्थकारके गुरुओका परिचयादि भी ग्रन्थके समय-निर्णय पर अवलम्बित है।

---

१ देखो पी० बी देसाईका 'जैनिज्म इन साउथ इडिया' पृ० १३४-३७ तथा डा० ए० एन० उपाध्येका 'चामुडराय एँड हिज लिटरेरी प्रिडिसेसर्स' नामक अग्रेजी निबन्ध।

२, देखो, 'जैनिज्म इन साउथ इडिया' पृ० १०६।

३, यह गुर्वावली 'अनेकान्त' वर्ष १५ की गत ५वीं किरणमें प्रकाशित हो चुकी है।

५. समयकी पूर्वोत्तर-सीमाएँ और उसका निश्चय

ग्रन्त परीक्षणसे मालूम होता है कि इस ग्रन्थपर श्रीकुन्दकुन्दचार्यके पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार तथा मोक्षप्राभृत-जैसे ग्रन्थोका, उमास्वामी(ति)के तत्त्वार्थसूत्रका, स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्ड, स्वयभूस्तोत्र, देवागम तथा युक्त्यनुशासनका, श्रीपूज्यपादाचार्यकी सर्वार्थसिद्धि, समाधितत्र, इष्टोपदेश तथा सिद्धभक्ति आदिका, अकलकदेवके तत्त्वार्थराजवार्त्तिकका और भगवज्जिनसेनके आर्षग्रन्थ (महापुराण) का प्रभाव है। इन ग्रन्थोंके वाक्योको कही शब्दश कही अर्थश कही उभयरूपसे और कही कुछ परिवर्तनके साथ अपनाया गया है, जैसा कि ग्रन्थके निम्न पद्यो और उनकी तुलनात्मक-टिप्पणियो तथा व्याख्याओसे जाना जाता है —

पद्य न० १८, १६, ३०, ३१ (पच स्तिकाय); ३०, ५२ (समयसार-प्रवचनसार, ८२ (मोक्षप्राभृत), १४७ (नियमसार)। ५५, ५६, ६८, १०० तत्त्वार्थसूत्र)। ५१ (रत्नकरण्ड); १५४ (देवागम); २४८ (स्वयभू०); २४६ (देवागम, युक्त्यनु०)। ५१, ५६, ५६, १११, २२२ (सर्वार्थसिद्धि), २३३, २३४ (सिद्धभक्ति)। ५७, ५६, ६२-६४, ६६ ६७, ७०, ७२ (तत्त्वार्थवा०)। २, ३६, ५०, ५४, ६१, ७०, ७२, ८३, ८४, ६०, ६२-६४, ६८, १०१, १२६, १८०, २२२, २३३, २४७ (आर्ष)।

जिन ग्रन्थोके प्रभावकी ऊपर सूचना की गई है उनमे 'आर्ष' नामका महापुराण सबके बादकी कृति है और वह दो भागोमें विभक्त है—प्रथम भागका नाम 'आदिपुराण' और द्वितीय भागका नाम 'उत्तर-पुराण' है। प्रथमभागके ४७ पर्वोंमेसे ४२ पर्वोंकी रचना भगवज्जिनसेनने और शेष पर्वोंकी उत्तरपुराण-सहित रचना उनके प्रधान शिष्य गुणभद्राचार्यने की है। इस आर्ष ग्रन्थका २१वाँ पर्व एकमात्र ध्यान-विषयसे ही सम्बन्ध रखता है और उसका इस ग्रन्थ पर सबसे अधिक

प्रभाव है। एक स्थान पर (पद्य ५४) 'धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानत.' इस वाक्यके द्वारा 'आर्ष' नामका स्पष्ट उल्लेख भी किया गया है, और कही-कही 'आगम'के नामसे ही इसके वाक्योको उल्लेखित किया गया है,जैसा कि ८४वे पद्यमे प्रयुक्त 'वज्रकायस्य ध्यान-मित्यागमे वच:'इस वाक्यकी व्याख्यासे प्रकट है। जिनसेनाचार्यने'जयधवला' टीकाको, जिसे उनके गुरु वीरसेनाचार्य अधूरी छोड गए थे, शक सवत् ७५६ मे पूरा किया है। सभवत उसके वाद ही उन्होने महापुराणके कार्यको अपने हाथमे लिया था, जिसे वे अधूरा छोडकर स्वर्गवासी हो गए। महापुराणके जिनसेन-रचित भागकी श्लोक सख्या १०३८० है, जिनकी रचनामे वृद्धावस्थाके कारण ५-६ वर्षसे कमका समय न लगा होगा, ऐसा प० नाथूरामजी प्रेमीने, अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' मे, जो अनुमान किया है वह प्राय ठीक जान पड़ता है, और इस तरह जिनसेनका स्वर्गवास-समय शक स० ७६५ (वि० स० ९००) के लगभग ठहरता है। यही समय विक्रमकी ९वीं शताब्दीका अन्तिम भाग प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माणकी पूर्व-सीमा है। इससे पहले इसका निर्माण नही बनता।

प० आशाधर विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान हैं, उन्होने इष्टोपदेश आदि टीकाओमे तत्त्वानुशासनके कितने ही पद्यो-को ग्रन्थके नाम-सहित भी उद्धृत किया है, किसी-किसी टीकामे उद्-धृत पद्योके साथ रामसेनाचार्यका नाम भी दिया है। इष्टोपदेशकी टीकाके अपने द्वारा रचे जानेका उल्लेख उन्होंने 'जिनयज्ञकल्प'की प्रशस्तिमे किया है, जो विक्रम स० १२८५मे लिखी गई है। इससे तत्त्वानुशासन वि० स० १२८५ से पूर्व विद्यमान था, उसके बादकी वह रचना नही है, इतना सुनिश्चित हो जाता है। और यही उसके निर्माण-समयकी उत्तर-सीमा है।

अब देखना यह है कि पूर्व-सीमाके समय स० ९०० और उत्तर-सीमा-समय स० १२८५ के मध्यवर्ती इस ३८४ वर्षके लम्बे समयको

किधरसे कितना सकुचित कर उसे ग्रन्थके वस्तुत निर्माण-कालके समीप लाया जा सकता है। इसके लिये सबसे पहले उत्तरपुराणको लिया जाता है, जो आर्षमहापुराणका ही एक अग है और जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्राचार्य-द्वारा रचित हैं। इस पुराण (पर्व ६४) मे, कुन्थुनाथचरितको समाप्त करते हुए, एक पद्य निम्न प्रकारसे दिया हुआ है :—

देहज्योतिषि यस्य शक्रसहिताः सर्वेपि मग्ना सुरा.
ज्ञानज्योतिषि पचतत्त्वसहितं मग्न नभश्चाऽखिलम्।
लक्ष्मीधामदधद्विधूतविततध्वान्त' स धामद्वय-
पथान कथयत्वनन्तगुणभृत्कुन्थुर्भवान्तस्य व ॥५५॥

इस पद्यके साथ तत्त्वानुशासनके अन्तिम पद्यको अवलोकन कीजिये, जो इस प्रकार है —

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगत् दुग्धाम्बुराशाविव
ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामो भूर्भुव स्वस्त्रयी।
शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासन्त्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायाऽस्तु न ॥२५६॥

इस पद्यमे उत्तरपुराणके पद्यसे जहाँ महत्वकी विशेषताका दर्शन होता है वहाँ उसके आशिक अनुसरण का भी पता चलता है और यह साफ मालूम होता है कि तत्त्वानुशासनकारके सामने अथवा उसकी स्मृतिमे इस पद्यको रचते समय, उत्तरपुराणका उक्त पद्य रहा है। इसी प्रकार एक अनुसरण ग्रन्थके १४८ वें पद्यमे गुणभद्राचार्य-प्रणीत आत्मानुशासनके २४३ वें पद्यका भी दृष्टिगोचर होता है। दोनो पद्य इस प्रकार हैं :—

मामन्यमन्यं मा मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाऽहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥ (आत्मानु०)
नाऽन्योऽस्मि नाऽहमस्त्यन्यो नाऽन्यस्याऽह न मे पर।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाऽहमन्योऽन्यस्याऽहमेव मे ॥ (तत्त्वानु०)

इससे गुणभद्राचार्यका आत्मानुशासन भी ग्रन्थकारके सामने रहा है, यह स्पष्ट जाना जाता है। गुणभद्राचार्यका समय विक्रमकी १० वी शताब्दीके पूर्वार्ध तक पाया जाता है, क्योकि उत्तरपुराणके अन्तमे जो प्रशस्ति पद्य २८से ३७ तक गुणभद्राचार्यके प्रमुख शिष्य लोकसेनकृत लगी हुई है, उसमे उसका समय शक सं० ८२० (वि० स० ९५५) दिया है। यह समय ग्रन्थका रचना-काल न होकर उसके पूजोत्सवका काल है, जैसा कि प्रशस्तिके 'भव्यवर्यै प्राप्तेज्य सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् (३६)' इस वाक्यसे जाना जाता है। और यह पूजा-महोत्सव-काल ग्रन्थकी रचनासे अधिक बादका मालूम नही होता, जिसकी प्रेरणा स्वय ग्रन्थकार अपनी प्रशस्तिके २७ वें पद्यमे कर गए थे।[१] प्राय होता भी यही है कि यदि किसी महान् ग्रन्थकी रचनापर उसका पूजा-महोत्सव मनाया जाता है तो वह उसकी सुन्दर लिपि आदि-के कालको निकालकर अधिक समय बादका नही होता। यदि इस रचनाकालको पूजोत्सवके समयसे अधिक-से-अधिक पांच वर्ष पूर्व-का मान लिया जाय, जिसमे लिपिकालके साथ ग्रन्थकारका कुछ जीवन-काल भी शामिल हो सकता है, तो उक्त पुराणका यह रचनाकाल शक स० ८१५ (विक्रम स ९५०) के लगभग बैठता है। और इस तरह तत्त्वानुशासनके निर्माण-समयकी पूर्व-सीमा विक्रम स० ९०० के स्थान पर ९५० तक स्थिर हो जाती है—इससे पूर्वकी वह रचना नही है।

अब देखना यह है कि उत्तर-सीमा जो वि० स० १२८५ है उसे पीछे-की ओर कहाँ तक ले जाया जा सकता है। बाह्य-परीक्षणसे प० आशा-धरजीके पूर्ववर्ती कुछ ग्रन्थ ऐसे मालूम पडे हैं जिनमे तत्त्वानुशासन-के पद्योको ग्रन्थके नामसहित भी उद्धृत किया गया है, कुछ ग्रन्थोमे ग्रन्थनामके विना ही तत्त्वानुशासनके पद्य-वाक्योको अपनाया गया है और कुछ ग्रन्थ ऐसे भी जान पड़े हैं जिनमे तत्त्वानुशासनके पद्य-

---

१ तदेतदेव व्याख्येय श्रव्य भव्यैर्निरन्तरम्।
चिन्त्य पूज्य मुदा लेख्य लेखनीय च भाक्तिकै ॥२७॥

वाक्योको थोडा-वहुत परिवर्तन करके या अनुवादित करके रक्खा गया है अथवा जिनपर तत्त्वानुशासनका प्रभाव लक्षित होता है। यहाँ उन सव-के कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं—(१) पचास्तिकाय गाथा १४६ की तात्पर्यवृत्तिमे जयसेनाचार्यने "तथा चोक्तं तत्त्वानुशासन-ध्यानग्रन्थे" इस वाक्यके साथ "चरितारो न सन्त्यद्य यथाख्यातस्य सम्प्रति" इत्यादि पद्य न० ८६, और "तदप्युक्त तत्रैव तत्त्वानुशसने" इस वाक्य-के साथ 'यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वच' इत्यादि पद्य न० ८४ उद्घृत किया है। तृतीय महाधिकारकी समाप्तिके बादकी वृत्तिमे भी 'ध्याता ध्यानं फल ध्येय' तथा 'गुप्तेन्द्रियमना ध्याता' इन पद्योंको उद्घृत करने के अनन्तर लिखा है—"इत्यादि तत्वानुशासन-ध्यानग्रन्था-दौ कथितमार्गेण जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिधा ध्यातारो ध्यानानि च भवन्ति।"

(२) परमात्मप्रकाशके द्वितीय अधिकारके ३६ वें पद्यकी टीकामें ब्रह्मदेवने "तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने ध्यानग्रन्थे" इस वाक्यके साथ 'यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः' इत्यादि पद्य न० ८४ और 'तथा चोक्त तत्रेदम' इस वाक्यके साथ 'चरितारो न सन्त्यद्य यथाख्या-तस्य साम्प्रतम्' इत्यादि पद्य न० ८६ उद्घृत किया है। द्रव्यसग्रह गाथा ५७ की टीकामे भी ब्रह्मदेवने 'तथैव तत्त्वानुशासनग्रन्थे चोक्तं' इस वाक्य के साथ 'अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यान जिनोत्तमा.' इत्यादि पद्य न०८३ और 'तदप्युक्त तत्रैव तत्वानुशासने' इस वाक्यके साथ 'यत्पुन॰ र्वज्रकायस्य' इत्यादि पद्य न ८४ उद्घृत किया है।

(३) हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रमे कुछ पद्य ऐसे है जिनमे तत्त्वानु-शासनका अर्थसे ही नही किन्तु शब्दसे भी अनुसरण पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार है —

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम्।
एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वय-फल-प्रद ॥ (तत्त्वानु० १२७)

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम् ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥ (योगशा० १०-४०)
येन भावेन यद्रूप ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।

तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ (तत्त्वानु० १९१)
येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहक.[1] ।

तेन तन्मयता याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ (योगशा० ६-१४)

योगशास्त्रके जिन पद्योंके साथ यहाँ तुलना की गई है, वे ज्ञानार्णवमे भी प्रायः ज्यो-के-त्यो पाये जाते हैं, और भी कुछ पद्य ज्ञानार्णवमे ऐसे पाये जाते हैं जो पूर्णत. या आशिक रूपमे तत्त्वानुशासनसे उद्धृत अथवा तदनुकरणको लिए हुए जान पडते हैं और जिनकी सूचना यथास्थान पादटिप्पणियोमे की गई है। योगशास्त्र तथा ज्ञानार्णवके वर्तमान सस्करणोमे बहुतसे पद्य ऐसे उपलब्ध होते हैं, जो दोनोमे समान हैं या कुछ मिलते-जुलते हैं, और इसलिये एक ग्रन्थकारने दूसरेकी कृतिको अपनाया है इस बातको सूचित करते हैं। अनेक विद्वान दोनोमे ज्ञानार्णवको पूर्ववर्ती और कुछ योगशास्त्रको पूर्ववर्ती बतलाते हैं। अभी तक इस विवादका ठीक निर्णय नही हो पाया, और ज्ञानार्णवकी अनेक हस्तलिखित प्रतियोकी ऐसी स्थिति जान पडी कि उनमे कितने ही पद्य बादको 'उक्त च' आदि रूपसे शामिल होते रहे हैं, और इसलिए उनके आधारपर ग्रन्थके पूर्ववर्तित्वका या उत्तरवर्तित्वका कोई ठीक निर्णय उस वक्त तक नही किया जा सकता जब तक प्राचीन प्रतियो की खोज-द्वारा तुलनात्मक अध्ययनका कार्य होकर उसका मूलरूप स्थिर नही हो पाता। ऐसी स्थितिमे मैंने यहाँ ज्ञानार्णवके साथ तत्त्वानुशासनके तुलना-कार्यको जानबूझ कर छोड दिया है। और भी कुछ ग्रन्थोंके साथ तुलना-कार्यको छोड दिया है, जिनका समय सुनिर्णीत नही है

---

१ 'योगशास्त्रनु गुजराती भाषान्तर' सन् १८९९ के निर्णयसागरीय सस्करणमें 'यन्त्रव्यूहक' पाठ दिया हुआ है।

और जिनपर बहुत स्पष्ट रूपसे तत्त्वानुशासनका प्रभाव पाया जाता है, जैसे भास्करनन्दिका 'ध्यानस्तव', जो तत्त्वानुशासनके अनुकरणसे भरपूर है।

(४) नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेवके द्रव्यसंग्रह पर भी तत्त्वानुशासनका प्रभाव लक्षित होता है। द्रव्यसंग्रहकी ४७ वी गाथा तो तत्त्वानुशासनके ३३ वें पद्यके प्राय अनुवादरूपमे ही जान पडती है। दोनो पद्य और गाथा इस प्रकार हैं —

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यान सुधिय सदाऽप्यपास्याऽऽलस्यम् ॥३३॥

दुविह पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा।
तम्हा पयत्त चित्ता जूय झाण समब्भसह ॥४७॥

धर्मरत्नाकर (स० १०५५) के 'सामायिक-प्रतिमा-प्रपचन' नामक १५वें अवसरमे निम्न पद्यको ग्रन्थका अग बनाया गया है, जो तत्त्वानुशासनका १०७ वा पद्य है —

अकारादि-हकारान्ता मन्त्राः परमशक्तय.।
स्वमंडलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदा॰ ॥

इसके आगे 'मडलार्चन प्रसिद्ध' ऐसा लिख दिया है, जो कि पद्यमे प्रयुक्त हुये 'स्वमडलगता' पदसे सम्बन्धित सूचनाको लिये हुए है।

(६) अमितगति (द्वितीय) के उपासकाचारमे एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है —

अभ्यस्यमान बहुधा स्थिरत्व यथैति दुर्बोधमपीह शास्त्रम्।
नून तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यान सदाऽभ्यस्यतु मोक्तुकाम।"
१०-१११

ध्यान-विषयके अभ्यासकी प्रेरणाकरनेवाला यह पद्य तत्त्वानुशासनके निम्न पद्यसे प्रभावित और उसके अनुसरणको लिये हुए जान पडता है :—

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि ।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥८८॥

(६) पूर्वोक्त अमितगतिके दादागुरु अमितगति(प्रथम)-विरचित योगसारप्राभृतके ९वें अधिकारमे एक पद्य निम्न प्रकारसे उपलब्ध होता है —

येन येनैव भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥५१॥

यह पद्य तत्त्वानुशासनके उसी पद्य न० १९१ के साथ सादृश्य रखता और उसके अनुसरणको लिये हुए जान पडता है, जिसे ऊपर न० ३ मे योगशास्त्रके पद्यके साथ तुलना करते हुए उद्धृत किया गया है। हो सकता है कि हेमचन्द्राचार्यके सामने यह पद्य भी रहा हो और इसीपरसे उन्होंने 'सोपाधि स्फटिको यथा' के स्थानपर 'विश्वरूपो मणिर्यथा' इस वाक्यको अपनाया हो और यह उनका स्वतः का परिवर्तन न हो। एक ही आशयके इन तीनो पद्योकी स्थितिपर जब विचार किया जाता है तो ऐसा मालूम पडता है कि तत्त्वानुशासनका पद्य पहले, योगसारका तदनन्तर और योगशास्त्रका उसके भी बाद रचा गया अथवा अवतरित हुआ है।

तत्त्वानुशासनका एक पद्य इस प्रकार है :—

स्वरूपाऽवस्थिति पुसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाऽभावो नाऽप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ॥२३४॥

यह पद्य भी योगसार-कारके सामने रहा जान पडता है और उन्होंने इसके उत्तरार्धमे प्रयुक्त 'नाऽभाव,' 'नाप्यचैतन्य' 'न चैतन्यमनर्थक' इन तीन पदोको लेकर उनका कुछ स्पष्टीकरण अपने ग्रन्थमे प्रस्तुत किया है और वह ९ वें अधिकारके आठ पद्योमे है, जो इस प्रकार हैं —

दृष्टि-ज्ञानस्वभावस्तु सदाऽऽनन्दोस्ति निर्वृत. ।
न चैतन्य-स्वभावस्य नाशो नाशप्रसगत ॥१०॥

सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्य निरर्थकम् ।
स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचाराऽनुपपत्तितः ॥२॥
निरर्थकस्वभावत्वे ज्ञानभावानुषगत ।
न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मश्चेतनत्वाऽनुषगत ॥३॥
प्रकृतेश्चेतनत्व स्यादात्मत्व दुर्निवारणम् ।
ज्ञानात्मके न चैतन्यं नैरर्थक्यं न युज्यते ॥ ॥
नाऽभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते तत. ।
विद्यमानस्य भावस्य नाऽभावो युज्यते यतः ॥५॥
यथा चन्द्रे स्थिता कान्तिर्निर्मले निर्मला सदा ।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य मेघादिजनिताऽऽवृति ॥६॥
तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्विशदे विशदा सदा ।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य कर्माष्टककृताऽऽवृतिः ॥७॥
जीमूतापगमे चन्द्रे यथा स्फुटति चन्द्रिका ।
दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञप्तिरात्मनि ॥८॥

(८) निम्न पद्य देवसेनकी आलापपद्धतिके पर्यायाधिकारका अग बना हुआ है —

अनाद्यनिधने[1] द्रव्ये स्वपर्याया· प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥

यह पद्य तत्त्वानुशासनका ११२ वाँ पद्य है, जिसे आलापपद्धतिकार-ने अपने ग्रथमे अपनाया है ।

इस सब वाह्यपरीक्षणमे जिन ग्रन्थोका उपयोग हुआ है उनके समय-सम्बन्धको भी यहाँ सूचित कर देना आवश्यक जान पडता है, जिससे प्रस्तुत ग्रन्थके समयका ठीक प्रतिभास हो सके, और वह सक्षेप-में इस प्रकार है —

पचास्तिकायके टीकाकार जयसेन विक्रमकी १३वी शताब्दी-पूर्वार्धके विद्वान् हैं । उन्होने पचास्तिकाय-द्वितीय-गाथाकी टीकामें

१ 'तत्त्वानुशासनमें 'अनादिनिधने' पाठ है ।

आचारसारके 'गम्भीर मधुर मनोहरतर' तथा 'येनाज्ञानतमस्ततिविघटते' नामके दो पद्य उद्धृत किये हैं। आचारसार आचार्य वीरनन्दीकी कृति है, जिसपर उन्होने कनडीमे स्वोपज्ञ टीका लिखी है और वह वि० स १२१० मे लिख कर समाप्त हुई है। मूलग्रथको उससे कुछ ही वर्ष पहलेकी रचना समझना चाहिये। प्रवचनसारकी जयसेन-टीका पचास्तिकायकी टीकासे वाद वनी है, जैसा कि उसके 'पूर्वं पचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन सप्तभगी व्याख्याता' इस वाक्यसे प्रकट है। जयसेनकी इन प्रवचनसारादिकी टीकाओका वालचदकी कनडी टीकाओ पर प्रभाव है। जैसा कि डा० ए० एन० उपाध्यायने प्रवचनसार की प्रस्तावना (Introduction) पृ० १०४-६ मे व्यक्त किया है। साथ ही यह भी वतलाया है कि नयकीर्तिके शिष्य इन वालचन्द्रका समय मोटेरूपसे ईस्वी सन् ११७६ (स० १२२३) से १२३१ (स० १२८८) तक है, जिनमे पहला नयकीर्तिका मृत्युसवत् और दूसरा वालचन्दकी प्रेरणासे दिये गए एक दानशासनका लेखन-काल है। इससे जयसेनकी पचास्तिकाय-टीकाका समय विक्रम की १ वी शताब्दीका पूर्वार्घ निश्चित है।

योगशास्त्रको हेमचन्द्राचार्यने चौलुक्य राजा कुमारपालकी प्रार्थनासे रचा है और वह वि० स० १२०७ से १२२९ के मध्यवर्ती समयमे रचा गया है। स० १२२९ हेमचन्द्र और कुमारपाल दोनोके जीवनका अन्तिम काल है।

द्रव्यसग्रह-टीकाके प्रारम्भमे व्रह्मदेवने, मूलग्रथके निर्माणादिका सम्वन्ध व्यक्त करते हुए, उत्थानिकादिके रूपमे जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है —

"अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराज-भोजदेवाभिधान-कलिकालचक्रवर्ति-सम्वन्धिन. श्रीपाल-महामण्डलेश्वरस्य सम्वन्धिन्या-श्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रत-तीर्थंकर-चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्य-सवित्ति-

समुत्पन्न-सुखामृतरसा-स्वाद-विपरीत-नारकादिदु खभयभीतस्य परमात्म-भावनोत्पन्न-सुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्य-वरपुण्डरीकस्य भाण्डागा-राद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवै पूर्व षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसग्रह कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्-द्रव्यसग्रहस्याधिकार-शुद्धि-पूर्वकत्वेन वृत्ति प्रारभ्यते।"

इन पक्तियोमे यह बतलाया गया है कि 'द्रव्यसग्रह ग्रन्थ पहले २६ गाथाके लघुरूपमे नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेवके द्वारा 'सोम' नामक राज-श्रेष्ठिके निमित्त आश्रम नामक नगरके मुनिसुव्रतचैत्यालयमे रचा गया था, बादको विशेष तत्त्वके परिज्ञानार्थ उन्ही नेमिचन्द्रके द्वारा बृहद्द्रव्यसग्रहकी रचना हुई हैं, उस बृहद्द्रव्यसग्रहकी अधिकारोंके विभाजन-पूर्वक यह व्याख्या-वृत्ति (टीका) प्रारम्भ की जाती है।' साथ ही यह भी प्रकट किया है कि 'आश्रम नामका वह नगर उस समय धारा-धिपति भोजदेव नामक कलिकालचक्रवर्तिके सम्बन्धी श्रीपाल नामक महामण्डलेश्वर (राज्यके किसी प्रान्त-शासक) के अधिकारमे था। और वह 'सोम' नामका सेठ भोजदेवका राजश्रेष्ठि था भाण्डागार (कोष) आदि अनेक नियोगोका अधिकारी होनेके साथ-साथ शुद्धात्मद्रव्यकी सवित्तिसे उत्पन्न होनेवाले सुखामृत स्वादके विपरीत जो नारकादि दु ख हैं उनसे भयभीत तथा परमात्माकी भावनासे उत्पन्न होनेवाले सुधारसका पिपासु था और भेद-अभेदरूप रत्नत्रय (व्यवहार तथा निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) की भावनाका प्रेमी भव्यजन-श्रेष्ठ था।'

ब्रह्मदेवके उक्त घटना-निर्देश और उसकी लेखन-शैलीसे ऐसा मालूम पडता है कि ये सब घटनाएँ साक्षात् उनकी आँखोके सामने घटी हुई हैं—परमार राजा 'भोजदेव', उनके महामण्लेश्वर 'श्रीपाल' और उनके राजश्रेष्ठी सोम' तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव उनके समयमे मौजूद थे, और उनके समयमे ही लघु तथा बृहद् दोनो द्रव्यसग्रहोकी नेमिचन्द्र-

द्वारा रचना हुई है। ब्रह्मदेवने अपनी टीकामे भी दो-एक स्थानोपर "अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी" जैसे वाक्यो के द्वारा यह सूचित किया है कि 'सोम', नामका सेठ उनकी टीकाके समय भी मौजूद था और टीकाका कुछ अश उसके प्रश्न-विशेषसे सम्बन्ध रखता है। भोजदेवका राज्य-काल वि० स० १०७५ से ११०७ तक रहा है। और इसलिये ब्रह्मदेव-द्वारा अपने दोनो ही टीका-ग्रन्थोमे उल्लेखित तत्त्वानुशासनकी रचना इस भोजकाल अथवा विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके प्रथम चरण-से पूर्व हुई है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि श्री डा० ए० एन० उपाध्येजीने परमात्मप्रकाश ग्रन्थपर जो अग्रेजी प्रस्तावना ई० सन् १९३७ मे लिखी है, और जिसका हिन्दी-सार प० कैलाशचन्द्र-जी शास्त्रीके द्वारा लिखा जाकर उसके साथ प्रकाशित हुआ है, उसमे ब्रह्मदेवके उक्त घटना-निर्देशको समकालीन प्रमाणके रूपमे स्वीकार न करके नेमिचन्द्रका भोजदेवके समकालीन होना और द्रव्यसग्रहको सोमश्रेष्ठीके लिये पहले लघुरूपमे रचा जाना इन दोनोंको माननेसे इनकार किया है। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ उनके इस अस्वीकार तथा इनकारके उस समय तीन कारण रहे हैं—एक तो द्रव्यसग्रहको गोम्मट-सारके कर्त्ता नेमिचन्द्राचार्यकी कृति मानना, दूसरा ब्रह्मदेवको पचा-स्तिकायके टीकाकार जयसेनका उत्तरवर्ती तथा उनकी टीकासे प्रभावित मान लेना और तीसरा लघुद्रव्यसगहका उपलब्ध न होना। लघुद्रव्यसग्रह श्रीमहावीरजीके शास्त्रभडारसे जुलाई १९५३ में उपलब्ध हो चुका है और उसे मैंने अपने वक्तव्यके साथ अनेकान्त वर्ष १२ की ५वी किरण (अक्तूबर १९५३) मे प्रकाशित कर दिया है। और वह अलगसे भी बृहद्द्रव्यसग्रहके साथ सानुवाद छप गया है। उसकी अन्तिम गाथामे[1] श्रीनेमिचन्द्रगणीने 'सोमच्छलेण रइया' इस

---

१ वह गाथा इस प्रकार है —

"सोमच्छलेण रइया पयत्थलक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचन्देण ॥ २५ ॥

वाक्यके द्वारा उसका स्पष्टरूपसे 'सोम' के निमित्त रचा जाना सूचित किया है। इससे अब सोमश्रेष्ठीके निमित्त लघुद्रव्यसंग्रहका रचा जाना सन्देहका कोई विषय नही रहता। सोमका विशेष परिचय क्या है और उसके लिये किस नगर तथा स्थानमे इस ग्रन्थकी रचना हुई है यह सब ब्रह्मदेवके उक्त घटना-निर्देशसे सम्बन्ध रखता है। मूल घटना-के निःसन्देह हो जानेपर उत्तर-घटनाओपर सन्देहका कोई कारण-विशेष नही रहता। पचास्तिकाय प्रथम गाथाकी टीकामे जयसेनने ग्रन्थके निमित्तकी व्याख्या करते हुए स्वय उदाहरणके रूपमे द्रव्यसग्रह-टीका-के इस निमित्त-कथनकी बातको अपनाया है और लिखा है कि अन्यत्र द्रव्यसग्रहादिकमे सोमश्रेष्ठि आदि को निमित्त जानना चाहिये :—

"अथ प्राभृतग्रन्थे शिवकुमारमहाराजो निमित्त अन्यत्र द्रव्यसंग्रहादौ सोमश्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्य ।"

इससे जयसेनका ब्रह्मदेवकी उक्त निमित्त-कथनकी बातसे परिचित होना पाया जाता है और इससे जयसेन ब्रह्मदेवके उत्तरवर्ती ठहरते हैं, न कि पूर्ववर्ती। दोनोकी टीकाओमे कुछ वाक्यो तथा उद्धरणोके समान होने मात्रसे बिना किसी हेतुके एकको पूर्ववर्ती और दूसरेको उत्तरवर्ती नही कहा जा सकता।

अब रही प्रथम कारणकी बात, द्रव्यसग्रहके कर्त्ता वे नेमिचन्द्राचार्य नही हैं जो कि गोम्मटसारके कर्ता हैं। गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहलाते हैं और कर्मकाण्डकी एक गाथा (न० ३९७) मे उन्होने स्वय अपनेको 'चक्रवती' प्रकट किया भी है, जब कि बृहद्-द्रव्यसग्रहके कर्ता अपनेको 'मुनि' और 'तनुसुत्तधर' (अल्पश्रुतधर) सूचित करते हैं[1]। टीकाकार ब्रह्मदेवने भी उन्हे 'सिद्धान्तदेव' के रूपमे तो उल्लिखित किया है, 'सिद्धान्तचक्रवर्तीके रूपमे नही। इसके सिवाय,

---

[1] दव्वसगहमिण मुणिणाहा दोससचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयतु तणुसुत्तधरेण णेमिचदमुणिणा भणिय ज ॥

द्रव्यसग्रहके कर्ताने भावास्रवके भेदोमे 'प्रमाद'का भी वर्णन किया है और अविरतिके पाच तथा कषायके चार भेद ग्रहण किये हैं, परन्तु गोम्मट-सारके कर्ताने 'प्रमाद' को भावास्रवके भेदोंमे नही माना और अविरतिके (दूसरे ही प्रकारके) बारह तथा कषायके पच्चीस भेद स्वीकार किये हैं, जैसा कि दोनो ग्रन्थोके निम्न वाक्योसे प्रकट है—

मिच्छत्ताऽविरदि-पमाद-जोग-कोहादग्रोऽथ विण्णेया।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥
—द्रव्यस० गा० ३०

मिच्छत्तं अविरमण कसाय जोगा य आसवा होंति।
पण बारस पणवीसं पण्णरसा होंति तब्भेया ॥
—गोम्मटसार, कर्मकांड गा० ७८६

एक ही विषयपर दोनो ग्रन्थोके इन विभिन्न कथनोंसे ग्रन्थ-कर्त्ताओ-की विभिन्नताका बहुत कुछ बोध होता है। ऐसी स्थितिमे द्रव्यसग्रहके कर्त्ता गोम्मटसारके कर्त्तासे भिन्न कोई दूसरे ही नेमिचन्द्र होने चाहियें। जैनसमाजमे 'नेमिचन्द्र' नामके धारक अनेक विद्वान आचार्य हो गए हैं। एक नेमिचन्द्र ईसाकी ११ वी शताब्दीमे भी हुए हैं, जो वसुनन्दि सैद्धान्तिकके गुरु थे और जिन्हे वसुनन्दि-श्रावकाचारमे 'जिनागमरूपी वेला-तरगोंसे धूयमान और सम्पूर्ण जगतमे विख्यात' लिखा है। बहुत सभव है कि ये ही नेमिचन्द्र द्रव्यसग्रहके कर्त्ता हो। दोनो ग्रन्थोंके भिन्न कर्तृत्वके सम्बन्धमे ये सब बातें मैंने आजसे कोई ४५ वर्ष पहले ३ जनवरी १९१८ को, प्रोफेसर शरच्चन्द्र घोशाल एम० ए० बी० एल० सरस्वती-द्वारा सम्पादित द्रव्यसग्रहके अग्रेजी सस्करणकी समालोचनामे, प्रकट की थी, क्योंकि उस वक्त सबसे पहले प्रो० घोशालने ही अपनी प्रस्तावना (Introduction) में बिना किसी प्रबल आधार अथवा प्रमाणके गोम्मटसारके कर्त्ता नेमिचन्द्रको ही द्रव्यसग्रहका कर्ता मान कर ब्रह्मदेवके उक्त कथनको अस्वीकार किया था। मेरी यह समालोचना

उस समय जैनहितैषी (बडा साइज) भाग १३ के अक १२ में पृ० ५४१ से ५५० तक प्रकाशित हुई थी, जिसके विरोधमें उक्त प्रो० घोशाल अथवा दूसरे किसी विद्वानका कोई लेख मुझे आज तक देखनेको नही मिला। जान पडता है डा० ए० एन० उपाध्येजीके सामने परमात्मप्रकाश-की प्रस्तावना लिखते समय मेरी उक्त समालोचना नही रही है, रहती तो वे उस पर अपना विचार जरूर व्यक्त करते। अस्तु।

इस सब प्रासगिक कथनके बाद अब मैं फिरसे अपने प्रस्तुत विषय-को लेता हूँ।

'धर्मरत्नाकर' का रचनाकाल सवत् १०५५ है, जिसे प० परमानद जी शास्त्रीने वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह प्रथम-भागकी प्रस्तावनामे, बादको ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवन व्यावरकी प्रतिसे मालूम करके प्रकट किया है और जो ग्रन्थकी प्रशस्तिके अन्तिम पद्यके रूपमे इस प्रकार है —

बाणेन्द्रियव्योमसोम-मिते सवत्सरे शुभे (१०५५)।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यात सबलीकरहाटके ॥

धर्मरत्नाकर एक सग्रह ग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकारने अपने तथा दूसरे अनेक ग्रन्थोके पद्य-वाक्यरूप कुसुमोका सग्रह करके मालाकी तरह रचा है और इसकी सूचना भी उन्होने ग्रन्थके अन्तिम २०वें अवसर (पद्य ६०) मे "इत्येतैरुपनीतचित्ररचनैं स्वैरन्यदीयैरपि । मूतोवद्यगुणैस्तथापि रचिता मालेव सेय कृतिः।" इस वाक्यके द्वारा की है। इसमें तत्त्वानु-शासनके उक्त पद्यको अपनाये जानेसे तत्त्वानुशासन वि० स० १०५५ से बादकी कृति न होकर पूर्वकी ही कृति ठहरता है।

अमितगति-द्वितीयके उपासकाचारमे यद्यपि उसके निर्माणका समय नही दिया, परन्तु उनके दूसरे ग्रन्थो सुभाषितरत्नसदोह, धर्मपरीक्षा और पचसग्रहमे वह क्रमश वि० स० १०५०, १०७०, १०७३ दिया हुआ है, इससे वे विक्रमकी प्रायः ११वी शतीके तृतीय चरणके विद्वान्

हैं। उनके उपासकाचारमे तत्त्वानुशासनका अनुसरण होनेसे तत्त्वानुशासन वि० स० १०५० से पूर्वकी रचना हैं । इन अमितगतिके गुरु माधवसेन, माधवसेनके गुरु नेमिषेण और नेमिषेणके गुरु अमितगति प्रथम थे, जो कि देवसेन के शिष्य थे, ऐसा अमितगति (द्वितीय) ने अपने सुभाषितरत्नसन्दोह आदि ग्रन्थोकी प्रशस्तियोमे प्रकट किया है। इससे वे अमितगति द्वितीयसे दो पीढी पहलेके विद्वान हैं। उनका समय यदि ४०-५० वर्ष पहले तकका मान लिया जाय, जो अधिक नही है, तो वे विक्रमकी ११वी शतीके प्रथम चरणके विद्वान् ठहरते हैं । उन के योगसारमे तत्त्वानुशासनका उपयोग होनेसे तत्त्वानुशासन विक्रमकी ११वी शताब्दीके प्रथम चरणसे बादकी रचना नही, ऐसा स्थिर होता है ।

आलापपद्धति प्राय उन देवसेनकी कृति कही जाती है जिन्होने वि० स० ९९० मे 'दर्शनसार' को सकलित किया है । यदि यह कथन वस्तुत ठीक हो तो तत्त्वानुशासनकी रचना, जिसके 'अनादिनिधने द्रव्ये' पद्यको अपनाया गया है, उससे पहलेकी होनी चाहिये । परन्तु यह बात अभी सन्दिग्ध कोटिमे स्थित है, क्योकि यह ग्रन्थ न तो उक्त देवसेनके दर्शनसार, तत्त्वसार, आराधनासार जैसे दूसरे ग्रन्थोकी तरह प्राकृतमे है, न सारान्त है और न इसमे ग्रन्थकारने अपना नाम ही मूलके किसी पद्यमे दिया है। ग्रन्थके प्रारम्भमे "आलापपद्धतिर्वचनरचनाऽनुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते" इस वाक्य के द्वारा जिस नयचक्रके ऊपर इस ग्रन्थके रचनेका उल्लेख किया गया है वह कौन-सा नयचक्र है, इसका भी अभी तक कोई ठीक निर्णय नही हो सका। नयचक्रादिसग्रहमे प्राकृतका जो लघुनयचक्र प्रकाशित हुआ है, जिसे दर्शनसारके कर्ता-का कहा जाता है, उसके मूलमे भी ग्रन्थकारका नाम नही है । प्रत्युत इसके, एक दूसरा गद्य-पद्यात्मक नयचक्र भी है, जो ग्रन्थकारके नाम-सहित सस्कृत-भाषामे है और क्षुल्लक श्रीसिद्धसागरजीके द्वारा सम्पादित एव अनुवादित होकर सन् १९४९ में प्रकाशित हो चुका है, जिसे

दूसरे देवसेनाचार्यने व्योम पंडितके प्रतिबोधार्थ संस्कृतमें रचा है।

ये सब तथा और भी कुछ बातें पंडित श्रीमिलापचन्दजी कटारियाने 'देवसेनका नयचक्र' नामक अपने लेखमें प्रकट की है, जो १४ नवम्बर १९५७के जैनसन्देशमें प्रकाशित हुआ है। साथ ही उसी नयचक्रपर आलापपद्धतिके बननेकी अधिक संभावना व्यक्त की है, जो संस्कृतमें व्योम पंडितके लिये रचा गया है। संभावना अच्छी है; उक्त नयचक्रके 'नानास्वभावसंयुक्तं' और 'दुर्नयैकान्तमारूढा.' जैसे पद्य भी आलापपद्धतिमें उद्धृत पाये जाते हैं; परन्तु उक्त संस्कृत नयचक्रमें भी रचना-काल दिया हुआ नहीं है और न दूसरे प्रमाणोंसे उसे सिद्ध करके बतलाया गया है। ऐसी स्थितिमें आलापपद्धतिपर कर्तृत्व-विषयक सन्देहको छोडकर प्रकृत-विषयमें उससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। और आलापपद्धतिका कर्तृत्व संदिग्ध होने पर उसमें पाया जाने वाला तत्त्वानुशासनका उक्त पद्य अपने समय-निर्णयमें कोई सहायक नहीं होता। अत. तत्त्वानुशासनके समयकी जो उत्तर-सीमा ११वीं शताब्दीका प्रथम चरण ऊपर स्थिर की गई है वही स्थिर रहती है।

बाह्य-परीक्षणका उपसंहार

इस सारे बाह्य-परीक्षण-द्वारा तत्त्वानुशासनके समयकी उत्तर-सीमा पं० आशाधरजीके समय विक्रमकी १३वीं शताब्दीके उत्तरार्ध (सं० १२८५) से पीछे हटती-हटती ११वीं शताब्दीके प्राय. प्रारम्भ तक पहुँच जाती है और इस तरह पूर्व तथा उत्तर सीमाओंके मध्यमें कोई ५०-६० वर्षका ही अन्तराल अवशिष्ट रह जाता है। इस अन्तराल पर विचार-के लिये जब फिरसे अन्त.परीक्षणकी ओर ध्यान दिया जाता है तो मालूम होता है कि तत्त्वानुशासनपर अमृतचन्द्राचार्यके तत्त्वार्थसार तथा समयसारादिकी टीकाओंका भी प्रभाव है, उनकी युक्तिपुरस्सरकथ-नशैलीको अपनाया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि निश्चय और व्यव-

-हार दोनोनयोकी दृष्टिको उनके समान ही साथ लेकर चला गया है। इन दोनो अध्यात्मनयोकी दृष्टि यद्यपि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके समय-सारादि ग्रन्थोमे पहलेसे सुरक्षित चली आती है परन्तु अमृतचन्द्राचार्यने उसे खूब उजाला है। अमृतचन्द्राचार्यकी इस कथनशैली एव दृष्टिके अतिरिक्त तत्त्वानुशासनमे तात्त्विक तथा कुछ साहित्यिक अनुसरण भी पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं :—

(१) सप्त तत्त्वोका हेयोपादेय रूपमे विभागीकरण—

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनाऽऽस्रव स्मृतः ॥७॥
सवरो निर्जरा हेय-हान-हेतु-तयोदितौ।
हेय-प्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः ॥८॥ (तत्त्वार्थसार)

बन्धो निबन्धनं चाऽस्य हेयमित्युपदर्शितम्।
हेयस्याऽशेषदुःखस्य यस्माद्बीजमिदं द्वयम् ॥४॥
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम्।
उपादेय सुख यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥ (तत्त्वानुशासन)

(२) निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्गके दो भेद और उनमे साध्य-साधनता—

निश्चय-व्यवहाराभ्या मोक्षमार्गो द्विधा स्मृतः।
तत्राऽऽद्य साध्यरूप स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ (तत्त्वार्थसार)

मोक्षहेतु पुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः।
तत्राऽऽद्य साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ (तत्त्वानुशासन)

ये दोनों नमूने अपने-अपने विषयमे स्पष्ट हैं और उनके लिए विशेष कुछ कहनेकी जरूरत नही रहती।

अमृतचन्द्राचार्यका समय विक्रमकी १० वी शताब्दीका उत्तरार्ध है। पट्टावलीमे उनके पट्टारोहणका समय जो वि० स० ९६२ दिया है वह ठीक जान पड़ता है, क्योंकि स० १०५५ में बनकर समाप्त हुए 'धर्मरत्नाकर' ग्रन्थमें अमृतचन्द्राचार्यके 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' से कोई ६०

पद्य उद्धृत पाये जाते हैं, जिसकी सूचना प० परमानन्दजी शास्त्री-ने अनेकान्त वर्ष ६ की सयुक्त किरण ४-५ मे की है। इससे अमृतचन्द्र उक्त सवत् १०८५ से पूर्वकालिक विद्वान हैं यह सुनिश्चत है । उपासका-चारके कर्त्ता अमितगति (स० १०५०) से भी वे पूर्वके विद्वान् हैं, जिनके उपासकाचारमे पुरुषार्थसिद्ध्युपायका कितना ही अनुसरण पाया जाता है, जिसे पं० कैलाशचन्दजी शास्त्रीने जेनसन्देशके शोधाङ्क न० ५ मे प्रकट किया है । इन अमितगति (द्वितीय) से दो पीढ़ी पूर्व-के विद्वान् अमितगति प्रथमके योगसार प्राभृत पर भी अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसार तथा समयसारादिटीकाओका प्रभाव लक्षित होता है, जिनका समय अमितगति द्वितीयसे कोई ४०-५० वर्ष पूर्वका जान पडता है। ऐसी स्थितिमे अमृतचन्द्रसूरिका समय विक्रमकी १०वी शताब्दीका प्राय तृतीयचरण और तत्त्वानुशासनके कर्त्ता रामसेनाचार्यका समय १०वी शतीका प्राय चतुर्थचरण निश्चित होता है तथा अमितगति प्रथम विक्रम की ११ वी शताब्दीके प्राय [१] प्रथमचरणके विद्वान ठहरते हैं । ये तीनो ही अध्यात्म-विषयके प्राय सम-सामयिक प्रौढ विद्वान हुए हैं और तीनोकी कथनशैली एक दूसरेसे मिलती-जुलती है, जिनमे वृद्धताका श्रेय अमृतचन्द्राचार्यको प्राप्त जान पड़ता है ।

६. रामसेनके गुरु

इस तरह अन्तरग और वहिरग दोनो परीक्षणोसे जव तत्त्वानु-शासनकार रामसेनाचार्यका समय विक्रमकी १०वी शताव्दीका प्राय. [२] अन्तिमचरण निर्धारित होता है तव उनके तथा उनके गुरुवो-के परिचय–विषयमे विशेष कुछ खोजने-कहने आदिका अवसर प्राप्त होता है । अत. अव उसीका प्रयत्न किया जाता है —

१ २. 'प्राय ' शब्दका प्रयोग इसलिए किया गया है कि वह समय कुछ वर्ष पूर्व-का तथा कुछ बादका भी हो सकता है ।

श्रीसोमदेवसूरिका 'यशस्तिलक' ग्रन्थ शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) मे वनकर समाप्त हुआ है, जो कि एक वडा ही महत्वपूर्ण गद्य-पद्यात्मक चम्पू ग्रन्थ है। इसके वहुतसे पद्योंको जयसेनसूरिने अपने उक्त 'धर्मरत्नाकर' मे उद्घृत करके उन्हे ग्रन्थका अग वनाया है।

"दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान् पु सि करोति किम्।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयद ॥"

इस पद्यको तो उन्होंने 'तथा चोक्त कलिकालसर्वज्ञै' इस वाक्य-के साथ उद्घृत किया है, और इस तरह सोमदेवसूरिको 'कलिकाल-सर्वज्ञ' सूचित किया है, जिससे यह भी पता चलता है कि हेमचन्द्राचार्य-को श्वेताम्बरसमाजमे जो 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा जाता है उससे कोई २००वर्ष पहले दिगम्बरसमाजमे सोमदेवसूरिको 'कालिकालसर्वज्ञ' कहा जाता था। और इसका प्रधान श्रेय उनकी यशस्तिलक-जैसी असाधारण रचनाओंको ही प्राप्त जान पडता है। इस ग्रन्थमे आठवें आश्वासके अन्तर्गत 'ध्यानविधि' नामका एक कल्प (३९) है, जो निर्णयसागरीयसस्करणके उत्तरखण्डमे पृ० ३९१ से ४०० तक मुद्रित हुआ है। इस 'ध्यानविधि' कल्पका तत्त्वानुशासन पर कोई प्रभाव मालूम नही होता, और इससे यह जाना जाता है कि तत्त्वानुशासनके अवतार-समय यशस्तिलक वनकर समाप्त नही हुआ था—उसका निर्माण हो रहा था। अन्यथा उसका कुछ न कुछ प्रभाव जरूर पडता—कमसे कम धर्म्मध्यानके स्वरूप-कथनमे अन्यरूपोके साथ धर्मका वह रूप भी ग्रहण किया जाता जिसे सोमदेवने यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत-मे 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'के रूपमे प्रतिपादित किया है।

इससे तत्त्वानुशासनका जो समय विक्रमकी १० वी शताब्दी-का अन्तिमचरण ऊपर निश्चित किया गया है वह और पुष्ट होता है। साथ ही यह भी मालूम पडता है कि सोमदेवने नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमे जिन महेन्द्रदेव भट्टारकका अपनेको 'अनुज' (छोटा गुरु-भाई) लिखा है और जिन्हे 'वादीन्द्रकालानल' वतलाया है वे उन महेन्द्र-

देवसे भिन्न नही है जिनका रामसेनने अपने शास्त्र-गुरुवोमे उल्लेख किया है[1]। सम-सामयिक होनेसे उनकी सगति ठीक बैठ जाती है। महेन्द्र-देव नामके कोई दूसरे महाविद्वान् विक्रमकी १०वी शताब्दीमे ऐसे पाये भी नही जाते जो रामसेनके शास्त्रगुरुका स्थान ले सकें।

सोमदेवने यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत दोनो ग्रन्थोमे अपनेको भगवन्नेमिदेवका शिष्य लिखा है, जो कि यशोदेवके शिष्य थे, और उन्हें सकल-तार्किकोका चूडामणिरूप महावादी प्रकट किया है। इन भगवन्नेमिदेवके बहुत शिष्य थे, जिनमेसे एकशतक शिष्योके अवरज (अनुज) और एक शतकके पूर्वज सोमदेव थे। ऐसा परभनीके ताम्रशासन (दानपत्र) मे मालूम होता है[2], जो यशस्तिलक (शक ८८१) से सात वर्ष बाद शक स० ८८८ के गत होने पर वैशाखकी पूर्णिमाको लिखा गया है और जिसमे राष्ट्रकूट नरेश श्रीकृष्णराजदेवके महासामन्त

---

१. नीतिवाक्यामृतकी वह प्रशस्ति इस प्रकार है —

"इति सकल-तार्किक-चक्र-चूडामणि-चुम्बित-चरणस्य, पचपचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनी-पवित्रित-त्रिभुवनस्य, परमतपश्चरण रत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवत. प्रियशिष्येण. वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंहतार्किकचक्रवर्ति-वादीभपचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि-कविकुलराज-प्रशस्ति-प्रशस्तालकारेण, षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणिसूत्र-महेन्द्रमातलि-सजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचित (नीतिवाक्यामृत) समाप्तमिति।"

२ ताम्रशासनका वह अंश इस प्रकार है :—

श्रीगौडसघे मुनिमान्यकीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इति प्रजज्ञे।
बभूव यस्योग्रतप प्रभावात्समागम शासनदेवताभि ॥१५॥
शिष्योऽभवत्तस्य महर्द्धिभाज स्याद्वादरत्नाकरपारदृश्वा।
श्रीनेमिदेवः परवादिदर्पद्रुमावलीच्छेद-कुठारनेमिः ॥१६॥
तस्मात्तपःश्रियो भर्त्ता (र्तु) ल्लो (र्लो) काना हृदयगमा।
बभूवुर्बहव शिष्या रत्नानीव तदाकरात् ॥१७॥
तेषा शतस्यावरज. शतस्य तया (था) भवत्पूर्वज एव धीमान्।
श्रीसोमदेवस्तपस श्रुतस्य स्थान यशोधाम गुणोर्जितश्री ॥१८॥

चालुक्यवशी अरिकेसरीने अपने पिता वद्दिगके द्वारा निर्मित शुभधाम-जिनालयके लिये एक ग्राम उक्त सोमदेवको दानमें दिया है[1]। नेमिदेवके शिष्योमे जो १०० शिष्य सोमदेवके अग्रज (बडे गुरुभाई) थे, उनमे महेन्द्रदेव प्रमुख विद्वान् तथा सोमदेवके साथ विशेष सम्पर्क एव घनिष्टताको प्राप्त जान पडते हैं, इसीसे सोमदेवने नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमे उन्हीका नाम खास तौरसे गुरुनेमिदेवके नामान्तर उल्लेखित किया है और उन्हे 'श्रीमद् वादीन्द्रकालानल' एव 'भट्टारक' जैसे विशेषणोंसे विशिष्ट बतलाया है।

यशस्तिलकके प्रथम आश्वासासका अन्तिम पद्य इस प्रकार है —

सोऽयमाशार्पितयशः महेन्द्रामरमान्यधीः।
देयात्ते सततान द वस्त्वभीष्ट जिनाधिपः।

यह पद्य दो अर्थोंके श्लेषको लिये हुए है—एक अर्थ जिनाधिपके पक्षमे और दूसरा सोमदेवके पक्षमे घटित होता है। 'सोमदेव' यह नाम पद्यके चारो चरणोके आद्याक्षरोको मिलाकर वनता है ऐसा श्रुतसागरकी टीकामे सूचित किया गया है। सोमदेवके पक्षमे 'महेन्द्रामरमान्यधीः (महेन्द्रदेवके द्वारा जिसकी बुद्धि सराही गई है) यह विशेषणपद उसी महेन्द्रदेवके उल्लेखको लिये हुए जान पडता है जो सोमदेवका वड़ा गुरुभाई था और जिसका उल्लेख नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमे उक्त विशेषणो-के साथ किया गया है[2]।

कुछ विद्वान् यहाँ प्रयुक्त 'महेन्द्रदेव' का अभिप्राय कन्नौज (कान्यकुब्ज) के राजा महेन्द्रपाल प्रथम या द्वितीयका लेते हैं, और उसका

---

१ शकाब्देष्वाष्टाशीत्यधिकेष्वाष्टाशतेषु गतेषु (प्रव)र्तमानक्षय-सवत्सरे वैशाखयो(पौ)र्णमास्या(स्या) बुधवारे तेन श्रीमदरिकेसरिणा अनन्तरोक्ताय तस्मै श्रीमत्सोमदेवसूरये दत्त । सोदकधारन्दत्त ।

1. A part from the fact that the commentator is not aware of any such word-play, Mahendramara might well refer to Mahendradeva, the elder brother of Somadeva, mentioned in the colophon to his Nitivakyamrit
—K K. Handiqui, YasastiLaka and Indian culture.

कारण यह कि उन्होने नीतिवाक्यामृतकी सस्कृत-टीकाका, जो कि किसी जैनेतर विद्वानको बनाई हुई है और जिसमे कर्त्ताका नाम तथा रचनाका समय दिया हुआ नही है, यह कथन सत्य मान लिया है कि कान्यकुब्जके महाराज महेन्द्रदेव (महेन्द्रपाल) ने पूर्वाचार्योंके अर्थशास्त्रकी दुखबोधता और अर्थगुरुतासे खिन्नचित्त होकर ग्रन्थकारको इस सुबोध, ललित एव लघु नीतिवाक्यामृतकी रचनाके लिये प्रेरित किया,' जो कि समसामयिक उल्लेख न होकर बादको परिकल्पित अथवा किसी किंवदन्तीके आधार पर अवलम्बित जान पडता है। क्योकि उक्त टीकाकार ग्रन्थकार सोमदेवसे कुछ परिचित मालूम नही होता, इसीसे उसने उसी कथनके सिलसिलेमे, जो ग्रन्थ-मंगलचारण के प्रास्ताविक रूपमे है, यह भी लिख दिया है कि 'नीतिवाक्यामृतका कर्त्ता मुनिचन्द्र नामका क्षपणकव्रतधर्त्ता है, उसने अपने गुरु सोमदेवको नमस्कारपूर्वक यह निर्विघ्न सिद्धिकर आदि विशेषण-विशिष्ट एक (मगल) श्लोक कहा है'[1]। टीकाकारके इस कथनका सोमदेवके उक्त दोनो ग्रन्थोसे तथा परभनीके ताम्रशासनसे भी कोई समर्थन नही होता, प्रत्युत इसके नीतिवाक्यामृतके अन्तमें ग्रन्थकर्त्ताकी जो प्रशस्ति लगी है उसके विपरीत भी पडता है। यदि कन्नौजके राजा महेन्द्रपालकी प्रेरणासे इस नीति ग्रन्थके रचे जाने जैसी कोई महती घटना घटी होती तो सोमदेव ग्रन्थमे उसका उल्लेख किये विना न रहते।

१ उक्त कथन-सूचक टीकाका वह प्रास्ताविक वाक्य इस प्रकार है —

अथ तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवशावस्थायिपराक्रमपालित कृत्स्न कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमहेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्य-कृतार्थशास्त्र-दुरवबोध-ग्रन्थगौरव-खिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तित, सकल-पारिषदत्वान्नीतिग्रन्थस्य नानादर्शनप्रतिबद्धश्रोतृणा तत्तदभीष्ट-श्रीवृठाच्युत-विरञ्च्यर्हता वाचनिकनमस्कृति-सूचन तथा स्वगुरो सोमदेवस्य च प्रणामपूर्वक शास्त्रस्य तत्कर्तृत्व स्थापयितु सकलसत्वकृताभयप्रदान मुनिचन्द्राभिधान' क्षपणकव्रतधर्ता नीतिवाक्यामृत-कर्ता निर्विघ्नसिद्धिकर सकलकल्मषहर प्रकटार्थ-पचकप्रपचक श्लोकमेक जगाद ---

श्री कृष्णकान्त हैंडिकि एम० ए०, वाइस चांसलर गोहाटी यूनिवर्सिटी (आसाम) ने, अपने 'यशस्तिलक एण्ड इडियन कल्चर' नामक अग्रेजी ग्रन्थके परिशिष्ट (appendix) न० १ मे, सोमदेवके प्रतीहार राज्य कन्नोजके साथ प्रस्तावित सम्बन्ध-विपयमे विचार करते हुए उसे ऐतिहासिक तथ्यके रूपमे स्वीकार नही किया। साथ ही सोमदेवने यशस्तिलकमे स्वय अपने सघको 'देवसघ' के नामसे जो उल्लेखित किया है और परभनीके ताम्रशासनमे उनके दादा गुरु यशोदेवको 'गौडसघ' का लिखा है, जिसे लेकर कुछ विद्वानोने यह कल्पना की है कि 'सोमदेव गौड (बगाल)से दक्षिणदेशको जाते हुए मार्गमे कुछ समयके लिये कन्नौज ठहरे होंगे, उसी समय वहांके राजा महेन्द्रपाल प्रथमने, जिनका समय ई० सन् ८९३ से ९०७ है, या अधिकसभाव्य महेन्द्रपाल द्वितीयने, जिनके समयका एक शिलालेख स० १००३ का प्रतापगढ से उपलब्ध हुआ है, उन्हें नीतिवाक्यामृतकी रचनाके लिये प्रेरित किया होगा, इस पर विचार करते हुए दोनो सघ-नामोपर भी कितना ही नया प्रकाश डाला है और गौड सघको बगालके सघकी अपेक्षा दक्षिणके गौडोसे संबद्ध सूचित किया है। और अन्तमे लिखा है, कि जहां तक सोमदेवका सबध है उनके इस बगालसे दक्षिकगमन (migration) का किसी भी विश्वसनीय प्रमाणसे, जो अब तक प्रकाशमे आए हैं, समर्थन नही होता[१]।

परन्तु नीतिवाक्यामृतको सोमदेवने कन्नौजके राजा महेन्द्रपालकी प्रेरणासे लिखा हो या बिना उसकी प्रेरणाके ही रचा हो, इन दोनोसे अपने मूलविषयपर कोई असर नही पडता, क्योंकि नीतिवाक्यामृत-

---

१ But the supposed connection of Somadeva with the Pratihar court of Kanauj can hardly be accepted as a historical fact, as, unlike his counection with the Deccan, it is mentioned neithier in the colophons to his works nor in the Prabhani inscription

की प्रशस्तिमे उल्लिखित महेन्द्रदेव श्रीनेमिदेवके शिष्य और सोमदेव-के बडे गुरुभाई थे, इसमे किसीको भी विवाद नही है और न कोई यह कहता हैं कि कन्नौजके राजा महेन्द्रपाल प्रथम या द्वितीयने सोमदेवके गुरु नेमिदेवके पास जिनदीक्षा ग्रहण की थी अथवा सोमदेव महेन्द्रपाल राजाका कौटुम्बिक दृष्टिसे छोटा भाई था। यदि कोई ऐसा कहे भी तो वह कोरी कल्पना होगा, इतिहास उसका साथ नहीं दे सकता, महेन्द्रदेव का 'वादीन्द्रकालानल' विशेपण भी कोई राज-विशेषण नही है। प्रत्युत इसके, नीति वाक्यामृतके टीकाकारने टीकाके समय तक महेन्द्रपालको शिवभक्तके रूपमे उल्लेखित किया है और लिखा है कि 'उनकी शिव-पार्वती भक्तिकी तत्परताका विचार कर ग्रन्थके **'सोम सोमसमाकार'** इत्यादि मगल-पद्यकी प्रथमत शिवपरक अर्थमे व्याख्या की जाती है[१]।

ऐसी स्थितिमे रामसेनके शास्त्रगुरुवोमे जिन महेन्द्रदेवका नामोल्लेख है वे श्रीनेमिदेवके शिष्य और सोमदेवके बडे गुरुभाई थे, यह सुनिश्चित होता है।

रामसेनके शेष तीन शास्त्र-गुरुवोमे वीरचन्द्र और शुभदेवका कहीसे कोई परिचय प्राप्त नही हो सका। चौथे शास्त्रगुरु विजयदेवके विषय मे छान-बीन करते हुए यह खयाल उत्पन्न होता है कि ये विजयदेव सभवत वे ही जान पडते हैं, जो 'श्रीविजय' के नामसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हैं[२], जिन्होने भगवती आराधना पर अपने नामानुरूप **'विजयोदया'** नामकी टीका लिखी है और जिनका दूसरा नाम **अपराजित सूरि** है, जो टीकाके साथ दिया हुआ है। अतः टीकामें दी हुई उनकी गुरु-परम्परा आदि पर ध्यान देते हुए श्रीविजयके सम्बन्धमे जो अनुसन्धान-कार्य किया गया है और उससे जो कुछ निष्कर्ष निकला है उसे यहाँ दे देना उचित जान पडता है और वह इस प्रकार है :—

---

१ अत्र तु श्रीमन्महेन्द्रपालदेवस्य परमेश्वरपार्वतीपतौ नितान्तभक्तितत्परता विचिन्त्य प्रथमचराचरगुरुप्रमथनाथमुररीकृत्य व्याख्यायते।

२ देखो, अनेकान्तवर्ष १ कि० ४, वर्ष २ कि० ४, ६, ८,।

(क) भगवती आराधनाकी 'विजयोदया' टीकाकी प्रशस्तिमे टीकाकार अपराजितसूरि (श्रीविजय) ने अपनेको चन्द्रनन्दिमहाकर्म-प्रकृत्याचार्यका प्रशिष्य और बलदेवसूरिका शिष्य बतलाया है। साथ ही, नागनन्दीको अपना विद्यागुरु बतलाते हुए उन्हीकी प्रेरणासे टीका-का रचा जाना सूचित किया है[1], टीकाके रचे जानेका कोई समयादिक नही दिया। इससे प्रशस्तिगत नामोको ठीकसे पहचानने की समस्या खडी हुई, क्योकि एक नाम के अनेक विद्वान तथा एक विद्वान-के अनेक शिष्य भी हुए है और उन सबके बहुधा व्यक्तिगत उल्लेख मिलते हैं—पूर्वापरगुरुशिष्यादिके सम्बन्धको व्यक्त करते हुए नही।

(ख) चन्द्रनन्दिनामके एक आचार्यका पुराना उल्लेख मर्कराके ताम्रशासन (दानपत्र) मे मिलता है, जिसमे कुन्दकुन्दाचार्यकी वंशपर-म्परामें होनेवाले छह आचार्योंका नाम गुरु-शिष्यके क्रमसे दिया है, उनमे छठे आचार्य चन्द्रनन्दि हैं, जिन्हे इस पत्रद्वारा शक स० ३८८ (वि० स० ४२३) मे एक ग्राम दान दिया गया है। यदि उक्त श्रीविजय इन्ही चन्द्रनन्दिके प्रशिष्य हो तो उनका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्राय. अन्तिमचरण बैठता है।

दूसरे चन्द्रनन्दि नामक आचार्यका उल्लेख श्रीपुरुषके दानपत्र (नाग-मगल ताम्रशासन) मे मिलता है जो शक स० ६९८ (वि० स० ८३३) मे उत्कीर्ण हुआ है, और जिसमे चन्द्रनन्दिकी शिष्यपरम्पराका—कुमार-नन्दि, कीर्तिनन्दि, विमलचन्द्र, गोवर्पयके क्रमसे उल्लेख करते हुए, गोव-र्पयको दानके दिये जानेका विधान है। इस दानपत्रमे चन्द्रनन्दिको मूल-मूलशर्णाभिनन्दित नन्दिसघ, एरेगितुं नामकगण और मूलिकल्गच्छका गुरु (आचार्य) सूचित किया है१। 'महाकर्मप्रकृत्याचार्य' जैसा कोई

---

१. 'चन्द्रनन्दि-महाकर्मप्रकृत्याचार्य-प्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनो-द्धरणधीरेण लब्धयश प्रसरेणाऽपराजितसूरिणा श्रीनागनन्दिगणिविचोदितेन रचिता—

विशेषण उनके साथमे नही है और न उनकी शिष्य-परम्परामे बलदेव-सूरि, अपराजितसूरि या श्रीविजयका ही कोई नाम है। फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि चन्द्रनन्दिकी कुमारनन्दिसे भिन्न दूसरी शिष्य-परम्परा बलदेवसूरिसे प्रारम्भ हुई होगी और इसलिए उक्त श्रीविजय इन्हीके प्रशिष्य होगे तो श्रीविजयका समय विक्रमकी आठवी शताब्दीका प्रायः उत्तरार्ध बनता है।

उक्त दोनो चन्द्रनन्दि आचार्योंके समयको देखते हुए हमारे विजयदेव उनमेसे किसीके भी प्रशिष्य नही हो सकते; क्योकि उनके साक्षात् शिष्य रामसेन अपने तत्त्वानुशासनमे बादको होने वाले विक्रमकी ९वी-१०वी शताब्दी तकके आचार्य भगवज्जिनसेन, गुणभद्र, और अमृतचन्द्रके ग्रन्थ-वाक्योको अपना रहे अथवा उनका अनुसरण कर रहे हैं।

(ग) श्री डा० ए० एन० उपाध्येने बृहत्कथाकोशकी प्रस्तावना (Introduction) मे अपराजितसूरिके समयादिका विचार करते हुए और उसके निर्णयमे उनकी विजयोदयाटीकाकी प्रशस्तिमे दिये हुए तथ्यो (facts) को बहुत कुछ अपर्याप्त (too meagre) बतलाते हुए लिखा है कि—

'यदि यह मान लिया जायकि चन्द्रनन्दि और चन्द्रकीर्ति परिवर्तनीय (interchangeable) नाम हैं तो उनकी दृष्टिमे एक समूह उत्कीर्ण लेखो (inscription)[1] का ऐसा है जो एक श्रीविजयका

---

१. अष्टानवत्युत्तरे षट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेष्वात्मनः प्रवर्द्धमानविजयवीर्य-सवत्सरे पंचशततमे प्रवर्द्धमाने मान्यपुरमधिवसति विजयस्कन्दावारे श्रीमूल-मूलशरणाभिनन्दित नन्दिसघान्वये एरेगित्तन्नाम्नि गणे मूलिकलगच्छे स्वच्छतर-गुणकिरणततिप्रह्लादितसकललोक चन्द्रइवापर चन्द्रनाम गुरुरासीत्। तस्य शिष्यस्समस्ताववुधलोकपरीक्षण-क्षमाशक्ति॰ परमेश्वर-लालनीयमाहिमा कुमारवद् द्वितीयकुमारनन्दिनामामुनिपतिरभवत्। तस्यान्तेवासि ।

1 E C VIII, Nagar No 35-37, Tirthhalli No 12, IV, Nagmangal 100, V. Channarayapattan 149, BeLur 17, Arsiker 1, II No 54 (or N 67, 2nd edit on's), VI, Kadur 69

उल्लेख करते हैं, जिनका दूसरा नाम 'पडित पारिजात' था और जो अपनी विद्या तथा तपश्चर्याकी दृष्टिसे हेमसेनके समकक्ष थे। उनके पूर्वज-चन्द्रकीर्ति और कर्मप्रकृति नामके थे। अपराजितसूरि प० आशाधर से पूर्ववर्ति है, अनगारधर्मामृतकी टीका (स० १३००) मे उनका उल्लेख है। कर्मप्रकृति एक विरल नाम है, और जहाँ तक सभाव्य है श्रीविजय और उत्कीर्ण लेख उसी एक मुनि (कर्मप्रकृति) का उल्लेख करते हैं। इसका मतलब यह कि श्रीविजयका समय ईस्वी सन् १०७७ से, जोकि एक शिलालेखका समय है, स्वल्पत पूर्व (Slightly earliar)—बहुत थोडा ही पूर्ववर्ती—है।'

इस लेखद्वारा डा० उपाध्यायजीने मुख्यत चार कल्पनाएँ की हैं—एक चन्द्रनन्दि और चन्द्रकीर्तिके एक व्यक्तित्वकी, दूसरी चन्द्रनन्दि और कर्मप्रकृतिके भिन्न व्यक्तित्वकी, तीसरी श्रीविजयके अपराजितसूरिके स्थान पर या उसके अतिरिक्त 'पडित पारिजात' नामकी, और चौथी अपराजितसूरिका समय ईस्वी सन् १०७७ से थोड़ा ही पूर्व होनेकी। इनमेसे पहली-दूसरी कल्पनाएँ प्राय सभाव्य जान पडती है, नामोके उल्लेखमे कभी-कभी इस प्रकारकी तब्दीली हो जाया करती है और इन दोनोकी पुष्टि मल्लिषेणप्रशस्ति नामके शिलालेख न० ५४ (६७) से एक प्रकार हो जाती है, जिसमे बडे-बडे आचार्यों तथा विद्वानोका उल्लेख करते हुए चन्द्रनन्दि नामसे किसीका उल्लेख न करके चन्द्र-कीर्तिका उल्लेख किया है और चन्द्रकीर्तिके अनन्तर पृथक् व्यक्तित्वके रूपमे कर्मप्रकृति मुनिका नाम दिया है। इन दोनो कल्पनाओके आधार पर विजयोदया-टीका-प्रशस्तिके 'चन्द्रनन्दि-महाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण' इस अपराजितसूरिके विशेषण-पदका अर्थ प्रचलितअर्थके[1] विरुद्ध यह करना होगा कि वे चन्द्रनन्दि और महाकर्मप्रकृत्याचार्यके प्रशिष्य थे—उनके गुरु बलदेव इन दोनों के शिष्य रहे होंगे—और यही अर्थ उपा-

१. 'महाकर्मप्रत्याचार्य' विशेषणसे विशिष्ट चन्द्रनन्दिके प्रशिष्य।

ध्यायजीने किया भी है। ये दोनो कल्पनाएँ उस वक्त तक माननीय हैं जब तक कोई स्पष्ट प्रमाण इनके विरुद्ध सामने न आजाय।

तीसरी और चौथी कल्पनाएँ बहुत कुछ विचारणीय हैं—उन्हे सहसा ग्रहण नही किया जा सकता, क्योकि अभी तक ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नही हुआ जो अपराजितसूरिका दूसरा नाम श्रीविजय-से भिन्न या अतिरिक्त 'पडित पारिजात' प्रकट करता हो। एक श्री-विजयका दूसरा नाम नगरतालुकके शिलालेख न० ३५मे पडित 'पारिजात' जरूर दिया है। इन्ही श्रीविजयका बेलूरतालकके शिलालेख न० १७ में और श्रवण बेलगोल-शिखालेख नं० ५४ (६७) मे भी उल्लेख है, परन्तु वहाँ उनका दूसरा नाम 'पडित पारिजात' नही दिया। हो सकता है इन्हीं श्रीविजयका जो उल्लेख दूसरे शिलालेखोमें है उनमें उनका दूसरा नाम 'पडित पारिजात' दिया हो। परन्तु ये श्रीविजय वे श्रीविजय नही हैं जो अपराजितसूरि कहलाते है। ये रक्कसगग आदि राजाओके गुरु-थे, उनकेद्वारा पूजित और श्रीमतिसागरशिष्य-वादिराजके द्वारा प्रशसित थे। इनकी प्रशसामे वादिराजने जो पद्य कहा है वह श्रवण-बेल्गोल और नगरतालुकके उक्त शिलालेखोमे उद्धृत है। यहाँ उसे श्रवण-बेल्गोल-शिललेखसे चूर्णिवाक्यके साथ उद्धृत किया जाता है—

[1]चूर्णि ॥ स्तुतो हि स भवानेष श्रीवादिराजदेवेन ॥
यद्विद्या-तपसो प्रशस्तमुभय श्रीहेमसेने मुनौ।
प्रागासीत्सुचिराभियोगबलतो नीत परामुन्नति।
प्राय श्रीविजये तदेतदखिल तत्पीठिकाया स्थिते।
सक्रान्त कथमन्यथानतिचराद्विद्येदृगीदृक् तप ॥४६॥

---

१ यह चूर्णि शिलालेखके जिस स्तुतिपद्यसे सम्बन्ध रखती है वह इस प्रकार है—

गगावनीश्वर-शिरोमणि-बद्ध-सध्यारागोल्लसच्चरणचारुनखेन्दुलक्ष्मी।
श्रीशब्द-पूर्व-विजयान्तविनूतनामा श्रीमानमानुषगुणोऽस्ततम प्रभाशु ॥४५॥

इस स्तुतिपद्यमे बतलाया है कि 'श्रीहेमसेनमुनिमे विद्या और तपका जो उत्कर्ष चिरकालीन योगबलसे परमोन्नतिको पहले प्राप्त था वह प्राय सबका सब उनकी पीठिका (आसन-पट्ट) पर स्थित श्री-विजयमे सक्रमण कर गया है, अन्यथा इतनी शीघ्रतासे ऐसी विद्या और ऐसे तपका प्रादुर्भाव कैसे होता ?'

इस स्तुतिसे जहाँ श्रीविजयके हेमसेन-जैसे महान् विद्वान और तपस्वी होनेका तथा शीघ्र ही विद्या और तपश्चर्यामे महती उन्नति करने का पता चलता है वहाँ यह भी ध्वनित होता है कि वे हेमसेनके पट्ट-शिष्य-जैसी स्थितिमे थे। और इस तरह अपराजित सूरिसे उनके व्यक्तित्वका और भी पृथकत्व हो जाता है; क्योंकि अपराजितसूरि बल-देव सूरिके शिष्य थे, हेमसेनके नही। और न उनमे हेमसेनकी विद्या-तपश्चर्या की सक्रान्तिका कही कोई उल्लेख है। वे गगराज-पूजित भी नही थे, जैसा कि इन श्रीविजयके सम्बन्धमे शिलालेखके पूर्ववर्ती पद्य प० ४५मे उल्लेख है और जहाँ इन्हें अमानुषगुण, अस्ततम और प्रमाशु जैसे विशेषणोंके साथ भी उल्लेखित किया है, जो सब इनके असाधारण व्यक्तित्वके द्योतक हैं। श्रीविजयनामके और भी अनेक विद्वान हुए हैं और और यह बात डा० उपाध्यायजीको भी मान्य है[१]।

समय-सम्बन्धी कल्पनामे जिस शिलालेखके समयका उल्लेख किया गया है वह शक स० ९९९ में उत्कीर्ण नगरताल्लुकका शिलालेख न० ३५ है, जिसमे वादिराजके उत्तरवर्ती कमलभद्राचार्यको एक दान दिया गया है। इसमे पूर्ववर्ती गुरुवोका उल्लेख करते हुए जहाँ वादिराजसूरिका खास तौर-से उल्लेख है वहाँ तदनन्तर दो पद्य श्रीविजयकी प्रशसामें भी दिये गये हैं, जिनमे एक पद्य वही है जो वादिराजद्वारा उनकी प्रशसामें कहा गया है। इससे श्रीविजयका समय इस शिलालेखके समय (ई० स० १०७७) से थोडा ही पूर्व (Slighly earliar) नहीं किन्तु ५०-६० वर्ष पूर्व भी

१ 'even if we hesitate to accept Sri Vijay's identity with others of that name. (बृहत्कथाकोश-प्रस्तावना)

हो सकता है, क्योकि इस शिलालेखके समय (शक स० ९९९) वादिराजके अस्तित्वका कोई प्रमाण नही है, उन्होने इस समयसे ५२ वर्ष पूर्व शक स० ९४७ (वि० स० १०८२, ईस्वी सन् १०२२) मे पार्श्वनाथचरितकी रचना की है, अत उनके द्वारा प्रशसित श्रीविजयका समय और भी पूर्वका होना चाहिये अथवा हो सकता है। वादिराज-द्वारा प्रशसित श्रीविजय ही यदि अपराजितसूरि होते तो उनकी 'विजयोदया' टीकामें भगवज्जिन-सेनके आर्ष महापुराण, तथा अमृताचन्द्राचार्यके ग्रन्थोका कुछ न कुछ प्रभाव जरूर लक्षित होता, परन्तु ऐसा नही पाया जाता[1]। डा० उपाध्यायजीने भी अपनी उक्त प्रस्तावनामे जटिल मुनिकृत वरागचरितके उपयोगकी सूचना तो की है, जो आर्ष महापुराणसे पूर्ववर्ती है, परन्तु आर्ष महापुराण तथा उसके उत्तरवर्ती गथोके उपयोगकी कोई सूचना नही की, जिससे मालूम होता कि उन्होने भी अपने अन्त परीक्ष-णद्वारा महापुराणादिके प्रभावको उक्त टीकामे लक्षित नही किया।

(घ) एक श्रीविजय जबूदीवपण्णत्तीके कर्त्ता पद्मनन्दिके शास्त्रगुरु थे, जिनके विषयमे पद्मनन्दिने लिखा है कि 'वे नाना नरपतियोसे पूजित, विगतभय, सगभगउन्मुक्त, सम्यग्दर्शन-शुद्ध, सयम-तप-शील-सपूर्ण, जिनवर-वचन-विनिर्गत-परमागमदेशक, महासत्त्व, श्रीनिलय, गुणोसे युक्त और विशेषख्यातिप्राप्त गुरु थे। उन्हीके पाससे जिनवर-वचन-विनिर्गत अमृतभूत अर्थपदसग्रह (आगम) को सुनकर तथा कुछ प्राप्तकर उन्होने इस ग्रथके उद्देशो को रचा है[2]। साथ ही, ग्रथनिर्माणका कोई समय न

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष २ कि० ८।

२. णाणा-णरवइ-महिदो विगयभओ सग-भग-उम्मुक्को।
सम्मद्दसणसुद्धो सजम-तप-सीलस पुण्णो ॥१४३॥
जिणवर-वयण-विनिग्गय-परमागदेसओ महासत्तो।
सिरिणिलओ गुणसहिओ सिरिविजयगुरु त्ति विक्खाओ ॥१४४॥
सोऊण तस्स पासे जिणवयण-विनिग्गय अमदभूदं।
रइद किंचिदुद्देसे अत्थपद तहव लद्धूण ॥१४५॥
—जबू० प० उद्देश १३

देते हुए यह सूचित किया है कि 'पारियात्र देशके अन्तर्गत वारां नगरमे रहते हुए, जिसका स्वामी उस समय शक्तिभूपाल था, यह जवूद्वीपपण्णन्ती सक्षेपसे लिखी है।' अत शक्तिभूपालके समयकी जो अवधि उसका मध्यवर्तीकाल इस जवूद्वीपपण्णत्तीका निर्माणकाल और उससे प्राय: कितना ही पूर्ववर्ती काल इन श्रीविजयगुरुका अस्तित्वकाल समझना चाहिये; क्योकि जबूद्वीपपणत्तीके निर्माण-समय श्रीविजय मौजूद थे ऐसा ग्रन्थपरसे मालूम नही होता।

पद्मनन्दिने वारां नगरके स्वामी शक्तिभूपालको सम्यग्दर्शन-शुद्ध, कृत-व्रतकर्म, सुशीलसंपन्न, अनवरत-दानशील, जिनशासनवत्सल, धीर, नानागुणगणकलित, नरपतिसपूजित (सम्मानित), कलाकुशल और नरोत्तम-विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। इससे वह जिनशासनभक्त कोई अच्छा जागीरदार मालूम होता है। हो सकता है कि 'भूपाल' उसके नामका ही अशहो अथवा उसे टाइटिलके रूपमे प्राप्त हो और राजा या महाराजाकेद्वारा सम्मानित होनेके कारण ही उसे 'णरवइसपूजिग्रो' विशेषण दिया गया हो। इसके समयकी अवधिका यद्यपि अभीतक कोई पूरा पता नही चला परन्तु श्रीओझाजीके 'राजपूतानाका इतिहास' द्वितीय भागसे इतना जरूर मालूम पडा है कि वारांनगर जो वर्तमानमे कोटा राज्यके अन्तर्गत है वह पहले मेवाडके अन्तर्गत था और इसलिये मेवाड भी पारियात्रदेशमे शामिल था, जिसे हेमचन्द्र-कोशमे "उत्तरो-विध्यात्पारियात्र" इस वाक्यके अनुसार विन्ध्याचलके उत्तरमे बतलाया है। इस मेवाडका एक गुहिलवशी राजा शक्तिकुमार हुआ है, जिसका एक शिलालेख वैशाषसुदि १ स० १०३४ का 'आहाड'मे (उदयपुरके समीप) मिला है। यदि इस समयके लगभग ही जबूद्वीपपण्णत्तीका निर्माण-काल मान लिया जाय – जिसे अनुचित नही कहा जा सकता; क्योकि ओझाजी-के 'राजपूतानाका इतिहास' के अनुसार गुहिलोतवशके राजा नरवाहनका पुत्र शालिवाहन वि० स० १०३०-३५ के लगभग मेवाडका शासक

इस सघके आचार्य प्राय नन्दि, चन्द्र, कीर्ति, भूषण नामान्त होते हैं। सिंह संघके नामान्त सिंह, कुम्भ, आस्रव तथा सागर और देवसघके नामान्त देव, दत्त, नाग तथा तुग बतलाये गये हैं[१]। अत इन दोनो सघोमे भी इनका सभव नही है। कष्ठासघ, माथुरसघ और पुन्नाटसंघकी गुर्वावलियो–पट्टावलियो तथा ग्रन्थप्रशस्तियोंमे गुरुवोंके सेनान्त नाम जरूर पाये जाते हैं और रामसेन नामके गुरुवोका भी उल्लेख है अतः उन पर विशेष विचार एव जांच पडतालका कार्य आवश्यक हो जाता है।

इस विषयमे सबसे पहले उस माथुरसघको लिया जाता है जिसके संस्थापकका नाम रामसेनाचार्य बहुत कुछ प्रसिद्धिको प्राप्त है—अनेकाऽनेकग्रन्थप्रशस्तियोमे भी जिसका उल्लेख है[२]— और जिसकी उत्पत्तिका समय देवसेनने दर्शनसारमे वि० स० ९५३ सूचित किया है। यह समय-अपने रामसेन-समयके निकट पडनेके कारण इन्ही माथुर संघ-सस्थापक रामसेनको तत्त्वानुशासनका कर्ता मानलेनेका सहसा मन होता है। परन्तु समय पर गभीरताके साथ विचारपूर्ण दृष्टि डालनेसे वह ठीक प्रतीत नही होता, क्योकि दर्शनसारमे उसे काष्ठासंघसे २०० दोसो वर्ष बाद उत्पन्न हुआ बतलाया है और काष्ठासघकी उत्पत्ति उन कुमारसेनके द्वारा वि० स० ७५३ मे निर्दिष्ट की है जो वीरसेनके शिष्य एव जिन-सेनके गुरुभाई विनयसेनके दीक्षित-शिष्य थे। साथ ही यह भी सूचित किया है कि काष्ठासघकी यह उत्पत्ति विनयसेन तथा जिनसेनशिष्य गुणभद्रकी मृत्युके बाद हुई है[३]। गुणभद्रकी मृत्युका समय वि०

---

१. णदी चदो कित्ती भूषण णामेहिं णदिसंघस्स।
सेणो रज्जो वीरो भद्दो तहेव सेणसंघस्स ॥१॥
सिंहो कुंभो आसव सायरणामेहिं सिंहसंघस्स।
देवो दत्तो णागो तुंगो तहेव देवसंघस्स ॥२॥

२. देखो, जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग।

३. देखो, दर्शनसार गाथा न० ३०-३२, ४०,

स० ७५३ से पूर्व तो क्या शक स० ७५३ के पूर्व भी नही वनता, क्योकि शक सं० ७५९ मे तो उनके गुरु जिनसेनने जयधवलाटीकाको पूरा किया था, उसके वाद महापुराणके कार्यको विशेषत. अपने हाथमे लिया था, जिसे वे अधूरा छोडकर स्वर्गवासी होगए और उसको पूरा करनेका भार अपने प्रमुखशिष्य गुणभद्रपर रखगये। गुणभद्रने उसे शक सवत् ८०० के आस-पास किसी समय पूरा किया मालूम होता है, क्योकि महापुराणके उत्तरार्धरूप उत्तरपुराणके अन्तमे जो पूजा-प्रशस्ति गुणभद्रके शिष्य लोकसेन-द्वारा लगाई गई है उसमे उसका समय शक-सं० ८२० दिया है। ऐसी स्थितिमे काष्ठासघसे दोसौ वर्षबाद माथुर-संघकी उत्पत्तिका आशय यही निकलता है कि वह शककी १० वीं शताब्दीके प्रायः प्रथमचरणमें उत्पन्न हुआ है और इसलिये उसके सस्थापक रामसेनाचार्य तत्त्वानुशासनके कर्ता नही हो सकते। यह दूसरी वात है कि २०० वर्षका उक्त अन्तरालकाल ही गलत हो।

यहाँ इस माथुर-सघके सम्बन्धमे इतना और भी जानलेनेकी जरूरत है कि यह काष्ठासघकी शाखारूप नन्दीतट आदि चार गच्छोमेसे एक गच्छ है जिसका गण तथा सघके रूपमे भी उल्लेख मिलता है, और उस माथुरसघसे भिन्न जान पडता है जिसमे अमितगति आदि आचार्य हुए हैं, क्योकि अमितगति अपने सुभाषितरत्नसन्दोह आदि ग्रन्थोमे न तो काष्ठासघसे अपना सम्बन्ध जोडते हैं और न रामसेनको अपने गुरुवो-की श्रेणिमे ही स्थान प्रदान करते हैं—धर्मपरीक्षामे उनके गुरुवोकी पूर्वसीमा देवसेनके गुरु जिनसेन तक पाई जाती है।

हस्तलिखित सस्कृत ग्रन्थोकी खोज-विषयक पिटर्सन साहबकी ४ थी रिपोर्टपरसे वहुत वर्ष हुए मैंने यह नोट किया था कि 'रामसेनके शिष्य देवसेनका जन्म स० ९५१ मे हुआ है।' हालमे विशेष जानकारीके लिये उस रिपोर्टको प्राप्त करनेका प्रयत्न किया गया परन्तु वह दिल्लीसे वाहर चले जानेके कारण प्राप्त नही होसकी, तव मैंने डा० ए० एन० उपाध्याय और बाबू छोटेलालजीसे उसे देखकर उचित सूचना करनेकी

प्रार्थना की। तदनुसार दोनोंने ही उसे देखकर जो सूचना-पत्र दिये हैं उनसे ज्ञात हुआ कि पिटर्सन साहबकी ४ थी रिपोर्टमे देवसेनके नामके आगे यह सूचित किया गया है—'दर्शनसारकाकर्त्ता अपनेको रामसेनका शिष्य बतलाता है और कहता है कि उसने ९९० में दर्शनसारको लिखा है, प्रमाणमे तीसरी रिपोर्टके परिशिष्ट पृ० ३७४ को देखनेकी प्रेरणा की गई है।' साथ ही यह भी सूचित किया है कि 'एक टीकाकारके कथनानुसार देवसेनका जन्म संवत् ९५१ मे हुआ था और उसने दर्शन-सारको ९९० में लिखा है' इत्यादि, और इसकेलिये तीसरी रिपोर्टके परिशिष्ट पृ० २२ को देखनेकी प्रेरणा की है। श्री डा० ए० एन० उपाध्यायने तीसरी रिपोर्टके परिशिष्ट पृ० ३७४ को देखकर यह सूचना की है कि वहाँ दर्शनसारका मूल पाठ छपा है, उसमें रामसेनका कोई उल्लेख नही है और इसलिये इस सूचनामें कुछ स्खलन हुआ जान पडता है जिसके कारण इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। परिशिष्ट पृ० २२ की सूचना मुझे प्राप्त नही होसकी, जिससे टीकाकार और उसके कथनका ठीक पता चलता।

परन्तु कुछ भी हो, टीकाकारने देवसेनके जन्म और दर्शनसारके निर्माणके जिनसवतोकी सूचना की है वे विक्रमसवत् न होकर शकसवत् होने चाहियें; तभी काष्ठासघकी उत्पत्तिके समयोल्लेखमें जो भ्रान्ति हुई है, उसका सुधार हो सकेगा[१]।

अब रही काष्ठासघ तथा पुन्नाटसघकी गुर्वावलियो आदिकी बात। इस विषयकी कुछ अप्रकाशित सामग्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीसे प्राप्त हुई है, जिसकेलिए मैं उनका आभारी हूँ। उपलब्ध सब सामग्रीके अवलोकनसे मालूम होता है कि कुछ गुर्वावलियाँ तो ऐसी हैं जिनमें गुरुवोका स्मरण कालक्रमसे नही पाया जाता—पहले होनेवाले अनेकगुरुवोका स्मरण पीछे

---

१. पिटर्सन साहबकी उक्त रिपोर्ट-विषयक सूचनाओंके लिए मैं डा० ए० एन० उपाध्याय कोल्हापुर और बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता दोनोंका आभारी हूँ।

और पीछे होनेवाले अनेक गुरुवोका स्मरण पहले किया गया है—अथवा परस्पर गुरुशिष्यका कोई सम्बन्ध व्यक्त नही किया गया और न क्रमश स्मरणादिकी कोई सूचना ही की गई है। ऐसी गुर्वावलियोंमे रामसेनका नाम होते हुए भी उससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता, अत उन्हें छोडा जाता है। यहाँ उन्हीं गुर्वावलियो आदिको लिया जाता है जिनमे प्राय. क्रमसे कथन हैं, क्रमशः कथनकी सूचना की गई है अथवा बहुधा गुरु-शिष्यका सम्बन्ध व्यक्त करते हुए गुरुवोंका स्मरण किया गया है। उनमे एक गुर्वावली काष्ठासघ-नन्दीतटगच्छकी है[1]; जिसमे काष्ठासंघके चार गच्छों—नन्दीतट, माथुर, बागड, लाडबागड—के नामोका उल्लेख करते हुए तथा नन्दीतटगच्छके कुछ मुनियोंके क्रमशः कथनकी सूचना करते हुए लिखा हैं —

> तत्र नन्दीतटगच्छे श्रीमताद्यनुसारतं (?)।
> क्रमेण मुनिनो वक्ष्ये ये रत्नत्रयमंडिताः ॥२१॥
> अर्हद्वल्लभसूरिश्च श्रीपंचगुरुसञ्ज्ञिक.।
> गगसेनो ततो जातो नाग-सिद्धान्त- सेनकौ ॥२२॥
> गोपसेनो गुणाम्भोधि श्रीमन्नोयगुरुस्ततः।
> तत्पदमंडने दक्षो ज्ञान-विज्ञान-भूषितः ॥२३॥
> रामसेनोऽतिविदितः प्रतिबोधनपण्डितः।
> स्थापिता येन सज्जातिर्नारसिंहाऽभिधा भुवि ॥२४॥

इस गुर्वावलीमे जिन आठगुरुवोंका क्रमश. उल्लेख किया गया है उनके नाम इस प्रकार हैं—१ अर्हद्वल्लभसूरि २. पचगुरु, ३. गगसेन, ४. नागसेन, ५. सिद्धान्तसेन, ६. गोपसेन, ७. नोयगुरु (?) ८. रामसेन। इन गुरुवोमे सातवें गुरुका नाम अस्पष्ट हो रहा है, जिनके पट्टका

---

१. यह गुर्वावली प० परमानन्दजीको जयपुर-शास्त्रभडारके एक गुटके परसे प्राप्त हुई थी, हालमें उनके द्वारा अनेकान्तवर्ष १५ की ५वीं किरणमें प्रकाशित की जा चुकी है।

मडन रामसेनको बतलाया गया है। साथ ही, रामसेनके विषयमे यह भी सूचित किया है कि वे दक्ष थे, ज्ञान-विज्ञानसे भूषित थे, अतिप्रसिद्ध थे, दूसरोके प्रतिबोधनमे पंडित थे और उन्होंने नारसिंह नामकी एक सज्जातिकी स्थापना की थी।' काष्ठासघकी दूसरी लघुगुर्वावली[1]मे भी, जिसके गुरुवोका प्रारम्भ अर्हद्वल्लभसूरिसे न करके 'पचगुरुसे' किया गया है तथा बीचमे सिद्धान्तसेनका नाम भी छोड दिया है, 'श्री मन्नोयगुरु' पाठ ही दिया है। दोनो गुर्वावलियोका यह पाठ साफ अशुद्ध जान पड़ता है। जहाँ तक मैंने इस पाठके शुद्धरूपका विचार किया है वह मुझे 'श्रीमन्नागगुरुः' मालूम होता है—दूसरा कोई पाठ यहाँ उपयुक्त नही बैठता। लेखकोंसे 'ग' के स्थान पर 'य' लिखा जाना अथवा पत्रो-के परस्पर चिपक जानेसे वैसा रूप बन जाना एक साधारणसी बात है। एक गुर्वावलीमे एक नामके दो गुरुवोका होना भी कोई असाधारण बात नही है। अनेक गुर्वावलियोमे ऐसा पाया जाता है, जैसे माथुरसघी अमितगतिकी प्रशस्तियोमे उसके पूर्व अमितगति (प्रथम) का होना तथा हरिवशकार जिनसेनकी गुर्वावलीमे उनके पूर्व दूसरे जिनसेनगुरुका भी होना। ऐसी स्थितिमे रामसेन नागसेनके दीक्षित-शिष्य ही नही रहते, किन्तु पट्ट-शिष्य भी स्थिर होते हैं और साथ ही यह भी मालूम होजाता है कि वे काष्ठासघके नन्दीतटगच्छ और विद्यागणके आचार्य थे—विद्या-

---

१. इस गुर्वावलीके प्रारम्भिक दो पद्य इस प्रकार हैं :—

श्रीमन्नादिजिनोद्गणान् समुदितान्सनम्य तान् पूर्वत
श्रीकाष्ठासघसरोजहसदृशान् रत्नत्रयालंकृतान्।
श्रीनन्दीतटगच्छभूषणमणीन् विद्यागणे यानृषीन्
जम्बूस्वामि-सुभद्रबाहुपुरतो वक्ष्ये गुरून् भक्तितः ॥१॥
पूर्वं पचगुरुर्बभूव गुणवान् श्रीगगसेनस्ततो
विद्वान्नागगुरुर्बभूव यतिपः श्रीगोपसेनो मुनिः
श्रीमन्नोयगुरुर्विबोधयतिराट् श्रीरामसेनो गुरुः।
स्तस्मात्कर्मगिरेः पविः समभवत् श्रीनेमिषेणस्तथा ॥२॥

गणकी सूचना दूसरी लघु गुर्वावलीमे स्पष्टतया की गई है। पहली गुर्वावलीमें जहाँ रामसेनको अनेक महत्त्वके विशेषणोके साथ स्मरण किया गया है वहाँ लघु गुर्वावलीमे भी उन्हे 'विबोधपतिराट्' जैसा महत्त्वका विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ होता है 'विशेषज्ञानके धनी योगीश्वर'।

काष्ठासघी आचार्यादिकी कृतिरूप अनेक ग्रन्थोकी प्रशस्तियोमे माथुरसंघके प्रवेशके पूर्व जहाँ रामसेनका स्मरण किया गया है वहाँ उन्हें नन्दीतटान्तर्गत-विद्यागणका आचार्य सूचित किया है और जहाँ माथुरगच्छके साथ रामसेनका स्मरण किया गया है वहाँ उन्हे पुष्करगणका आचार्य सूचित किया गया है[1]। इससे मालूम होता है कि विद्यागणका सम्बन्ध नन्दीतटगच्छके साथ तथा पुष्करगणका माथुरगच्छके साथ रहा है और इसलिये इन दोनो गणोंके आचार्य रामसेन एक दूसरेसे भिन्न हैं, जिनमें विद्यागणके रामसेन पूर्ववर्ती और पुष्करगणके रामसेन उत्तरवर्ती हैं। पुष्करगणके रामसेनको ही माथुर गच्छका सस्थापक समझना चाहिये। दोनोंके अन्वय (वश) अलग अलग चले हैं।

श्रीचन्द्रकीर्तिने, पार्श्वपुराणकी प्रशस्तिमें, रामसेनको विद्यागणका अधीश्वरसूरि, विद्यऽनवद्य, स्याद्वादविद्याका निवास, विशदवृत्त और कीर्तिमान प्रकट किया है। भ० श्रीभूषणने, पाण्डवपुराणमे, उक्त रामसेनको 'प्रतिबोधनपडित, दिगम्बर, शुद्धचेतस्क, निमित्तज्ञानभास्कर' लिखा है तथा विद्यागणमे उन्हें 'पूज्या., पुरा, और 'मान्याः' जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है, जिससे वे सभवत. विद्यागणके संस्थापक जान पडते हैं। वृषभदेवपुराणमे उन्हें 'नरदेव-पूज्य' लिखा है, और शान्तिनाथपुराणमे 'नम्य (नमनेयोग्य), ज्ञानकोविद, पचमकालमे अतुल्यज्ञानी तथा दुर्मतध्वान्तनाशक' वतलाया है। ब्रह्मकृष्णदास तथा केशवसेनादि दूसरे विद्वानोंने भी उन्हें 'मुनिपनुत (मुनीश्वरो-द्वारा नमस्कृत) भदन्त—भगवान,

---

१ देखो, वीरसेवामन्दिरमे प्रकाशित जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह, प्रथमभाग।

दलितविकार' जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। और इससे वे अपने समयके एक असाधारण-कोटिके महान् विद्वान्, प्रतिभावान्, शुद्ध-हृदय एव सच्चरित्र साधु प्रतीत होते हैं। अतः श्रुतसागरसूरिने सुत्त-पाहुड (सूत्रप्राभृत) द्वितीयगाथाकी टीकामे जिन रामसेनको अर्हद्वल्यादि-सोलह महान् आचार्योंके नामोंके साथ—"प्रथमाङ्गपूर्वभागज्ञा." पदके द्वारा आचाराङ्ग और पूर्वोंके एकदेशज्ञाता (श्रुतकेवलिदेशीय) लिखा है[१] वे ये ही रामसेन जान पड़ते हैं—इनसे अर्थात् तत्त्वानुशासनके कर्त्ता रामसेनसे भिन्न दूसरे कोई रामसेन प्रतीत नही होते—इतनी विद्वत्ताके दूसरे किसी रासेमनका उपलब्ध जैनसाहित्यमे कही कोई पता नही है।

अब मैं पुन्नाटसघके रामसेनको लेता हूँ, जिन्हे लाडवागडसघकी एक 'विरुदावली'[२]मे पुन्नाटगच्छीय वासवसेनाचार्यका पट्ट-शिष्य लिखा है। विरुदावलीका वह उल्लेख इस प्रकार है :—

"श्रीपुन्नाट-गच्छ-विपुलगगनोद्योतन-दिवाकरश्रीवासवसेनाचार्याणा, तत्पट्टालकार-हार-निर्विकार-कर्मसिद्धान्तपारावार-विगाहनरसिक—श्रीलाट-गच्छव्योमविभाकरश्रीरामसेनभट्टारकाणाम् ।"

इसमे जिन रामसेनको पुन्नाटगच्छके सूर्य वासवसेनका पट्टालकारहार सूचित किया है उनके तीन विशेषण दिये हैं—एक 'निर्विकार', दूसरा कर्मसिद्धान्तपारावरविगाहनरसिक' और तीसरा 'लाट-गच्छव्योम-प्रभाविभाकर'। पहला उनकी निर्दोषचरित्रताका, दूसरा कर्मसिद्धान्त-

---

१. "अर्हद्वली माघनन्दी धरसेन• पुष्पदन्तः भूतवलि• जिनचन्द्र कुन्द-कुन्दाचार्य उमास्वामी समन्तभद्रस्वामी शिवकोटि• शिवायन पूज्यपादः एला-चार्यः वीरसेन जिनसेनः नेमिचन्द्रः रामसेनश्चेति प्रथमाऽङ्ग-पूर्वभागज्ञाः।"

२ यह 'विरुदावली' दिल्लीके पचायती जैन मन्दिरके एक बहुत बड़े गुटके-से पं० परमानन्दजी शास्त्रीको प्राप्त हुई है, जो कुछ अशुद्ध जान पड़ती है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओंका बहुत बड़ा समावेश है, जिनकी पूरी जाच-पड़ताल होकर समयादिकके स्पष्टीकरणपूर्वक यह पट्टावली शीघ्र प्रकाशित की जानी चाहिये। इसकी दूसरी प्रति उदयपुरके शास्त्रभण्डारमें बताई जाती है।

सागरावगाहनरूप विद्यारसिकताका द्योतक है और तीसरा उन्हें लाट-गच्छरूप आकाशका चन्द्रमा प्रकट करता है। अन्तिम विशेषणसे यह ध्वनित होता है कि रामसेन वासवसेनके दीक्षित शिष्य नहीं थे। दीक्षा-का विषय उनका दूसरे गच्छ अथवा संघसे सम्बन्ध रखता है, जिसे लाट गच्छ कहो या काष्ठासघ कहो। विरुदावलीके पूर्वकथनानुसार वासवसेन-ने जो कि हरिवंशकार जिनसेनके पट्टान्वयके एक बहुत बडे विद्वान एवं ग्रंथकार थे, पुत्र-पौत्रके व्यामोहको छोडकर वृद्धावस्थामें महाव्रतका भार ग्रहण किया था[१]। इससे ऐसा मालूम होता है कि वे सभवत अपने अनुरूप कोई अच्छा प्रौढ शिष्य उत्पन्न नही कर सके और इसलिये उन्होने काष्ठासघी रामसेनकी विद्वत्ता, सच्चरिता और क्षमता आदि पर मुग्ध होकर उन्हें ही अपने पट्टका भी भार सुपुर्द किया है। इसीसे रामसेन यहाँ दो गच्छों अथवा सघोंके सगमरूपमे स्थित हैं और वे ही रामसेन जान पडते हैं जिनका ऊपर काष्ठासघी नागसेनके शिष्यरूपमे उल्लेख किया गया है। रामसेनसे आगे दो पट्ट चले हैं। पहले पट्टमें नेमिसेनादिक हुए हैं। दूसरे पुन्नाटगच्छके पट्टपर रामसेनकी शिष्यपरम्परामें जयसेन सिद्धसेन, केशवसेन, महीन्द्रसेन, अनन्तकीर्ति, विजयसेन और चारित्रसेन हुए हैं; ऐसा उक्त विरुदावलीसे उनकी कुछ कृतियो-सहित जाना जाता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि चारित्रसेनके समयमे पुन्नाटगच्छ को भडारमे स्थित-स्थापित कर वहाँ समाप्त कर दिया गया और लाट-वर्गट (लाडवागड) नामका प्रथितगच्छ पृथ्वीपर प्रकट हुआ[२]—प्रसिद्धि-को प्राप्त हुआ।

'काष्ठासघके लाडबागडगणकी गुर्वावली' नामसे जो गुर्वावली अनेकान्तकी गतकिरण ३ मे प्रकाशित हुई है। उसमें जिन रामसेनका उल्लेख है वे भी उक्त रामसे न ही हैं और उनका विरुदावलीके क्रमानु-

---

१. "ततश्च पुत्र-पौत्र-व्यामोहं विहाय येन वृद्धत्वे बृहद्व्रतभारमादाय ज्ञानाव-वरणकर्म विज्जित्य सरस्वती प्रत्यक्षी चकार।" (विरुदावली)

२. यैश्च (चारित्रसेनै.) लाटवर्गटदेशे प्रतिबोधं विधाय मिथ्यात्व-मलस्य निरसनं चक्र ततः पुन्नाटगच्छ इति भाण्डागारे स्थिते लोके लाटवर्गटनामाभिधान पृथिव्यां प्रथित प्रकटीवभूव। (विरुदावली)

सार जिनसेन-वासवसेनके बाद ही अर्चन-स्मरण किया गया है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है —

जिनसेन यजे भक्त्या सेनं वासवपूर्वकम् ।
रामसेनमथाप्यन्यानष्टधार्चे सपर्यया ॥१६॥

यहाँ इन गुर्वावलियोंके सम्बन्धमे एक बात खास तौरसे प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि कभी-कभी इनमे दूसरे सघ, गण-गच्छादिके आचार्यो को भी अपनी भक्ति आदिके वश शामिल कर लिया जाता है, जैसे कि उक्त लाडवागडगणकी गुर्वावलीमे सेनगणके आचार्य समन्तभद्रादिको, देवसघके आचार्य अकलकादिको, पुन्नाटसघके आचार्य अमितसेन-जिनसेनादिको अपने गणमे शामिल किया गया है। इससे वे लाडवागड-गणकी उत्पत्तिके बाद उस गणमे उत्पन्न हुए अथवा उनका उन नामोके पूर्वाचार्योंसे भिन्न व्यक्तित्व था ऐसा आशय नहीं है, बल्कि यह आशय है कि लाडवागडगणने उन पूर्वगुरुओको भी अपने गणके गुरुरूपमे अपनाया है। और इसलिये काष्ठासघके सुप्रसिद्ध विद्वान रामसेनका यदि संघके नन्दीतट, लाट तथा लाडवागड जैसे गच्छोमे अलग-अलग उल्लेख पाया जाता है तो इतने मात्रसे वे एक दूसरेसे भिन्न नही हो जाते, उनका व्यक्तित्व एक ही समझना चाहिये।

इस प्रकार तत्त्वानुशासनके कर्त्ता रामसेनका गण-गच्छादिकी, गुणादिकी और ख्यातिकी दृष्टिसे यह विशेप परिचय है, जो उपलब्ध सामग्रीपरसे अपनेको प्राप्त हो सका है। हो सकता है कि इसके अवधारण मे कही कोई त्रुटि रही हो, जिसका सुधार अनुपलब्ध विशेष सामग्रीके प्रकाशमे आने पर ही हो सकेगा। ऐसे जटिल विपयोंके निर्णयमे साधन-सामग्रीकी विरलता बहुत ही खटकती है। समाजका ध्यान अपने लुप्तप्राय साहित्य को, जो विपुलमात्रामे उपेक्षित पडा हुआ है, खोज कर प्रकाशमे लानेकी ओर बहुत ही कम जान पडता है। इसीसे अनेक गुत्थियोके सुलझानेमे बहुत कुछ परिश्रम उठाना पडता है और फिर भी वे पूरी तौरपर अथवा यथेष्टरूपमे सुलझ नही पाती।

आशा है तत्त्वानुशासनकार रामसेनके समय और व्यक्तित्वादिके

निर्णयकी दिशामे यह जो अनुसधान-कार्य किया गया है उससे बहुतोका समाधान होगा और उनकी अनेक जिज्ञासाएँ शान्त तथा भूल-भ्रान्तियाँ दूर हो सकेंगी। साथ ही नये अनुसधानकार्यको प्रोत्साहन मिलेगा और वह विशेष प्रगति कर सकेगा। ऐसा होनेपर ही मैं अपने इस परिश्रमको सफल समझूँगा।

८. ग्रन्थका संक्षिप्त विषय-परिचय

यह अध्यात्म-विषयका एक बडा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है—भाषा और विषय-प्रतिपादन दोनो दृष्टियोसे महत्वपूर्ण है। ग्रन्थकी भाषा जहाँ सरल, प्राजल तथा सहज-बोधगम्य है वहाँ विषय-प्रतिपादन इतनी अधिक कुशलताको लिये हुए हैं कि पढते समय चित्त जरा भी नही ऊबता—रुचि उत्तरोत्तर बढती ही जाती है—और अध्यात्म-जैसा कठिन, दुर्बोध एव नीरस विषय भी सरल सुबोध तथा सरस जान पडता है। ऐसा मालूम होता हैं कि शब्द ही नही बोल रहे, शब्दोके भीतर ग्रन्थकारका हृदय (आत्मा) बोल रहा है और वह प्रतिपाद्य-विषयमें उनकी स्वत की अनुभूतिको सूचित करता है। स्वानुभूतिसे अनुप्राणित हुई उनकी काव्यशक्ति चमक उठी है और युक्तिपुरस्सर-प्रतिपादन शैलीको चार चाँद लग गए हैं। इसीसे यह ग्रन्थ अपने विषयकी एक बडी ही सुन्दर-सुव्यवस्थित कृति बन गया है, इस कहनेमे तनिक भी अत्युक्ति नही हैं। जबसे मुझे इस ग्रन्थका परिचय प्राप्त हुआ तभीसे मेरी रुचि इसके प्रति उत्तरोत्तर बढती गई और उसीने मुझे इसका प्रस्तुत भाष्य लिखनेके लिए प्रेरित किया है। इस ग्रन्थसे मुझे जो विशेष ज्ञानलाभ तथा आनन्द प्राप्त हुआ वह दूसरोको भी प्राप्त होवे, इसी एकमात्र लोकसेवाकी दृष्टि एव श्रुतसेवाकी भावनासे भाष्यका निर्माण हुआ है। ग्रन्थसे होनेवाले उपकारोंके लिए मैं आचार्यमहोदयका बहुत ऋणी हूँ, आभारी हूँ। और इसके लिए सबसे पहले उन्हे अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पण करता हुआ ग्रन्थका संक्षिप्त विषय-परिचय पाठकोके सामने उपस्थित करता हूँ।

संसारके सभी प्राणी नाना प्रकारके दु खोंसे सन्तप्त हैं। दु खोंसे छूटना चाहते हैं, परन्तु छूट नहीं पाते। क्योकि उन्हें दु खके कारणो तथा सुखकी प्राप्तिके साधनोंका ठीक परिज्ञान नही है, जिन्हें कुछ परिज्ञान है उनका उस पर श्रद्धान नहीं और जिन्हे श्रद्धान भी है उनका तदनुकूल आचरण नही—वे दु खके कारणोको दूर करने तथा सुखके कारणोको मिलानेका कोई प्रयत्न नही करते। अत यह ग्रन्थ प्राय. उन भव्य प्राणियोके दु खोको दूर कर उन्हे सच्चासुख प्राप्त करानेके उद्देश्यसे लिखा गया है जो उपदेश-ग्रहणकी पात्रता और अपने स्वाभाविक गुणोंको विकसित करनेकी योग्यता (शक्ति) को अपनेमे लिये हुए होते हैं (३)।

ग्रन्थमे सबसे पहले—मगलाचरण, ग्रन्थनिर्माण-प्रतिज्ञा, वास्तव-सर्वज्ञके अस्तित्व और लक्षण-निर्देशके भी अनन्तर—सर्वज्ञके कथनानुसार दु'खके कारण बन्ध और उसके हेतुओको, हेयतत्त्व तथा सुखके कारण मोक्ष (बन्धन-मुक्ति) और उसके हेतुओको उपादेय तत्त्व बतलाकर बन्धके स्वरूपका निर्देश किया गया है और उसे जीव तथा पौद्गलिक कर्मके प्रदेशोका परस्पर सश्लेप—सम्मिलन एवं एकक्षेत्रावगाहरूप अवस्थान—सूचित किया हैं। साथ ही यह भी सूचना की है कि वह बन्ध चार प्रकारका—प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश-बन्धके भेदसे-प्रसिद्ध है। (४-६) बन्धतत्त्वका जैनवाङ्मयमे एक बहुत बडा विभाग है और उस पर षट्खण्डागम, कषायप्राभृत तथा गोम्मटसारादि अनेक कर्मग्रन्थों और लाखो श्लोक-परिमाण धवला-जयधवलादि टीकाओकी रचना हुई है, विशेष जानकारीके लिए अपनी रुचि तथा आवश्यकताके अनुसार उन्हें देखलेनेकी प्रेरणा भी इस सूचनामे शामिल है।

बन्धका कार्य ससारको—एक भवसे दूसरा भव धारणरूप संसरण—परिभ्रमणको—बतलाया है और उसे ही सर्वदु खोका प्रदाता सूचित किया है। साथ ही द्रव्य-क्षेत्र-परिवर्तनादिके रूपमे उसके अनेक भेदोकी सूचना भी की गई है (७), जिनका विशेष वर्णन भी उक्त गन्थो

तथा अन्य जैन गन्थोमे उपलब्ध होता है। बन्धके मुख्यत अथवा सक्षेपतः तीन हेतु बतलाये हैं—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचरित्र —तीनोंके लक्षण देकर उनमें मिथ्यादर्शनरूप मोहको चक्रवर्ती राजा, मिथ्याज्ञानको मोहका मत्री और अहंकार-ममकारको, जो कि मोहके पुत्र हैं, मोहकी सेनाके नायक बताया है। साथ ही यह सूचित किया है कि इन दोनों के आधीन ही मोहकी सेनाका चक्रव्यूह दुर्भेद बना हुआ है (८-१३)—ममकार और अहंकार यदि न हो तो फिर मोहकी सेनाको जीतना अथवा उसके चक्करसे निकलना कुछ भी कठिन नहीं रहता[1]।

ममकार-अहकारसे राग-द्वेषकी, राग-द्वेषसे क्रोधादि कषायो तथा हास्यादि नोकषायोकी उत्पत्ति होकर किस प्रकार कर्मोंके बन्धनादिरूप संसारचक्र चलता है और यह जीव उसके चक्करमे पडा सदा भ्रमता ही रहता है, इसकी सूचना करते हुए (१६-१९) भव्यात्माको यह हित-कर उपदेश दिया है कि 'हे आत्मन्! तू इस दृष्टिविकाररूप मोहको, मिथ्याज्ञानको और ममकार तथा अहकारको अपना शत्रु समझ और इनके विनाशका उद्यम कर। इन मुख्य बन्ध-हेतुओका क्रमश. नाश हो जाने पर शेष राग द्वेषादि बन्ध-हेतुओंका भी विनाश हो जायगा और

---

१. एक अन्य ग्रन्थ के निम्न पद्य में, जिसे विद्यानन्दाचार्यने युक्त्यनुशासन (पद्य नं० २२) की टीकामें उद्धृत किया है और जो सम्भवत स्वामी समन्तभद्र-के तत्वानुशासनका पद्य जान पड़ता है, ममकार-अहकारको मोहराजा के सचिव (सहायक या मन्त्री) सूचित किया है और बतलाया है कि मोहराजा का राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप जितना भी परिकर—परिवार है उस सबको ये ममकार और अहंकार दोनों निरन्तर परिपुष्ट करनेमें तत्पर रहते हैं। और इस-लिये यदि इनको जीत लिया जाय या मार दिया जाय तो मोहका सारा परिवा पोषण-विहीन होकर क्षीणता को प्राप्त हो जाय और तब मोहका जीतना कुछ भी दुष्कर न रहे—

ममकाराऽहकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य।
रागादि-सकल परिकर-परिपोषण-तत्परौ सततम्॥

तब तू समस्त बन्ध-हेतुओके विनाशसे मुक्त हुआ फिर ससार-परिभ्रमण नही करेगा' (२०-२२)। बन्धके हेतुओका विनाश तभी बनता है जब मोक्षके हेतुओको अपनाया जाता है, क्योकि दोनो शीत तथा उष्ण स्पर्शकी तरह एक दूसरेके विरुद्ध हैं—एकसे बचनेके लिए दूसरेका आश्रय लिया जाता है (२३)।

वह मोक्षहेतु अथवा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्ररूप त्रितयात्मक है, जो निर्जरा और सवररूप परिणमता हुआ मोक्षफलको फलता है, ऐसा जिनेन्द्रभगवानने कहा है (२४), इसकी सूचना करते हुए सम्यग्दर्शनादिका अलग-अलग लक्षणादि दिया है और फिर मोक्षमार्गको निश्चय तथा व्यवहार दो नयोकी दृष्टिसे दो प्रकारका बतलाते हुए निश्चय मोक्षमार्गको साध्य और व्यवहार मोक्षमार्गको उसका साधन सूचित किया है (२८)। साथ ही निश्चय और व्यवहार दोनो नयोका सुन्दर एव व्यापक स्वरूप देकर (२९) उनके अनुरूप दोनो प्रकारके मोक्षमार्गो का अलग-अलग निर्देश किया है (३०-३२) और फिर दोनो प्रकारके मोक्षमार्गोको ध्यान-द्वारा साध्य बतलाते हुए ध्यानके अभ्यासकी सुधीजनोको खास तौरसे प्रेरणा की गई है (३३)।

इसके बादसे ही गून्थमे ध्यानका मुख्य विषय प्रारंभ रोता है, जिसके आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ऐसे चार भेद बतलाकर प्रथम दोको दुर्ध्यान एव मुमुक्षुओद्वारा त्याज्य और अन्तके दो ध्यानोको सद्ध्यान एव बन्धनोसे मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवालोके लिये उपादेय (ग्राह्य) सूचित किया है (३४)। अतीतकालमे जिन महानुभावोंने शुक्लध्यानको धारण किया है उनके निर्देश-द्वारा वज्रसहनन, पूर्वश्रुतज्ञता और उपशम तथा क्षपकश्रेणि चढनेकी क्षमता जैसी उस सामग्रीका ससूचन किया गया है जो शुक्लध्यानके लिये परमावश्यक है (३५), और फिर लिखा है कि 'इस क्षेत्र-कालमे उस प्रकारकी वज्रसहननादि-सामग्रीका अभाव होनेसे जो लोग शुक्लध्यानको ध्यानेमे असमर्थ हैं उन वर्तमानयुग

एव क्षेत्रके साधकोको लक्ष्यमे लेकर इस ग्रन्थमे धर्म्यध्यानका कथन किया जायगा (३६)। और इसलिये इस ग्रन्थका मुख्य विषय धर्म्यध्यान है, ऐसा समझना चाहिये।

धर्म्यध्यानके इच्छुक योगीको ध्याता, ध्येय, ध्यान, ध्यानफल, ध्यान-स्वामी, ध्यानक्षेत्र, ध्यानकाल और ध्यानावस्था इन आठका स्वरूप जानना चाहिये (३७), जो कि योगके साधनरूप उसके आठ अग हैं (४०)।[1] सक्षेपमे इन्द्रियो तथा मनका निग्रह करनेवाला 'ध्याता' कहलाता है, यथावस्थितवस्तु 'ध्येय' कही जाती है, एकाग्रचिन्तनको 'ध्यान' कहते हैं, निर्जरा तथा सवर ध्यानके फल हैं (३८) और जिस देश, काल तथा अवस्था (आसन-मुद्रादिक) मे ध्यानकी निर्विघ्नसिद्धि होती है वही ध्यानके लिये ग्राह्य क्षेत्र, काल, तथा अवस्था है (३९), ऐसा निर्दिष्ट करते हुए ग्रन्थमे आगे इन अगोका कुछ विवरण देनेकी सूचना की गई है (४०)। तदनुसार सबसे पहले ध्याताका विशेष लक्षण दिया है, जिसके विशेषणोमे यम-नियमादिरूप धर्माचरणकी अनेक कोटियोको शामिल किया गया है (४१-४५)।

ध्यानके स्वामी अप्रमत्त, प्रमत्त, देशसयत, (अविरत) सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानवर्ती जीवोको बतलाया है (४६) और इसलिये प्रथ-मके तीन गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि आदि जीव धर्म्यध्यानके अधिकारी नही, यह समझना चाहिये। धर्मध्यानके मुख्य और उपचारके भेदसे दो भेद किये गये हैं, जिनमे मुख्य धर्मध्यान अप्रमत्त-गुणस्थानवर्तियोके और औपचारिकधर्म्यध्यान शेष तीनके बनता है (४७), इस भेददृष्टिसे दोनो धर्म्यध्यानोका स्वामिभेद भी स्पष्ट हो जाता है।

---

१ पातञ्जल-योगदर्शनमें योगके जो आठ अग यम, नियम, आसन, प्राणा-याम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके रूपमें प्रसिद्ध हैं उनसे ये आठ अग प्राय: भिन्न जान पड़ते हैं। परन्तु इनके स्वरूपमें उन सबका मुख्य-गौण-दृष्टि तथा स्वरूपभेदादिके साथ समावेश हो जाता है, जैसे यम-नियमका धर्म्यध्यान तथा संवरमें, ध्यान-समाधिका ध्यानमें, आसनादिका ध्यानकी अवस्था एवं प्रक्रियामें अन्तर्भाव होता है।

सामग्रीके भेदसे ध्याताओ और उनके ध्यानोको तीन-तीन भेदोंमे विभक्त किया गया है—उत्तम, मध्यम, जघन्य। उत्तमसामग्रीके योगसे ध्यातामे उत्तमध्यान, जघन्यसामग्रीके योगसे जघन्य और मध्यमसामग्री-के योगसे मध्यम ध्यान बनता है (४८,४९)। ध्यानानुरूप ही ध्याताको उत्तम, मध्यम तथा जघन्य कहा गया है। साथ ही यह प्रतिपादित किया है कि विकल-श्रुतज्ञानी भी धर्म्यध्यानका ध्याता होता है, यदि वह स्थिर-मनवाला हो (५०)। इससे ध्यानकी सामग्रीका कितना महत्व है यह स्पष्ट जाना जाता है।

इसके बाद धर्मके लक्षणादि-भेदसे धर्म्यध्यानकी प्ररूपणा कीगई है–धर्मका जो लक्षण या स्वरूप जिस समय चिन्तनमें उपस्थित हो उस समय ध्यानको उसी प्रकारका धर्म्यध्यान बतलाया गया है। सबसे पहले सम्य-ग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मको लिया गया है, दूसरे, मोह-क्षोभसे विहीन आत्माका जो परिणाम उसे धर्मरूपमे ग्रहण किया गया है,तीसरे, वस्तुके स्वरूप-स्वभाव अथवा याथात्म्यको धर्म बतलाया है, और चौथे, उत्तम क्षमादिरूप दशलक्षण-धर्मका उल्लेख किया गया हैं (५१-५५)।

ध्यानका लक्षण और फल बतलाते हुए,परिस्पन्द-रहित-एकाग्रचिन्ता-निरोध को ध्यानका लक्षण प्रतिपादित किया है और उस ध्यानको सचित कर्मोंकी निर्जरा तथा नये कर्मोंके आस्रव-द्वारको रोकनेरूप सवरका हेतु निर्दिष्ट कर निर्जरा तथा सवर दोनोको ध्यानके फल सूचित किया है(५६)। तदनन्तर ध्यानके लक्षणमें प्रयुक्त हुए एक, अग्र,चिन्ता और निरोध शब्दोंके वाच्यार्थको अच्छे सुन्दर ढगसे स्पष्ट किया है (५७-६५)। इस स्पष्टी-करणमे दो एक बातें खास महत्वकी कही गई हैं—एक तो यह कि ध्यान के लक्षणमें 'एकाग्र' का ग्रहण व्यग्रताकी निवृत्तिके लिये है। वस्तुत. ज्ञान ही व्यग्र—विविध अग्रों-मुखो अथवा आलम्बनोंको लिये हुए—होता है, ध्यान नहीं। ध्यान तो एकमुख तथा एक आलम्बनको लिये हुए एकाग्र ही होता है (५९)। दूसरी यह कि विशुद्धबुद्धिका धारक योगी

जिससमय नाना आलम्बनोमे वर्तनेवाली चिन्ताको प्रत्याहृत करके —सब आलम्बनोसे खीचकर—केवल एक ही आलम्बनमे स्थिर करता है—अन्यत्र जाने नहीं देता—उस समय उसके 'चिन्तैकाग्रनिरोध' नामका योग बनता है, जिसे प्रसख्यान, समाधि तथा ध्यान भी कहते हैं, और जो इष्टफलका प्रदाता होता हैं (६०-६१)। तीसरी यह कि, निरोधका अर्थ जब 'अभाव' लिया जाता है तो वह चिन्तान्तरके—दूसरी चिन्ताओके—अभावरूप होता है, न कि चिन्तामात्रके अभावरूप, और इसलिये एक चिन्तात्मक होता है, अथवा चिन्ताओंसे रहित स्वसवेदनरूप कहा जाता है। शुद्ध-आत्मामे जो चिन्ताका नियन्त्रण अथवा अन्य चिन्ताओका अभाव है वह सब स्वसवेदनरूप ध्यान है (६४-६५)।

जो श्रुतज्ञान उदासीन—राग-द्वेपसे रहित उपेक्षामय—यथार्थ और अतिनिश्चल (एकाग्र) होता है वह ध्यानकी कोटिमे आजाता है, उसे स्वर्ग तथा मोक्षफलका दाता लिखा है और उसका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त बतलाया है(६६),जो कि एक विषयमे उत्तमसहननवालोकी दृष्टि-से निर्दिष्ट हुआ है—हीनसहननवालोका एक ही विषयमे लगातार ध्यान इतने समय तक नही ठहर सकता और इसलिये वह और भी कम काल-की मर्यादाको लिये हुए होता है।

ध्यान शब्दके निरुक्तिपरक अर्थोंको उपस्थित करते हुए, जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है, जो ध्यान करता है, जिसमे ध्यान किया जाता है अथवा जो ध्याति है—ध्येय-वस्तुमे परम स्थिरबुद्धि है—उस सबको ध्यान बतलाया है (६७); फिर इनका युक्तिपुरस्सर स्पष्टीकरण करते (६८,७०,७१) एव 'ध्याति'का लक्षण देते हुए (७२)उपसहाररूपमे कहा गया है कि इस प्रकार निश्चयनयकी दृष्टिसे यह कर्ता, करण, कर्म, अधि-करण और फलरूप सब ध्यान ही है (७३)। निश्चयनयसे पट्कारकमयी आत्मा ही ध्यान है (७४)और यह ठीक है, क्योकि निश्चयनयका स्वरूप ही 'अभिन्नकर्तृ-कर्मादिविषयो निश्चयो नय' इस ग्रथवाक्य(२९)के अनु-

नयाश्रित स्वरूपावलम्बी ध्यानको 'अभिन्नध्यान' और व्यवहार-नयाश्रित परावलम्बी ध्यानको 'भिन्नध्यान' कहते हैं। भिन्नध्यानमे जिसका अभ्यास परिपक्व हो जाता है वह निराकुलतापूर्वक अभिन्नध्यानमे प्रवृत्त होता है (९७)। इस पिछले वाक्यमे बड़े महत्वकी सूचना की गई है, जिसमे ध्यानका राजमार्ग स्थिर होता है और वह यही है कि पहले व्यवहार-नयाश्रित भिन्नध्यानके अभ्यासको बढाया जाय, तत्पश्चात् निश्चयनयाश्रित अभिन्नध्यानके द्वारा आत्माके स्वरूपमे लीन हुआ जाय। भिन्नध्यानमे परमात्माका ध्यान सर्वोपरि मुख्य है, जिसके सकल और निष्कल ऐसे दो भेद है—सकल परमात्मा अर्हन्त और निष्कल परमात्मा सिद्ध कहलाते हैं।

इसके बाद ग्रन्थमे योगके आठ अगोमेसे 'ध्येय' अगका विषय विशेष-रूपसे प्रारम्भ होता है और उसमे पहले ही भिन्नध्यानके चार ध्येयोकी सूचना की गई है, जिनके नाम हैं आज्ञा, अपाय विपाक और लोक-सस्थान। साथ ही इनके आगमानुसार एकाग्रचित्तसे चिन्तनकी प्रेरणा की गई है (९८)। आगमानुसार ये ध्येय-दृष्टिसे प्रकल्पित हुए धर्म्यध्यान-के चार भेद हैं, जैसा कि "आज्ञाऽपाय-विपाकसस्थान विचायाय (स्मृति समन्वाहार) धर्म्यम्" इस तत्त्वार्थसूत्र (९-३६) से जाना जाता है, और इसलिये धर्म्यध्यानके जिन प्रकारोका उल्लेख ग्रथमे पद्य ५१ से ५५ तक किया गया है उनसे ये चार भेद भिन्न हैं, जो आगम-परम्पराके अनुसार कहे गये हैं, जिसे 'आम्नाय' भी कहते हैं[1]। और इसलिये इनका अनुष्ठान जैन आम्नायके अनुसार ही होना चाहिये। मूलमे इनका कोई स्वरूप नहीं दिया गया, व्याख्यामें आगमानुकूल इनके स्वरूपकी कुछ सूचना की गई है और विशेष जानकारीके लिये मूलाचार, आर्षादि आगम-ग्रथो तथा तत्त्वार्थराजवार्तिकादि टीकाओको देखनेकी प्रेरणा भी कर दी गई है।

---

१. तदाज्ञापाय-सस्थान-विपाक-विचयात्मकम ।
चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नायवेदिभिः ॥ (आर्ष २१,१३४)

ध्येयके दूसरे चार प्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे बतलाये गये हैं और यह सूचना की गई है कि आत्मज्ञानी इन सबको अथवा इनमेसे चाहे जिसको अपनी इच्छानुसार ध्यानका विषय (ध्येय) बना सकता है (९९)। वाच्यके वाचकको 'नाम,' प्रतिमाको 'स्थापना,' गुण-पर्यायवान्को द्रव्य,' और गुण तथा पर्याय दोनोको 'भाव' ध्येय कहते हैं (१००), ऐसी इनके स्वरूपकी संक्षिप्त सूचना करने के अनन्तर नाम ध्येयके निरूपणमे अर्हं, अ सि आ उ सा, अ इ उ ए ओ, णमो अरिहताण नामक सप्ताक्षर महामन्त्रके ध्यानकी विधि-व्यवस्था की गई है। हृदयमे ऐसे अष्ट दल-कमलको ध्यानेकी प्रेरणा की गई है जो पृथ्वीमडलके मध्यमे स्थित है, जिसके दल क्रमश आठ वर्गोसे—स्वर, क, च, ट, त, प, य, श वर्गके अक्षरोसे—पूरित हो, कर्णिकामे जिसकी 'अर्हं' नाम अधिष्ठित हो, जो गणधर वलयसे युक्त और 'ह्रीं' बीजाक्षरकी तीन परिक्रमाओसे वेष्ठित हो। साथ ही अकारसे हकार-पर्यन्त अक्षरोको भी, जो अपने-अपने मण्डलको प्राप्त हुए परमशक्तिशाली मन्त्र हैं, ध्येय बतलाया गया है और उन्हें दोनो लोकोंके फलप्रदाता लिखा है (१०१-१०७)। अन्तमे नामध्येयके प्ररूपणका उपसहार करते हुए लिखा है कि 'इन अर्हन्मन्त्र-पुरस्सर मन्त्रोको आदि लेकर और भी मन्त्र हैं जिन्हें मान्त्रिक ध्याते हैं, उन सबको भी स्पष्टरूपसे नामध्येय समझना चाहिये(१०८)। ऐसे बहुत से मन्त्र आर्ष, ज्ञानार्णव योगशास्त्र तथा विद्यानुशासनादि ग्रन्थोसे जाने जा सकते हैं।

स्थापना-ध्येयके निरूपणमे केवल इतना ही कहा है कि जिनेन्द्रके प्रतिबिम्बोको, चाहे वे कृत्रिम हो या अकृत्रिम, उस रूपमे ध्याना चाहिये जिसरूपमें उनका आगममे वर्णन है (१०९)।

द्रव्यध्येयका निरूपण करते हुए सबसे पहले द्रव्य-सामान्यको ध्यानका विषय बनानेकी प्रेरणा की गई है। द्रव्यका सामान्य स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, वह जैसे एक द्रव्यका स्वरूप है वैसे ही सब द्रव्योका स्वरूप है और जैसे वह एक समयवर्ती है

वैसे ही सर्वसमयवर्ती है अर्थात् प्रत्येक द्रव्यका उक्त सामान्यस्वरूप प्रतिक्षण रहता है और उसीसे द्रव्यका द्रव्यत्व वना रहता है। इस तत्त्वको ध्यानका विषय वनानेकी प्रेरणा की गई है (११०)। साथ ही तत्त्वको 'याथात्म्य' के समकक्ष रखकर उसके स्वरूपका निर्देश किया गया है (१११)। द्रव्यको अनादिनिधन वतलाया है, इससे कोई द्रव्य कभी उत्पन्न नही हुआ और न कभी नाशको प्राप्त होगा। हाँ, द्रव्यमे जो स्वपर्यायें है वे जलमे जल-कल्लोलोकी तरह ऊपरको उठती तथा नीचेको वैठती रहती हैं (११२), यही द्रव्यका प्रतिक्षण स्वाश्रित उत्पाद-व्यय है, जो उसके लक्षणका अग वना हुआ है। इसके वाद द्रव्यका अपने त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायोके साथ और गुण-पर्यायोका अपने सदा ध्रौव्य-रूपसे स्थित रहनेवाले द्रव्यके साथ अभेद प्रदर्शित किया गया है—कहा गया है कि जो वे हैं वही यह द्रव्य है और जो यह है वही वे गुण-पर्यायें है(११३)। द्रव्यमे गुण सहवर्ती और पर्यायें क्रमवर्ती हैं। द्रव्य इन गुण पर्यायात्मक है और ये गुण-पर्यायें द्रव्यात्मक हैं—द्रव्यसे गुण-पर्याय जुदे नही और न गुण-पर्यायोसे द्रव्य कोई जुदी वस्तु है (११४)। इस प्रकार यह 'द्रव्य' नामकी वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्यय-रूप है तथा अनादिनिधन है वह सव यथावस्थितरूपमें ध्येय है—ध्यान का विषय है (११५)।

भावध्येयके निरूपणमे केवल इतना ही कहा गया है कि जिस द्रव्यमे जो अर्थपर्यायें तथा व्यंजनपर्यायें और जो मूर्तिक तथा अमूर्तिक गुण जहाँ जैसे अवस्थित हैं उनका वहाँ उसी रूपमे ध्याता चिन्तन करे (११६)। अर्थपर्यायें सव द्रव्योंमे होती हैं, जव कि व्यजनपर्यायें केवल जीव तथा पुद्गलद्रव्योसे ही सम्वन्ध रखती हैं। ये व्यजनपर्यायें स्थूल, वचनगोचर प्रतिक्षण-विनाशरहित तथा कालान्तरस्थायी होती हैं, जव कि अर्थपर्यायें सव सूक्ष्म तथा प्रतिक्षणक्षयी होती हैं।

द्रव्यके जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे मूल

छह भेद जैनागममे प्रसिद्ध हैं। ग्रन्थमे उनका उल्लेख करते हुए 'जीव' के स्थानपर 'पुरुष' शब्दका प्रयोग किया गया है और उसे ध्येयतम वतलाया है (११८), जिसके दृष्टि-विशेषका स्पष्टीकरण व्याख्यामे किया गया है। साथ ही व्याख्यामे इन सबके लक्षण-स्वरूपादिका सक्षिप्त सार भी दे दिया है। इन सब द्रव्योमे सबसे अधिक ध्यानके योग्य पुरुषात्माको वतलाया है, जो ज्ञानस्वरूप है; क्योकि ज्ञाताके होने पर ही ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है (११७,११८)। आत्माके ध्यानोंमे भी वस्तुत (व्यवहारध्यानकी दृष्टिसे) पचपरमेष्ठि ध्यान किये जानेके योग्य हैं, जिनमे चार—अर्हन्त-आचार्य-उपाध्याय-साधु-परमेष्ठी शरीरसहित होते हैं और सिद्धपरमेष्ठी शरीररहित(११९)। तदनन्तर सिद्धात्मध्येयका स्वरूप तीन पद्योमे तथा अर्हदात्मक ध्येयका स्वरूप छह पद्योमे दिया गया है और अर्हन्तदेवके ध्यानका फल वतलाते हुए लिखा है कि मुमुक्षुओके द्वारा ध्यान किया गया यह अर्हन्तदेव वीतराग होते हुए भी उन्हें स्वर्ग तथा मोक्षफलका दाता है। उसकी वैसी शक्ति सुनिश्चित है (१२९)। आचार्यादि परमेष्ठियो-के ध्येयस्वरूप-विषयमे इतना ही कहा गया है कि जो सम्यग्ज्ञानादिसे सम्पन्न हैं, जिन्हे सात ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं और जो आगमोक्त लक्षणो-से युक्त हैं—क्रमश ३६,२५ तथा २८ मूलगुणोके धारक है—ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यानके योग्य हैं (१३०)।

इस प्रकार नाम आदिके भेदसे चार प्रकारके ध्येयका वर्णन समाप्त कर फिर प्रकारान्तरसे यह कहा गया है कि 'अथवा 'द्रव्य' और 'भाव' के भेदसे वह ध्येय दो प्रकारका अवस्थित है' (१३१)।

इस द्विविध-ध्येय-प्ररूपणमे स्वात्मासे भिन्न जितने भी वाह्य पदार्थ हैं, चाहे वे चेतन हो या अचेतन, सब 'द्रव्यध्येय' की कोटिमे स्थित हैं और 'भावध्येय'मे उन सब ध्यान-पर्यायोका ग्रहण है जिनमे ध्याता ध्येय-सदृश परिणमन करता है (१३२)। जब द्रव्य ध्येयका रूप ध्यानमे पूरी तरह स्थिरताको प्राप्त होता है तब वह ध्येयके वहाँ मौजूद न

होते हुए भी ध्याता आत्मामे आलेखित—उत्कीर्ण अथवा प्रतिविम्बित—जैसा प्रतिभासित होता है (१३३)। ध्येय पदार्थ चू कि ध्याताके शरीरमे स्थित रूपसे ही ध्यानका विषय किया जाता है इसीसे कुछ आचार्योंने इस द्रव्यध्येयको 'पिण्डस्थध्येय' कहा है (१३४)।

भावध्येयका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिस समय ध्याता-ध्यानके वलसे शरीरको शून्य वनाकर ध्येय-स्वरूपमे आविष्ट होजानेसे अपनेको तत्सदृश वना लेता है उस समय उस प्रकारकी ध्यान-सवित्ति-से भेद-विकल्पको नष्ट करता हुआ वह ही परमात्मा, गरुड अथवा कामदेव होजाता है (१३५-१३६)—इनमेसे चाहे जिस ध्येयका भी ध्यान हो ध्याता उसी रूप वन जाता तथा क्रिया करने लगता है। यही भावध्येयका सार है[1]। ध्येय और ध्याता दोनोका जो यह एकी-करण है उसको 'समरसीभाव' कहते हैं। यही एकीकरण समाधिरूप ध्यान है, जो दोनो लोकके फलका प्रदाता है (१३७)। इस द्विविध ध्येयके कथनका उपसहार करते हुए, एक वात वडे ही महत्वकी कही गई है, जो प्रस्तुतध्येयके मौलिक सिद्धान्तका निरूपण करती है, और वह यह कि 'कोई भी वाह्य वस्तु इस ध्यानका विषय वनाई जा सकती है' वशर्ते कि उसके यथार्थस्वरूपके परिज्ञान और श्रद्धानके साथ राग-द्वेषादिकी निवृत्तिरूप मध्यस्थभाव जुडा हुआ हो (१३८)। मध्यस्थभावका स्पष्टीकरण समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, प्रशम और शान्ति जैसे शब्दो के द्वारा, उन्हे एकार्थक वतलाते हुए, किया गया है (१३९)।

इसके वाद व्यवहारनयकी दृष्टिसे ध्येय-विषयक जो सक्षिप्त कथन यहाँ किया गया है, उसे विस्ताररूपमे परमागमसे जाननेकी प्रेरणा करते हुए यह भी सूचित कर दिया गया है कि पच परमेष्ठियोंके ध्यानमे

---

१ यहाँ परमात्मा, गरुड तथा कामदेव के ध्यानका उल्लेख उदाहरणके रूप-में है, इस विषयका दूसरा कितना ही वर्णन एवं समूचन समरसीभावकी सफलताको प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थमें आगे पद्य १९७ से २१२ तक दिया है।

इस प्रकारके ध्यानका सब कुछ विषय आजाता है (१४०)। और यह ठीक ही है अर्हदादि पचपरमेष्ठियोके ध्यानके वाद ऐसा कोई विषय ध्यानके लिए शेष नही रहता जो आत्म-विकासमे विशेष सहायक हो।

परावलम्बनरूप व्यवहार-ध्यानको समाप्त कर स्वावलम्बनरूप निश्चयध्यानका निरूपण करते हुए कितनी ही आवश्यक एव महत्त्वकी सूचनाए तथा प्रेरणाए की गई हैं, जिनमेसे कुछका सार इस प्रकार है —

(१) स्वावलम्वी ध्यानेच्छुकको चाहिए कि वह स्व तथा परको यथावस्थितरूपमे जानकर तथा श्रद्धानकर परको निरर्थक समझते हुए छोडे और फिर स्वके ही जानने-देखनेमे प्रवृत्त रहे। इसके लिए पहले श्रुत(आगम)की भावनाओसे आत्मामे आत्मसस्कारोको आरोपित करे, तदनन्तर उस सस्कारित स्वात्मामें एकाग्रता (तल्लीनता) प्राप्त करके और कुछ भी चिन्तन न करे (१४१-१४४)।

(२) जो ध्याता निर्विकल्प ध्यान न वननेके भयसे श्रौतीभावनाका अवलम्बन नही लेता वह अवश्य ही मोहको प्राप्त होता तथा वाह्य चिन्तामे पडता है। अत. मोहके विनाश, वाह्यचिन्ताकी निवृत्ति और एकाग्रताकी सिद्धिके लिए पहले श्रौती-भावनाका अवलम्बन लेना जरूरी है (१४५-१४६)।

(३) श्रौती-भावनाका रूप पद्य न० १४७ से १५९ तक दिया है, जिसमे आत्माके अन्यसे भिन्न चिन्तनके प्रकारोका वडा ही सुन्दर निर्देश है और वह इतना सक्षिप्त है कि उसका सार प्राय नही वनता। अत उसे मूलग्रन्थ तथा उसकी व्याख्यासे ही जानना चाहिए। यहाँ नमूनेके तौर पर तीन पद्योका केवल अनुवाद दिया जाता है —

"शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ, (क्योंकि) मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन है, यह शरीर अनेकरूप है, मैं एकरूप हूँ, यह क्षयी (नाशवान) है, मैं अक्षय (अविनाशी) हूँ" (१४९)।

"अचेतन (कभी) मैं (आत्मा) नही होता, न मैं अचेतन होता हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा कोई नही है, और न मैं किसी दूसरे का हूँ।" (१५०)

"इस ससारमे मेरा शरीरके साथ जो स्व-स्वामि-सम्बन्ध हुआ है—शरीर मेरा स्व और मैं उसका स्वामी बना हूँ—तथा दोनोमे एकत्वका जो भ्रम है वह सब भी परके निमित्तसे है, स्वरूपसे नही।" (१५१)

(४) स्वसवेदनका लक्षण देकर यह बतलाया है कि वह स्व-पर-ज्ञप्तिरूप होनेसे उसका स्वात्मासे भिन्न दूसरा कोई करण नही होता। (१६१,१६२) और फिर स्वसवेद्य आत्माका स्वरूप तीन पद्यो (१६३-१६५)मे देकर यह सहेतुक सूचित किया है कि वह इन्द्रियज्ञान तथा मनसे दिखाई देनेवाला नही और न तर्क करनेवाले उसे देख पाते हैं (१६६)। इन्द्रियो तथा मनका व्यापार रुकने पर अतीन्द्रिय ज्ञान स्पष्ट होता है। अत अपने स्वसवेद्य रूपको स्वसवित्तिके द्वारा देखना चाहिये, जिसे स्वय दिखाई देनेवाली ज्ञानरूपा चेतना बतलाया है (१६७,१६८)।

(५) समाधिमे स्थित हुआ योगी यदि आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव नही करता तो उसका वह ध्यान आत्मध्यान न होकर मूर्छाको लिये हुए मोह समझना चाहिये (१६९)।

(६) ज्ञानस्वरूप आत्माको अनुभव करता हुआ योगी निर्वातदेशस्थ दीपककी तरह परम एकाग्रताको तथा उस स्वात्माधीन आनन्दको प्राप्त होता है जो वचनके अगोचर है। उस समाधिकालमे परमएकाग्रताके कारण बाह्य पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी योगीको अन्य कुछ भी प्रतिभासित नही होता। अन्यसे शून्य होता हुआ भी वह स्वरूपसे शून्य कभी नही होता—आत्माका ज्ञानस्वरूप उसकी अनुभूतिमे बराबर बना रहता है (१७०-१७३)।

(७) मुक्तिके लिये नैरात्म्याद्वैतदर्शनकी उक्तिका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि 'यह अन्यके प्रतिभाससे रहित जो आत्माका सम्यक् अव-

लोकन है वही नैरात्म्याद्वैतदर्शन है।' अन्यात्मरूपके अभावका नाम 'नैरात्म्य' है और वह स्वात्माकी सत्ताको लिये हुए होता है अत. एकमात्र स्वात्माके दर्शनका नाम ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है। जो योगी स्वात्माको अन्यसे सयुक्त देखता है वह द्वैतको देखता है और जो अन्य सब पदार्थोंसे, जो कथचित परस्पर परावृत्त हैं, आत्माको विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है (१७४-१७७)।

(८) अहकार-ममकारके भावसे रहित योगी, एकाग्रतासे आत्माको देखता हुआ, आत्मामें सचित हुए कर्ममलोका जहाँ विनाश करता है वहाँ आने-वाले कर्ममलोको भी रोकता है—और इस तरह विना किसी विशेष प्रयत्नके सवर तथा निर्जरा दोनो रूप प्रवृत्त होता है(१७८)। इस प्रकार एकाग्रतासे आत्मदर्शनके ये दो फल हैं। ये दोनो फल एक ही शुद्धात्मभाव-की दो शक्तियोंके कारण उसी प्रकार घटित होते हैं जिस प्रकार सचिक्क-णताका अभाव हो जाने पर पहलेसे चिपटी हुई धूलि स्वय झड जाती है और नई धूलिको आकर चिपटनेका कोई अवसर नहीं रहता।

(९) इस नैरात्म्याद्वैत दर्शनको धर्म्य और शुक्ल दोनो ही ध्यानोका ध्येय बतलाते हुए विशिष्ट ज्ञानियोको स्थूल वितर्कका अवलम्बन लेकर इसके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है (१८०-१८२)। साथ ही अभ्यासके क्रमको अति संक्षिप्त सूचनामात्र विधि पांच पद्योमे निर्दिष्ट की गई है, जिसमे आत्माको निर्दिष्टलक्षण अर्हन्तके रूपमें अथवा सिद्धके रूपमें ध्यानेका विधान है (१८३-१८७)।

(१०) जो वस्तु जिसरूपमें स्थित है उसे उसरूपमे ग्रहण न करके विपरीतरूपमे ग्रहण करना भ्रान्तिका सूचक होता है। अत अपना आत्मा जो अर्हन्त नहीं उसे अर्हन्त-रूपमे ध्यानकरनेवाले आप जैसे सत्यपुरुषोके क्या भ्रान्तिका होना नही कहा जायगा ? ऐसी शिष्यकी शकाका उल्लेख करके (१८८) आगे अनेक पद्योमे उसका सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया गया है, जिसमे सबसे पहले मुख्य बात यह कही

गई है कि हमारे उक्त ध्यान-कथनमे 'भाव अर्हन्त' विवक्षित है—द्रव्यअर्हन्त नही। जो आत्मा अर्हद्ध्यानाविष्ट होता है—अर्हन्तका ध्यान करते हुए उसमे पूर्णत: लीन होजाता है—वह उस समय भावसे अर्हन्त होता है, उस भाव-अर्हन्तमे ही अर्हन्तका ग्रहण है। अतः 'अतस्मिंस्तद्ग्रह.' का —जो जिसरूपमे नही उसे उसरूपमे ग्रहणका—दोष नही आता (१८९)। जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भावके साथ तन्मय होता है। अत अर्हद्ध्यानसे व्याप्त आत्मा स्वय भाव-अर्हन्त होता है (१९०)। आत्मज्ञानी आत्माको जिसभावसे जिसरूप ध्याता है उसके साथ वह उसी प्रकार तन्मय हो जाता है जिस प्रकार कि उपाधिके साथ स्फटिक (१९१)।

(११) अथवा सर्वद्रव्योमें भूत और भावी स्वपर्यायें तदात्मक हुई द्रव्यरूपसे सदा विद्यमान रहती हैं। अत यह भावी अर्हत्पर्याय भव्यजीवोमे सदा विद्यमान है, तव इस सत्रूपसे स्थित अर्हत्पर्यायके ध्यानमे विभ्रमका क्या काम ? (१९२, १९३)। यदि किसी तरह इस ध्यानको भ्रान्तरूप मान भी लिया जाय तो इससे फलका उदय नही वन सकेगा; क्योकि मिथ्याजलसे कभी तृष्णाका नाश नही होता—प्यास नही बुझती। किन्तु इस ध्यानसे ध्यानवर्तियोके धारणाके अनुसार शान्तरूप और क्रूररूप अनेक प्रकारके फल उदयको प्राप्त होते हैं—ऐसा देखनेमे आता है (१९४, १९५)।

(१२) उक्त ध्यानके फलका स्पष्टीकरण करते हुए उसे मुक्ति तथा भुक्तिका प्रदाता लिखा है। चरमशरीरियोके लिये वह मुक्तिका और दूसरोंके लिए भुक्तिका कारण वनता है, जो उस ध्यानसे विशिष्ट पुण्यका उपार्जन करते है। ज्ञान, श्री, आयु, आरोग्य, तोष, पोष, शरीर, धैर्य तथा और भी जो कुछ प्रशस्तरूप वस्तुएँ इस लोकमे हैं वे सब ध्याताको इस ध्यानके वलसे प्राप्त होती हैं। उस अर्हन्त अथवा सिद्धके ध्यानसे व्याप्त आत्माको देखकर महाग्रह—सूर्य-चन्द्रमादि—कप्रकम्पित होते हैं, भूत तथा

शाकिन्यां नाशको प्राप्त हो जाती हैं—अपना कोई प्रभाव जमाने नही पाती—और क्रूरजीव क्षणमात्रमे क्रूरता छोडकर शान्त बन जाते हैं (१९६–१९९)।

(१३) ध्यान-द्वारा कार्य-सिद्धिके व्यापक सिद्धान्तका निरूपण करते हुए बतलाया है कि जो जिस कर्मका स्वामी अथवा जिस कर्मके करनेमे समर्थ देवता है उसके ध्यानसे व्याप्तचित्त हुआ ध्याता उस देवतारूप होकर अपने वाछित कार्यको सिद्ध करता है (२००)। इसके बाद वैसे (तद्देवतामय) कुछ ध्यानो और उनके फलोका निर्देश किया गया है, जिसमे पार्श्वनाथ, इन्द्र, गरुड, कामदेव, वैश्वानर, अमृत और क्षीरोदधि-रूप ध्यानो तथा उनके फलोका खास तौरसे उल्लेख है (२०१-२०८)। और उपसहारमे यह सूचित किया गया है कि 'इस विषयमे बहुत कहने से क्या ? यह योगी जो भी काम करना चाहता है उस कर्मके देवतारूप स्वय होकर उस-उस कार्यको सिद्ध करलेता है। शान्ति कर्मके करनेमे वह शान्तात्मा और क्रूरकर्मके करनेमे क्रूरात्मा होता हुआ दोनो प्रकार-के कार्योंको सिद्ध करता है (२०९, २१०)।

(१४) उक्त शका-समाधानका उपसहार करते हुये बतलाया है कि 'ध्यानका अनुष्ठान करनेवालोके आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्रावण, निर्विषीकरण, शान्तिकरण, विद्वेषण, उच्चाटन-निग्रह इत्यादि कार्य दिखाई पड़ते हैं। अत समरसीभावके सफल होनेसे विभ्रम (भ्रान्ति) की कोई बात नही है (२११, २१२)।

(१५) ध्यानके परिवार की सूचना करते हुए लिखा है कि पूरण कुम्भन, रेचन, दहन, प्लवन, सकलीकरण, मुद्रा, मत्र, मडल, धारणा, कर्मके अधिष्ठाता देवोका सस्थान-लिङ्ग-आसन-प्रमाण-वाहन-वीर्य-जाति-नाम-ज्योति-दिशा-मुखसख्या-नेत्रसंख्या-भुजासख्या-क्रूरभाव-शान्तभाव - वर्ण-स्पर्श-अवस्था-वस्त्र-भूषण-आयुध इत्यादि और जो कुछ शान्त तथा क्रूरकर्मके लिये मन्त्रवादादि ग्रन्थोमें कहा गया है वह सब ध्यानका

चूँकि मोक्षसुखकी तुलनामे ससारका वडेसे वडा सुख भी नगण्य है इस लिये धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुपार्थोंमे मोक्षपुरुषार्थको उत्तम माना गया है। यह मोक्षपुरुपार्थ किनके वनता है—कौन इसके स्वामी अथवा अधिकारी हैं ? इस शकाका समाधान करते हुए यह स्पष्ट घोपणा की गई है कि यह मोक्षपुरुपार्थ स्याद्वादियो–अनेकान्तवादियोंके ही वनता है, एकान्तवादियोके नही, जो कि अपने शत्रु आप होते हैं (२४७)। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने एकान्तग्रह-रक्तोको स्व-पर-वैरी वतलाया है और यह स्पष्ट घोपणा की हैं कि उनके कुशल (सुखहेतुक) और अकुशल (दु खहेतुक) कर्मकी तथा लोक-परलोकादिकी कोई व्यवस्था नही वनती १। एकान्तवादियोके वन्ध, मोक्ष, वन्धहेतु और मोक्षहेतु यह चतुष्टय भी नही वनता,क्योकि इन चारोमे व्याप्त होनेवाले तत्त्वको-अनेकान्तको—वे स्वीकार नही करते (२४८)। इसके वाद वन्धादि-चतुष्टयके न वननेका सहेतुक स्पष्टीकरण किया गया है (२४९-२५१) और फिर यह सूचित किया गया है कि चूँकि घर्मादि चतुष्टयरूप पुरुपार्थमे ही नही किन्तु इस वन्धादिचतुष्टयमे भी जो सार पदार्थ है वह मोक्ष है और वह ध्यानपूर्वक होता है—ध्यानाराधनाके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं वनता—यह मानकर ही मेरे द्वारा ध्यान-विषय ही थोडा प्रपचित हुआ अथवा कुछ स्पष्ट किया गया है (२५२)।

अन्तमे ग्रन्थकारमहोदयने ध्यान-विषयकी गुरुता और अपनी लघुता व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि यह ध्यान-विपय अत्यन्त गम्भीर है और मेरे जैसोकी यथेष्ट पहुँचसे वाहरकी वस्तु है, तो भी ध्यान-भक्तिसे प्रेरित हुआ मैं इसमे प्रवृत्त हुआ हूँ। इस रचनामे छद्मस्थताके कारण अर्थ तथा शब्दोके प्रयोगमे जो कुछ स्खलन हुआ हो या त्रुटि रही हो उसके लिये श्रुतदेवता मुझ भक्तिप्रधानको क्षमा करें(२५३, २५४)। साथ ही

१. कुशलाऽकुशल कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेपु नाथ स्व-पर-वैरिषु। (देवागम ८)

भव्यजीवोको बडा ही महत्त्वपूर्ण आशीर्वाद दिया है और वह यह कि 'वस्तुके याथात्म्य(तत्त्व)का विज्ञान श्रद्धान और ध्यानरूप सम्पदाएँ भव्यजीवोंको अपने स्वरूपकी उपलब्धिके लिए कारणीभूत होवें (२२५)। इसके बाद ग्रन्थकी प्रशस्ति और अन्त्यमगल है, जिसका कितना ही परिचय प्रस्तावनाके प्रारम्भमे दिया जा चुका है।

६. ग्रन्थके अनुवाद और उनकी स्थिति

इस ग्रन्थपर सस्कृतादिकी कोई भी टीका उपलब्ध नही है और न उसके रचे जानेका कही कोई उल्लेख ही मिलता है। अनुवाद भी कोई पुराना सुनने या देखनेमे नहीं आया। माणिकचन्द दि० जैनग्रन्थमालामे मूलग्रन्थके प्रकाशित हो जानेके बाद सबसे पहले प० लालारामजी शास्त्रीने इसे हिन्दीमे अनुवादित किया है। यह हिन्दी-अनुवाद मूलसहित 'ग्रन्थत्रयी' नामके एक सग्रहग्रन्थकी आदिमे भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था कलकत्तासे वीरसंवत् २४४७ (सन् १९२१)के ज्येष्ठमासमें प्रकाशित हुआ है और उसे पं० पन्नालाल बाकलीवालने प्रकाशित किया है। इस मुद्रितप्रतिमे, जो ८० पृष्ठोपर है, मूलपाठ माणिचन्दग्रन्थमालामें मुद्रित प्रतिसे लिया गया है, बहुधा उसके अशुद्ध पाठोको ज्योका त्यों रहने दिया गया है, जैसे **मोहश्च प्राक् प्रकीर्तित.** (१२), **व्यग्र ह्यज्ञानमेव** (५९), **धातुपिण्डे** (१३४), **पार्श्वनाथोभवन्मत्री** (२०१), **आकार मरुता पूर्य** (१८४), **श्रीनागसेनविदुषा** (२५७)। कही-कही कुछ मोटी अशुद्धियोका सशोधन किया गया है, जो कही-कही ठीक बना है; जैसे 'अक्षमात्' का 'अक्षमान्' (३६), 'जय' का 'जप' (८०), 'धेय' का 'ध्येय' (१२२), 'नालभ्यते' का 'नालम्ब्यते' (१४५), 'भावार्ह' का 'भावार्हन्' (१९०), 'उद्य' का 'उद्यघ' (२५६)। और कही-कहीं ठीक नही बना, जैसे 'परम' का 'प्रशमः' के स्थानपर 'परमा' (१३९), 'अवादिसत्' का 'अवादि तत्'के स्थानपर 'अवादिक्षत्' (१४२), 'तैजसीमाथा' का 'तैजसीमाप्या' के स्थानपर तैजसीमार्पी। कही-कही

मुद्रित शुद्ध पाठको अशुद्धरूप भी दे दिया गया है; जैसे 'निष्पन्दलोचनो' को 'निष्पदलोचन' (९३) और 'सकलीकृतविग्रह' को 'सफलीकृतविग्रह' (२०१)।

मुद्रित मूलपाठकी अशुद्धियो, शुद्धको अशुद्ध वना देने और कहीं-कही अर्थका ठीक प्रतिभास न होनेके कारण इस अनुवादमे वहुतसी अशुद्धियो, गलतियो एव त्रुटियोको अवसर मिला है, जिनका ठीक आभास करानेके लिये ऐसे अनुवादोके कुछ नमूने पद्याङ्कसहित नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनमे कही-कही मूल-वाक्योको भी कोष्ठकके भीतर अनुवादके साथ दे दिया है, जिससे विज्ञपाठक सहज ही अनुवादकी स्थितिसे अवगत हो सकें, शेषके लिए मूलवाक्यो तथा उनके इस ग्रन्थमे दिये हुए अनुवादको तुलना करके देखना होगा :—

१. (पराऽपरगुरून्नत्वा)—"प्राचीन अर्वाचीन समस्त गुरुओको नमस्कार कर।"

१२ "वन्धके जितने कारण हैं उनमे सवसे पहले मोह वा मिथ्या-दर्शन ही कहा गया है, मिथ्याज्ञान तो केवल मन्त्रीपनेका काम करता है अर्थात् मिथ्याज्ञान दर्शनका सहायक है।"

५७ "एक, प्रधान, आलवन और मुख ये सव पर्यायवाचक शब्द हैं तथा चिंता, स्मृति, निरोध और उसका उसमें तल्लीन होना ये भी सव पर्यायवाचक शब्द हैं।"

५९. "क्योंकि व्यग्रता अज्ञान है और एकाग्रताको ध्यान कहते हैं।"

१०४. (इच्छन्दूरश्रवादिक)—"सुनाई देने आदि दोषोको दूर रखनेकी इच्छा करता हुआ।"

१०६. "अथवा जिसके मध्यमे क्षोणीमडल विराजमान है और जो मायासे तीन वार घिरा हुआ है ऐसे गणधरवलययन्त्रका ध्यान करे तथा उसकी पूजा करे।" (पूर्वपद्यसे असम्वद्ध)

१०८ (नामध्येयमवेहि तत्)—"उसे नामध्यान कहते हैं।" ऐसे ही आगे स्थापनादि ध्येय-विषयक पद्योमे 'ध्येय'का अर्थ 'ध्यान' किया है।

१०९ "इस ध्यानमे धातुपिंडमें ठहरा हुआ जो ध्येय पदार्थ है उसका ध्यान किया जाता है इसीलिए इस ध्यानको केवल ध्येय पिंडस्थ कहते हैं।"

१३८. "वहुत कहनेसे क्या ? ध्यान धारण करनेवालेको यह वात यथार्थ रीतिसे जान लेना चाहिये कि ससारमे जो कुछ ध्येय है वह मध्यस्थ कहलाता है" (माध्यस्थ्य तत्र बिभ्रता)।

१७९ "सम्यक् ध्यान करने वाला यह आत्मा ज्यो-ज्यो अपने आत्मामें स्थिर होता जाता है त्यो-त्यो उसकी समाधि वा निश्चल ध्यानका कारण भी स्पष्ट होता जाता है" (समाधिप्रत्ययाश्चाऽस्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा)।

१८३ "सवसे पहले पूरक वायुके द्वारा आत्माके आकारकी कल्पना करनी चाहिये फिर रेफरूपी अग्निसे स्थिर रहना चाहिये तथा अपने शरीरके द्वारा कर्मोंको जलाना चाहिये और अपने आप उसकी भस्मका विरेचन करना चाहिये।"

१८५. ......"अनुक्रमसे मारुती तैजसी और पार्थिवी धारणाका प्रारभ करना चाहिये।" ('आप्या' की जगह 'आर्थी' पाठ बनाकर उसका 'पार्थिवी' अर्थ किया गया है, जो कि वडा ही विचित्र जान पडता है। कही अग्रेजीके अर्थ (earth) शब्दसे तो यह 'आर्थी पद नही वनाया गया !!)

१८६ "तदनन्तर पाचो स्थानोमें धारण किये गये पाचो पिडाक्षररूप (पचपिडाक्षरान्वितै) पचनमस्कारमत्रसे समस्तक्रियाएँ पूर्ण करनी चाहियें" (विधाय सकलीक्रिया)।

२०१ "जैसे कि—महामुद्रा (ध्यानके आसन) महामत्र (अ सि आ उ सा) और महामडलका आश्रय कर मत्री मरुभूति अपने शरीरको सफल कर पार्श्वनाथ स्वामी हो गया।" (पूर्वाऽपर पद्योसे असम्बद्ध अर्थ, मान्त्रिकके स्थानपर मत्री मरुभूतिकी अन्यथा कल्पना और 'सकलीकृतविग्रह' को 'सफलीकृतविग्रह' बनाकर विपरीत अर्थका किया जाना, ये सब वातें यहाँ खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं।)

२०२ "यथायोग्य तैजसी आदि धारणाओंको धारण करने वाला योगी उदग्र (क्रूर) ग्रहोंका भी बहुत शीघ्र निग्रह आदि कर लेता है।" (पूर्वपद्यसे असम्बद्ध अर्थ।)

२०३ "महामण्डलके मध्यमें विराजमान यह योगी स्वयं इन्द्रकी कल्पना करता है तथा किरीट कुण्डलको धारण करने वाला वज्रास्त्र लिये हुए मह (?) की कल्पना करता है।"

२१२ "अतः समरसीभाव सफल हो जानेसे अर्थात् समरसीभावके पूर्ण प्रगट हो जानेसे उस योगीको किसी प्रकारका विभ्रम नहीं रहता।"

२४८ (तद्व्यापकमनिच्छताम्)—"क्योंकि वे इन चारोंको व्यापक नहीं मानते हैं।"

२४९ (अनेकान्तात्मकत्वेन व्याप्तावत्र क्रमाक्रमौ) "क्रम और अक्रम अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व और वक्तव्य अवक्तव्य ये दोनों अनेकान्तरूपसे ही व्याप्त है" ('अत्र'का विवक्षित अर्थ 'बन्धादिचतुष्टय'को छोड दिया गया और क्रम-अक्रमका विचित्र अर्थ प्रस्तुत किया गया!)

२५६-५७. "तथा पुण्यमूर्ति विजयदेव दीक्षागुरु थे तथा जिनके चारित्रकी कीर्ति चारो ओर फैल रही थी ऐसे एक नागसेन नामक मुनि हुए थे।" 'उन्ही अत्यन्त···नागसेनमुनिने······तत्त्वानुशासननामका ग्रन्थ बनाया।"

इन नमूनोपरसे पाठक स्वय समझ सकते हैं कि अनुवाद कहाँ तक मूलके अनुरूप हुआ है।

दूसरा हिन्दी अनुवाद श्री धन्यकुमार जैन एम० ए० इन्दौर-द्वारा निर्मित होकर 'अध्यात्मग्रन्थसग्रह' नामक एक सग्रहग्रन्थमे आचार्य सूर्यसागर-संघ मन्दसौर (मालवा) से वीर स० २४७२ (सन् १९४६) मे प्रकाशित हुआ है, जिसके प्रकाशक हैं श्रीलक्ष्मीचन्द वर्णी, ऐसा गुजराती अनुवाद के 'निवेदन' और 'वे बोल'परसे मालूम पडा है। प्रयत्न करनेपर भी यह अनुवाद अपनेको दिल्लीमे प्राप्त नही हो सका और श्रीधन्यकुमारजी

अपने पिता प० वशीधरजी न्यायालकारकी प्रेरणाको पाकर भी उसे भेज या भिजवा नही सके। इसीसे इस अनुवादका कोई परिचय नही दिया जा सका। गुजराती अनुवादके 'निवेदन' आदि परसे इतना जरूर मालूम पडा है कि गुजराती अनुवादके साथ मूलपाठ वही रक्खा गया है जो श्रीधन्यकुमारजीके द्वारा सम्पादित होकर उक्त अध्यात्मग्रन्थ-सग्रहमे प्रकाशित हुआ है और ग्रन्थका शीर्षक भी उसीके अनुसार "श्री-मन्नागसेनाचार्यप्रणीततत्त्वानुशासन' रक्खा है। इससे मालूम होता है कि मूलपाठकी कुछ अशुद्धियाँ इस द्वितीय अनुवादके समय भी, जो २५ वर्ष बाद हुआ है, स्थिर रही हैं और उनके कारण अनुवादमें कुछ अन्यथापन भी आया है।

तीसरा गुजराती अनुवाद मुनि श्रीतत्त्वानन्दविजयके द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जिन्हें उक्त अध्यात्मकग्रन्थसग्रहकी मुद्रित प्रति तो प्राप्त नहीं होसकी, उसपरसे उतारी हुई एक नकल प्राप्त हुई थी, जो उन्हे अनुवाद करते समय उपयोगी मालूम पडी है। इस नकलपरसे तत्त्वानु-शासनको पहली वार अवलोकन करके उनके हृदयमे जो भाव उत्पन्न हुआ उसे व्यक्त करते हुए वे अपने 'वे वोल' मे लिखते हैं :—

'तत्त्वानुशासन ग्रन्थको प्रथम वार जव अवलोकन किया तव उसका मनपर सुन्दर प्रभाव पडा और उस समय ऐसा लगा कि ध्यानमार्गके लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी होनेसे प्रत्येक मुमुक्षुके अध्ययनका विषय वनना चाहिए। इस विचारने समग्र ग्रन्थके गुजराती अनुवादके लिए प्रेरणा प्रदान की। ·· ग्रन्थकी रचना ग्रन्थकर्ताकी अगाधविद्वत्ताको स्वय वतला रही है।'

यह अनुवाद गुजराती लिपिमे ७० पृष्ठोपर मुद्रित है, जिसमे मूल-ग्रन्थको देवनागरी लिपिमे दिया है, और इसे श्री नवीनचन्द अम्बलाल शाह, एम० ए० मत्री 'जैनसाहित्य-विकास-मडल' विले पारले, वम्वई-५७ ने, अपने 'निवेदन'के साथ, सितम्बर १९६१ मे प्रकाशित किया है। इसमें मूलग्रन्थका जो पाठ दिया है उसमें कहीं-कहीं कोष्ठकके भीतर

भिन्न पाठकी भी सूचना की गई है। वह भिन्नपाठ स्वय गुजराती अनुवादकारके द्वारा सुझाया गया है या हिन्दी अनुवादकार धन्यकुमारजीने उसकी सूचना की है, यह ग्रन्थपरसे ठीक मालूम नही होसका, क्योकि कही-कही तो उस सूचितपाठके अनुसार गुजराती अनुवाद किया गया है और कही-कही उसे छोडकर दूसरे पाठके अनुसार ही अर्थ दिया गया है। उदाहरणके तौरपर पद्य १३६ मे 'प्रशमः' स्थानीय 'परम' की जगह 'परमा,' और पद्य १८४ मे 'मभसि' की जगह 'नभसि' पाठ सुधारकर तदनुसार उनका अर्थ किया गया है, 'परमा' को 'शान्ति का विशेषण बनादिया गया है, परन्तु पद्य न० ५६ मे 'ह्यज्ञानं' के स्थान पर 'हि ज्ञान' इस शुद्ध पाठ की और पद्य न० २०१ मे 'सकलीकृतविग्रहः' के स्थान पर 'सफलीकृतविग्रह' इस अशुद्धपाठकी सूचना करते हुए भी अनुवादको तदनुरूप प्रस्तुत नही किया गया।

इस गुजराती अनुवादके साथ दिये हुए मूलपाठमें यद्यपि कितनी ही अशुद्धिया अभी स्थिर रही हुई हैं और उनके कारण अनुवाद भी कही-कही अशुद्ध वन पडा है फिर भी ग्रन्थके मूलमे 'तैजसीमाप्या' की जगह 'तैजसीमार्थी' जैसी अशुद्धिके लिये कोई स्थान नही है और न अनुवादमे ही उस प्रकारकी अशुद्धियाँ पाई जाती हैं जिस प्रकारकी अशुद्धियाँ हिन्दीके सर्वप्रथम अनुवादमे दृष्टिगोचर होती हैं और जिनके कुछ नमूने पद्याङ्कके साथ ऊपर दिए हैं। गुजराती अनुवादमे मूलपाठकी अशुद्धियोंके कारण तथा कही-कही अर्थका ठीक प्रतिभास न होनेके कारण जिस प्रकारकी अशुद्धियोंको अवसर मिला उसके कुछ नमूनोका परिचय नीचे कराया जाता है —

१३४वें पद्यमे 'ध्यातुःपिण्डे' के स्थान पर 'धातुपिण्डे' और 'केचन' के स्थान पर 'केवल' जैसा अशुद्धपाठ उपलब्ध होनेके कारण यह अर्थ किया गया है कि 'इस प्रकार जब सप्तधातुके पिंडमे—देहमे ध्येय वस्तु का ध्यान किया जाता है तब उस ध्येय को (ध्यानको) पिंडस्थ कहा जाता है, इसीसे केवल (कैवल्य, केवलज्ञान) प्राप्त होता है।'

२५७वें पद्यमे 'श्रीरामसेनविदुषा' के स्थान पर 'श्रीनागसेनविदुषा' पाठ मिलनेके कारण अनुवादमे ग्रन्थकर्ता 'रामसेन' को न लिखकर 'नागसेन' को लिख दिया गया, जो कि ग्रन्थकारके दीक्षागुरुथे, और दीक्षागुरु विजयदेवको बना दिया गया, जो कि चौथे शास्त्रगुरु थे। साथ ही दीक्षागुरुके दो विशेषणोमेसे एकको विजयदेवके तथा दूसरेको ग्रन्थकारके साथ जोड दिया गया और २५६वें पद्यमे प्रयुक्त 'यस्य' पदका २५७वें पद्यमे प्रयुक्त 'तेन' पदके साथ जो गाढ सम्बन्ध है उसका कोई ध्यान नही रखा गया।

१०३वें पद्यमे अ-इ-उ-ए-ओ सज्ञक जिन अक्षरोके ध्यानका मतिज्ञानादिकी सिद्धिके लिये विधान है उन्हे 'मतिज्ञानादिनामानि' इस विशेषणपदके द्वारा मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानोके नाम उसी प्रकार सूचित किया है जिस प्रकार पूर्व पद्य (१०२) मे अ-सि-आ-उ-सा अक्षरोको पचपरमेष्ठिवाचक नाम सूचित किया है; परन्तु अनुवादमे उक्त विशेषणपदको विशेषणपद न समझकर मतिज्ञानादिके नामोको अलगसे ध्यान करनेकी प्रेरणा को गई है। इसीसे उक्त मन्त्राक्षरोके ध्यानकी प्रेरणाके अनन्तर लिख दिया है—"तथा मत्यादि ज्ञानोंकी सिद्धिमाटे मत्यादि ज्ञानोना नामोनु ध्यान करें।"

१७९मे पद्यमे प्रयुक्त 'समाधिप्रत्यया' पद का अनुवाद समाधिके प्रत्ययोंका—अतिशय-चमत्कारोका—न करके "समाधि अने समाधिविषयक अनुभवो" ऐसा किया गया है, जो अर्थके ठीक प्रतिभासको लिए हुए मालूम नही होता और ८७वें पद्यमे प्रयुक्त हुए 'ध्यानप्रत्ययानपि पश्यति' वाक्यके साथ भी सगत नही बैठता, जिसका गुजराती अनुवाद अनुवादकने "ध्यानसम्बन्धी प्रत्ययोंने (विश्वासमा वृद्धि करनारा सुस्वप्नादि चिह्नोने) पण जुओ छे"ऐसा दिया है। प० आशाधरजीने इष्टोपदेशके ४०वें पद्यकी टीकामे "ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिण प्रत्यया. स्यु."ऐसा लिखकर प्रमाणमें 'तथा चोक्तं' वाक्यके साथ तत्त्वानुशासनके इस ८७वें पद्यको उधृत किया है, जिससे 'ध्यानप्रत्ययान्' पदका स्पष्ट आशय

ध्यान (समाधि) के चमत्कारो तथा अतिशयोसे जान पडता है।

इस प्रकार सक्षेपमे यह गुजराती अनुवाद की स्थिति है। अनुवाद-मे अनेक त्रुटियोके रहते हुए भी यह अनुवाद प्रथम हिन्दी अनुवादकी अपेक्षा अच्छा है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलग्रन्थमे कोई अध्याय-विभाग नही हैं; परन्तु इस अनुवादमें अनुवादकने उसे स्वय अपनी तरफसे प्रस्तुत किया है। सारे ग्रन्थको आठ अध्यायोंमे बाँटा है, जिनके नाम हैं—१ सारभूत चतुष्टय, २ मोक्षका प्रधान कारण ध्यान, ३ ध्यानके लिये सामग्री और प्रेरणा ४ पराश्रय ध्यान, ५ स्वात्मावलम्बन ध्यान, ६ अर्हंका अभेद प्रणिधान और ध्यानके फल, ७ मुक्तात्माका स्वरूप, ८ उपसहार। प्रथम अध्यायमे १ से ३२, द्वितीयमें ३३ से ७४ तृतीयमे ७५ से ८९, चतुर्थमे ९० से १४०, पचममे १४१ से १८२, षष्ठमे १८३ से २३०, सप्तममे २३१ से २५१ और अष्टममे शेष २५२ से २५९ तकके पद्योको रक्खा है। अध्यायोका यह नामकरण और उसमे पद्योका उक्त विभाजन कहाँ तक ठीक हुआ है, इसे विज्ञपाठक स्वय समझ सकते हैं।

मेरी रायमें प्रथम अध्यायका नाम 'हेयोपादेयतत्त्व,' द्वितीयका द्विविध-मोक्षमार्गकी ध्यानसे सिद्धि' और छठेका'आत्माका अर्हद्रूप ध्यान' होना चाहिये था। पाँचवें अध्यायके नाममे 'और श्रौतीभावना' इतना और जोड दिया जाता तो ज्यादा अच्छा रहता। तृतीय अध्यायके अन्तमे ८९वें पद्यको रक्खा गया है, उसमे जिस परिकर्मके करनेकी प्रेरणा की गई है उसके निर्देशक ९० से ९५ तकके छह पद्योको भी उसी अध्यायके अन्तमे रखना चाहिये था, उन्हे चतुर्थ अध्यायके प्रारम्भमे देना उचित नही ज्ञान पडता। चतुर्थ अध्यायका प्रारम्भ पद्य ९६ से होना चाहिये था। इसी तरह पचम अध्यायके अन्तिम पद्य १८२ मे ध्यानके जिस अभ्यासकी प्रेरणा की गई है वह अभ्यास-क्रम पद्य १८३से १८७

तक दिया हुआ है, अतः ये पाँच पद्य भी पाँचवें अध्यायके अन्तमे दिये जाने चाहियें थे, उन्हे छठे अध्यायके प्रारम्भमे देना असगत जान पडता है। छठे अध्यायका प्रारम्भ १८८वे पद्यसे होना चाहिये था। इस प्रकार मेरी दृष्टिमे अध्यायो और पद्योका यह विभाजन भी अनेक त्रुटियोको लिये हुए है।

इसके सिवाय पद्योके ऊपर जो शीर्षक अथवा परिचय-वाक्य दिये हुए हैं वे भी कुछ त्रुटियोको लिये हुए हैं। कही कही तो कोई शीर्षक अर्थकी जगह अनर्थका परिचायक बन गया है, जैसे कि पद्य न० ११८ पर दिया हुआ 'भावध्येय' शीर्षक, जब कि उस पद्यमे भाव-ध्येयका कोई लक्षण घटित नही होता—केवल आत्माके ध्येयतम होनेका कारण बतलाया है। भावध्येयका स्वरूप तो पद्य न ११६मे दिया हुआ है, जिसे गलतीसे द्रव्यध्येयकी प्ररूपणा करनेवाले पद्योमे ही शामिल कर लिया गया है।

इस प्रकार ग्रन्थके प्रथम हिन्दी तथा गुजराती दोनो अनुवादोकी यह वस्तुस्थिति है। ये दोनो ही अनुवाद भाष्यको लिखते समय मेरे सामने नही रहे हैं—मुझे इनकी उपलब्धि बादको हुई है।

१०. उपसहार

ग्रन्थके द्वितीय नाम, ग्रन्थकी प्रतियो, ग्रन्थके कर्तृत्व, ग्रन्थ-ग्रन्थकारके समय, ग्रन्थकारके गुरुओ और स्वय ग्रन्थकारके विशेष परिचयके सम्बन्धमे मुझे उपलब्ध जैन-साहित्यपरसे जो कुछ अनुसधान एवं तुलनात्मक अध्ययनके द्वारा प्राप्त हो सका है उस सबको मैंने ऊहापोहके साथ इस प्रस्तावनामे निबद्ध एव सकलित कर दिया है। साथ ही ग्रन्थका आवश्यक सक्षिप्त परिचय भी दे दिया है और पूर्ववर्ती अनुवादो की स्थितिको भी स्पष्ट कर दिया है। इससे पाठकोको प्रस्तुत ग्रन्थकी इतिहासादि-विषयक विशेष जानकारी प्राप्त हो सकेगी और वे

इस ग्रन्थके अध्ययनादिमे सुरुचिपूर्वक प्रवृत्त हो सकेंगे, ऐसी मेरी दृढ धारणा है।

मेरा विचार था कि मैं इस प्रस्तावनामें अध्यात्म-योग-विद्या एव मन्त्रशास्त्रके विषयमे कुछ विशेष प्रकाश डालूँ, परन्तु एक तो मन्त्र-शास्त्रका अध्ययन अभी तक पूरा नही हो पाया, दूसरे भाष्यके प्रकाशनमे आशातीत विलम्ब हो गया और उसे और अधिक समय तक रोके रखना उचित नही जँचा, क्योकि जीवनका कोई भरोसा नही है—छियासी वर्षके लगभग अवस्था हो चुकी है। अत मैं अपने उस विचार-को इस समय यहाँ छोड रहा हूँ। यदि जीवन शेष रहा, शक्ति बनी रही और भावीने साथ दिया तो मैं अगले ग्रन्थसस्करणके अवसर पर या उससे पहले ही 'अध्यात्म-योग-विद्या' नामक स्वतन्त्र निबन्धके द्वारा उसे पूर्ण करनेका पूरा प्रयत्न करूँगा। अध्यात्मयोगके सिवा शेष जीवनका अब दूसरा कोई लक्ष्य है भी नही।

२३ मई १९६३
ज्येष्ठ कृ० १५ गुरु स० २०२०
दिल्ली　　} **जुगलकिशोर मुख्तार**

विषय-सूची

संकेताक्षर सूची

अध्यात्मत०, टी०	=अध्यात्मतरंगिणी, टीका
अध्यात्म० र०	=अध्यात्मरहस्य
अन० टी०	=अनगारधर्मामृत-टीका
आ	=आदर्शप्रति जयपुर की
आत्मानु०	=आत्मानुशासन
इष्टो० टी०	=इष्टोपदेश-टीका
कार्तिकानु०	=कार्तिकेयानुप्रेक्षा
ज्ञाना०	=ज्ञानार्णव
गो० क०	=गोम्मटसार कर्मकाण्ड
ज	=जयपुर-दि० जैन तेरह पंथी बड़ा मंदिर-प्रति
जु	=जुगलकिशोर-प्रति
तत्त्वानु०	=तत्त्वानुशासन
तत्त्वा० वा०, भा०	=तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य
त० सू०	=तत्त्वार्थसूत्र
द्रव्यस०	=द्रव्यसंग्रह
ध्यानश०	=ध्यान-शतक
परमात्मप्र०	=परमात्मप्रकाश
परि०, प्रा०	=परिच्छेद प्राकृत
पंचा० पंचास्ति०	=पंचास्तिकाय
भैरव-पद्मा०	=भैरव-पद्मावती-कल्प
भावपा०	=भावपाहुड
मु	=मुद्रित-मुम्बई-प्रति
मे	=आमेर-प्रति
युक्त्यनु०	=युक्त्यनुशासन
योगशा०	=योगशास्त्र
वसु० श्रा०	=वसुनन्दि-श्रावकाचार
विद्यानु०	=विद्यानुशासन
समय०	=समयसार
सर्वार्थ०	=सर्वार्थसिद्धि
सि	=जैनसिद्धान्तभवन आरा-प्रति
सि० भा०, भा०	=सिद्धान्तभास्कर, भाग
सि० भ०, सिद्धभ०	=सिद्धभक्ति

श्रीनागसेनसूरि-दीक्षित-रामसेनाचार्य-प्रणीत

सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूत

तत्त्वानुशासन

नामक

ध्यान-शास्त्र

सानुवाद-व्याख्यारूप भाष्यसे अलङ्कृत

अर्हं

भाष्यका मंगलाचरण

ध्यान-अग्निमे जला कर्ममल, किया जिन्होंने आत्मविकास,
सब-दुख-द्वन्द्व-रहित होकर जो करते हैं लोकाग्र-निवास।
उन सिद्धोको सिद्धि-अर्थ मैं वन्दूं धरकर परमोल्लास,
मंगलकारी ध्यान जिन्होंका, महागुणोके जो आवास ॥१॥

घातिकर्म-मल नाश जिन्होंने, पाया अनुपम-ज्ञान अपार,
सब जीवोको निज-विकासका, दिया परम उपदेश उदार।
जिनके सदुपदेशसे जगमे, तीर्थ प्रवर्त्ता हुआ सुधार,
उन अर्हन्तोको प्रणमूं मैं भक्तिभावसे वारवार ॥२॥

तत्त्वोका अनुशासन जिसमे, सिद्धि-सौख्यका जो आधार,
निश्चय औ' व्यवहार मोक्षपथ, प्रकटाता आगम अनुसार।
रामसेन-मुनिराज-रचित जो, ध्यान-शास्त्र अनुपम अविकार।
व्याख्या सुगम करूं मैं उसकी, निज-परके हितको उर धार ॥३॥

मूलका मगलाचरण और प्रतिज्ञा

सिद्ध-स्वार्थानशेषार्थ-स्वरूपस्योपदेशकान् ।
पराऽपर-गुरून्नत्वा वक्ष्ये तत्त्वानुशासनम् ॥१॥

'जिनका स्वार्थ सिद्ध होगया है—जिन्होने शुद्ध-स्वरूप-स्थितिरूप अपने आत्यन्तिक (अविनाशी) स्वास्थ्यकी[1] साधना कर उसे प्राप्त कर लिया है—तथा जो सम्पूर्ण अर्थतत्त्व-विषयक स्वरूपके उपदेशक हैं—जिन्होने केवलज्ञान-द्वारा विश्वके समस्त पदार्थोंको जानकर उनके यथार्थ रूपका प्रतिपादन किया है—उन 'पर' और 'अपर' गुरुवोको—समस्त कर्म-कलक-विमुक्त निष्कल-परमात्मा सिद्धोको और चतुर्विध घातिकर्म-मलसे रहित सकल-परमात्मा अर्हन्तोको तथा अर्हद्वचनानुसारि-तत्त्वोपदेश-कारि-अन्यगणधर-श्रुतकेवली आदि गुरुवोको—नमस्कार करके मै तत्त्वानुशासनको कहूँगा—तत्त्वोका अनुशासन–अनुशिक्षण जिसका अभिधेय–प्रयोजन है ऐसे 'तत्त्वानुशासन' नामक ग्रन्थ-की रचना करूँगा ।'

व्याख्या—यह पद्य मगलाचरणपूर्वक ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा-को लिये हुए है । मगलाचरण दो प्रकारके गुरुवोको नमस्काररूप

---

१ स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेष पु सा स्वार्थो न भोगः परिभगुरात्मा ।
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्र.

है—एक परगुरु और दूसरे अपरगुरु। इन गुरुवोंके केवल दो ही विशेषण दिये हैं—'सिद्धस्वार्थान्' और 'अशेषार्थस्वरूपस्योपदेशकान्।' इससे एक विशेषण परमगुरु सिद्धोका और दूसरा अपरगुरु अर्हन्तो आदिका जान पडता है। यदि परमगुरुवोमे सिद्ध और अर्हन्त इन दोनो प्रकारके गुरुवोका ग्रहण किया जाय तो फिर अपरगुरुवोकी भिन्नताका द्योतक कोई विशेषण नही रहत, दूसरे सिद्धोके सिद्धावस्थामे दूसरा विशेषण नही वनता—भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे भी वह सारे सिद्धोमे घटित नही होता, क्योकि कितने ही सिद्ध (मूक केवली आदि) ऐसे भी हुए है जिन्होने कोई उपदेश नही दिया। अत. परम-गुरुवोमे सिद्धोका ही ग्रहण यहाँ विवक्षित प्रतीत होता है।

यहाँ प्रथम विशेपणमे प्रयुक्त 'स्वार्थ' शब्द उस लौकिक स्वार्थका वाचक नही जो इन्द्रिय-विपयोके भोगादिरूपमे प्रसिद्धिको प्राप्त है, वल्कि स्वामी समन्तभद्रके शब्दोमे उस आत्मीय स्वार्थ (स्वप्रयोजन) का वाचक है जो आत्यन्तिक स्वास्थ्यरूप है—अविनाशी स्वात्मोपलब्धिके रूपमे स्थित है।

वास्तव-सर्वज्ञका अस्तित्व और लक्षण

अस्ति वास्तव-सर्वज्ञः सर्व-गीर्वाण-वन्दित ।
घातिकर्म[1]-क्षयोद्भूत–स्पष्टानन्त-चतुष्टयः ॥२॥

'सर्वदेवोसे वन्दित वास्तव सर्वज्ञ—सब पदार्थोंका यथार्थ ज्ञाता—कोई है और वह वह है जिसके घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ अनन्तचतुष्टय स्पष्ट होगया है—जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंका मूलत विनाश कर अपने आत्मामे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त

१ घातिकर्मक्षयादाविर्भूताऽनन्तचतुष्टय । (आर्प २१-१२३)

सुख और अनन्तवीर्य नामके चार महान् गुणोको विकसित और साक्षात् किया है।'

व्याख्या—यहाँ सर्वज्ञका 'वास्तव' विशेषण खासतौरसे ध्यान देने योग्य है और वह इस बातको सूचित करता है कि ससारमे कितने ही विद्वान् अपनेको सर्वज्ञ कहने-कहलानेवाले हुए हैं तथा हैं, परन्तु वे सब वस्तुत (असलमे) सर्वज्ञ नही होते, अधिकाश दम्भी, बनावटी या सर्वज्ञसे दिखाई देनेवाले सर्वज्ञाभास होते है, कोई ही उनमे सर्वज्ञ होता है, जिसे वास्तव-सर्वज्ञ कहना चाहिये। सबको, कहे जानेके अनुसार, सर्वज्ञ मान लेना और उनके कथनोको सर्वज्ञकथित समझ लेना उचित नही, क्योकि उनके कथनोमे परस्पर विरोध पाया जाता है और सर्वज्ञोके तात्विक कथनोमे विरोध नही हुआ करता और न हो सकता है। तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वास्तवसर्वज्ञ किसे समझना चाहिये, जिसके कथनको प्रमाण माना जाय ? उसीका स्पष्टीकरण पद्यके उत्तरार्धमे किया गया है और यह बतलाया गया है कि घातिया-कर्मोके क्षयसे जिसके आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यरूप गुणचतुष्टय स्पष्टतया विकसित हो गया है उसे 'वास्तवसर्वज्ञ' समझना चाहिये।

सर्वज्ञके उक्त लक्षण अथवा स्वरूप-निर्देशसे एक खास बात यहाँ और फलित होती है और वह यह कि जैनधर्मकी मूल-मान्यताके अनुसार सर्वज्ञ वस्तुत अनन्तज्ञ अथवा अनन्तज्ञानी होता है—दूसरोकी रूढ मान्यताके अनुसार नि शेष विषयोका ज्ञाता नही होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वह अनन्तवीर्यसे सम्पन्न होनेके कारण अनन्तशक्तिमान् तो है, किन्तु सर्वशक्तिमान् नही। सर्वशक्तिमान् मानने पर उसमें जडको चेतन, चेतनको जड, भव्यको अभव्य, अभव्यको भव्य, मूर्तिकको अमूर्तिक और अमूर्तिकको

मूर्तिक वना देनेकी अथवा एक मूलद्रव्यको दूसरे मूलद्रव्यमें परिणत कर देनेकी शक्तियाँ होनी चाहियें। यदि ये सव शक्तियाँ उसमें नही और इसी तरह लोकाकाशसे वाहर गमन करनेको तथा छूटे हुए कर्मोंको फिरसे अपने साथ लगाकर पहले जैसी क्रियाये करनेकी भी शक्ति नही तो फिर सर्वशक्तिमान् कैसे ? यदि अनेकानेक शक्तियोके न होने पर भी उसे सर्वशक्तिमान् कहा जाता है तो समझना चाहिये कि 'सर्व' शब्द उसमे विवक्षित-मर्यादित अर्थको लिये हुए है—पूर्णत व्यापक अर्थमे प्रयुक्त नही है। यही दशा सर्वज्ञमे 'सर्व' शब्दकी है और इसलिये सर्वज्ञ अनन्त विषयोका ज्ञाता होते हुए भी सर्वविपयोका ज्ञाता नही वनता। यह वात विशेप ऊहापोहके साथ विचारणीय हो जाती है, जिसे यहाँ विस्तार-भय से छोडा जाता है।

सर्वज्ञ-द्वारा द्विधा तत्त्व-प्ररूपण और तद्दृष्टि

ताप-त्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्य शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाऽभ्यधादसौ ॥३॥

'उस **वास्तव सर्वज्ञने तीन प्रकारके तापोंसे**—जन्म, जरा (रोग) और मरणके दु खोसे अथवा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कष्टोसे—**पीडित भव्यजीवोंके लिये शिवसुखकी प्राप्तिके अर्थ तत्त्वको हेय** (त्याज्य) **और उपादेय** (ग्राह्य) **ऐसे दो भेदरूप वर्णित किया है।**'

व्याख्या—यहाँ सर्वज्ञके तात्त्विक कथनकी दृष्टिको स्पष्ट करते हुए यह वतलाया गया है कि उस सर्वज्ञने तत्त्व-विषयक यह उपदेश ससारके भव्य-जीवोको लक्ष्यमें लेकर उन्हे तापत्रयके दु खोंसे छुडाकर शिवसुखकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे दिया है। सर्वज्ञका उपदेश भव्यजीवोके द्वारा ही यथार्थ रूपमें ग्राह्य

होता है, अभव्योके द्वारा नही। इसलिये भव्य-जीवोको लक्ष्यमे लेकर वह दिया गया, ऐसा कहनेमे आता है, और उसके अनुसार आचरणसे चूँकि दुःखोंसे छुटकारा मिलता और शिवसुखतककी प्राप्ति होती है, इसीसे इन दोनोके उद्देश्यसे उसका दिया जाना कहा जाता है। अन्यथा, सर्वज्ञके मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे परम वीतरागभावकी प्रादुर्भूति होनेके कारण जब इच्छाका अभाव हो जाता है तब यह विकल्प ही नही रहता है कि मैं अमुक प्रकारके जीवोको लक्ष्यमे लेकर और अमुक उद्देश्य से उपदेश दूँ—उनके लिये सब जीव और सब। हित समान होता है और इसलिये अमुक जीवोको लक्ष्यमे लेकर और अमुक उद्देश्यसे उपदेश दिया गया, यह फलितार्थकी दृष्टिसे एक प्रकारकी कथन-शैली है। इससे सर्वज्ञके ऊपर किसी प्रकारकी इच्छा, राग या पक्षपातका कोई आरोप नही आता। उनका परम-हितोपदेशक-रूपमे परिणमन विना इच्छाके ही सब कुछ वस्तुस्थितिके अनुरूप होता है[1]।

सुखका 'शिव' विशेषण यहाँ सर्वोत्कृष्ट सुखकी दृष्टिको लिये हुए है। जिसे नि श्रेयस, निर्वाण तथा शुद्धसुख भी कहते हैं[2]। जब हेय और उपादेय तत्त्वोकी जानकारीसे सर्वोत्कृष्ट सुख-

१ अनात्मार्थं विना रागै शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पि-कर-स्पर्शान्मुरज किमपेक्षते ॥ (रत्नकरण्ड ८
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्नापि शासनफलैषणातुर ॥
काय-वाक्य-मनसा प्रवृत्तयो नाऽभवस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नाऽसमीक्ष्य भवत प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्।
(स्वयम्भूस्तोत्र ७३-७४)

२. जन्मजरामयमरणै शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं नि श्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥ (रत्नकरण्ड १३१)

की प्राप्ति सुलभ होती है तब दूसरे अभ्युदयरूप सांसारिक सुखोकी तो बात ही क्या है, जो कि दु:खसे मिश्रित और अस्थिर होने आदिके कारण शुद्धसुखरूप नही हैं। और इसलिये सासारिक सुखके अभिलाषियोको यह न समझ लेना चाहिये कि हेयोपादेय-तत्त्वकी जानकारी उनके लिये अनुपयोगी है। वह किसीके लिये भी अनुपयोगी न होकर सभीके लिये उपयोगी तथा कल्याणकारी है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञानरूप होनेसे उस रत्नत्रय धर्मका एक अङ्ग है जिसके फल नि:श्रेयस और अभ्युदय दोनो प्रकारके सुख हैं[1]।

तापो-दु:खोकी कोई सख्या न होने पर भी यहाँ उनके लिये जो 'त्रय' शब्द-द्वारा तीनकी सख्याका निर्देश किया गया है वह दु:खोके मुख्य तीन प्रकारोका वाचक है, जिनमे सारे दु:खोका समावेश हो जाता है।

हेयतत्त्व और तत्कारण

बन्धो निबन्धनं चाऽस्य हेयमित्युपदर्शितम्।
हेयस्याऽशेष-दु:खस्य[2] यस्माद्बीजमिदं द्वयम् ॥४॥

'(उस सर्वज्ञने) बन्ध और उसका कारण-आस्रव, इस तत्त्व-युग्मको हेयतत्त्व बतलाया है; क्योंकि हेयरूप—तजने योग्य—जो सम्पूर्ण दु:ख है उसका बीज यह तत्त्व-युग्म (दो तत्त्वोका जोडा) है—सब प्रकारके दु:खोकी उत्पत्तिका मूलकारण है।'

---

१. नि:श्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
नि:पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ (रत्नकरण्ड १३०)

२ मु मे हेय स्याद्दु:ख-सुखयोः।

व्याख्या—यहाँ जैनागम-प्रतिपादित सात अथवा नव तत्त्वोमे-से आस्रव और बन्ध इन दो तत्त्वोको हेयतत्त्व बतलाया है, क्योकि ये दोनो तत्त्व हेयरूप जो समस्त दु ख है उसके वीजभूत है—इन्हीसे सारे दु खोकी उत्पत्ति होती है। काय, वचन तथा मन-की क्रियारूप जो योग-प्रवृत्ति है उसका नाम आस्रव है[1]। वह योग-प्रवृत्ति यदि शुभ होती है तो उससे पुण्यकर्मका और अशुभ होती है तो उससे पाप कर्मका आस्रव होता है[2]। सात तत्त्वोकी गणना अथवा प्ररूपणामे पुण्य और पाप ये दो तत्त्व आस्रवतत्त्वमे गर्भित होते हैं और नव तत्त्वोकी गणना अथवा प्ररूपणामे उन्हे अलगसे कहा जाता है। बन्ध आस्रव-पूर्वक होता है—विना आस्रवके बन्ध बनता ही नही। इसीसे आस्रवको बन्धके निबन्धन–कारणरूपमे यहाँ निर्दिष्ट किया गया है।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पुण्यकर्मका आस्रव-वन्ध तो सुखका कारण है और इसलिये ये दोनो तत्त्व सुखके भी वीज हैं, तब इन्हे अशेषदु खके ही बीज क्यो कहा गया ? इसके उत्तर-मे इतना ही निवेदन है कि पुण्य भी एक प्रकारका बन्धन है, जिससे आत्मामे परतन्त्रता आती है—ससार-परिभ्रमण करना पडता है—और परतन्त्रता तथा ससार-परिभ्रमणमे वास्तविक सुख कही भी नही, आत्मा अपने स्वाभाविक सुखसे वचित रह जाता है और उसका ठीक उपभोग नही कर पाता। इसीलिये आध्यात्मिक तथा निश्चयनयकी दृष्टिसे जो सुख पुण्यकर्मके फल-स्वरूप इन्द्रियो-द्वारा उपलब्ध होता अथवा ग्रहणमे आता है उसे

---

१ काय-वाङ्-मन -कर्म योग । स आस्रव । (त० सू० ६-१, २)

२. शुभ पुण्यस्याऽशुभः पापस्य । (त०सू० ६-३)

वास्तविक सुख न बतलाकर दु ख ही बतलाया गया है[१]। इस आध्यात्मिक ग्रन्थका लक्ष्य भी चूँकि पूर्वपद्यानुसार शिव-सुखकी प्राप्ति कराना है, अत इस ग्रन्थमे भी इन्द्रियजन्य सासारिक विषय-सौख्यको अनेक दृष्टियोसे दु ख ही प्रतिपादित किया गया है[२]।

उपादेयतत्त्व और तत्कारण

मोक्षस्तत्कारण चैतदुपादेयमुदाहृतम् ।
उपादेय सुख यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥

'(उस सर्वज्ञने) **मोक्ष और मोक्षका कारण**—सवर-निर्जरा, **इस तत्त्वत्रयको उपादेय प्रगट किया है; क्योकि उपादेयरूप**—ग्रहण करने योग्य—**जो सुख है वह इस तत्त्वत्रयके प्रसादसे आविर्भावको प्राप्त होगा**—अपना विकास सिद्ध करनेमे समर्थ हो सकेगा।'

व्याख्या—इस पद्यमे, उपादेय-तत्त्वका निरूपण करते हुए, यद्यपि मोक्षके साथ सवर और निर्जरा इन दो तत्त्वोका कोई स्पष्ट नामोल्लेख नही किया है फिर भी 'तत्कारण' पदके द्वारा मोक्षके कारणरूपमे इसी तत्त्वयुग्मका ग्रहण वाछनीय है, क्योकि आगम-विहित सप्त अथवा नवतत्त्वोमे इन्हीकी गणना है और

---

१ सपर बाधासहिय विच्छिण्ण बधकारण विसम ।
जइदियेहि लद्ध त सव्व दुक्खमेव तहा ॥
(प्रवचनसार ७६)

२. यत्तु सासारिक सौख्य रागात्मकमशाश्वतम् ।
स्वपर-द्रव्य-सभूत तृष्णा-सन्ताप-कारणम् ॥२४३॥
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभ-निबन्धनम् ।
दु खकारण-बन्धस्य हेतुत्वाद्दु खमेव तत् ॥२४४॥ (तत्त्वानु०)

इन दोनोके बिना मोक्ष बन ही नही सकता। सवर आस्रवके निरोधको और निर्जरा सचित कर्मो के एकदेशत क्षयको कहते हैं[1]। जवतक ये दोनो सम्पन्न नही होते तब तक कर्मोसे पूर्णत. छुटकारारूप मोक्ष कैसा ? अत मोक्ष और मोक्षके कारण सवर तथा निर्जरा ये तीनो तत्त्व उपादेय-तत्त्वकी कोटिमे स्थित हैं। इन्हीके निमित्तसे आत्मामे उपादेय-सुखका आविर्भाव होता है।

यहाँ सुखका '**उपादेय**' विशेषण और '**आविर्भविष्यति**' क्रिया-पद अपना खास महत्त्व रखते हैं। 'उपादेय' विशेषणके द्वारा उस मोक्षसुखको सूचना करते हुए जिसे ग्रन्थके तृतीय पद्यमे 'शिवशम' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया है, उसे ही आदरणीय तथा ग्रहणके योग्य बताया है और इससे दूसरा सासारिक विषय-सौख्य, जिसका स्वरूप पिछले पद्यके फुटनोटमे उद्धृत दो पद्योसे स्पष्ट है, अनुपादेय, हेय अथवा उपेक्षणीय ठहरता है। प्रस्तुत मोक्षसुख घातिया कर्मोके क्षयसे प्रादुर्भूत, स्वात्माधीन, निराबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी होता है[2], इसीलिये उपादेय है, जबकि सासारिक सुख वैसा न होकर पराधीन, विनाशशील, दु.खसे मिश्रित, रागका वर्धक, तृष्णा-सन्तापका कारण, मोह-द्रोह-क्रोध-मान-माया-लोभका जनक और दु खके कारणीभूत वन्धका हेतु होता है[3], और इसीलिये अनुपादेय है।

जिस मोक्ष-सुखको यहाँ उपादेय बतलाया है, वह आत्मामे कोई नवीन उत्पन्न नही होता और न कही बाहरसे आकर उसे

---

१ आस्रवनिरोध' सवर। (त० सू० ६-१)।

एकदेश-कर्म-सक्षय-लक्षणा निर्जरा। (सर्वार्थ० १-४)

२ तत्त्वानु० २४२। ३ तत्त्वानु० २४३,२४४

प्राप्त होता है। वह वास्तवमे आत्माका निजगुण और स्वभाव है, जो कर्म-पटलोसे आच्छादित रहता है। सवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वोके द्वारा कर्म-पटलोके विनाशसे वह प्रादुर्भूत एव विकसित होता है। यही भाव 'आविर्भविष्यति' क्रियापदके द्वारा व्यक्त किया गया है।

बन्धतत्त्वका लक्षण और भेद

तत्र[1]. बन्ध. स्वहेतुभ्यो[2] यः संश्लेषः परस्परम् ।
जीव-कर्म-प्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥६॥

'सर्वज्ञके उस तत्त्वप्ररूपणमें जीव और कर्म पुद्गलके प्रदेशों-का जो मिथ्यात्वादि अपने बन्ध-हेतुओंसे परस्पर संश्लेष है—सम्मिलन और एकक्षेत्रावगाहरूप अवस्थान है—**उसका नाम बन्ध है और वह बन्ध** (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागके भेद-से) **चार प्रकारका प्रसिद्ध है[3]।'**

व्याख्या—यहाँ बन्धतत्त्वका जो स्वरूप दिया है, उससे मालूम होता है कि यह बन्ध जीव और कर्मके प्रदेशोका होता है। कर्म पुद्गल है और पुद्गल द्रव्य अजीवास्तिकायोमे परिगणित है, जैसाकि **'अजीवकाया धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गला'** इस तत्त्वार्थ-सूत्रसे जाना जाता है। इससे जोव और अजीव ऐसे दो तत्त्व और सामने आते है. और इस तरह यह मालूम होता है कि मूल दो तत्त्व सात तत्त्वोमे अथवा प्रकारान्तरसे पुण्य-पापको शामिल

---

१ जीव-कर्म-प्रदेशाना यः सश्लेष परस्परम् ।
द्रव्यबन्धो भवेत्पुसो भावबन्धस्सदोपता ॥ (ध्यानस्तव ५५)

२ मु मे सहेतुभ्यो ।

३ पयदि-ट्ठिदि-अणुभाग-प्पदेस-भेदा दु चदुविधो बधो । (द्रव्यसग्रह)

करके नौ तत्त्वोमे बँटे हुए है। ये सब तत्त्व ही अध्यात्म-योगियो-के लिए मोक्षमार्गमे अथवा अपना विकास सिद्ध करनेके लिए प्रयो-जनभूत है।

बन्धके इस कथनमे बन्धके मूल चार भेदोकी मात्र सूचना की गई है, उनके नाम भी नही दिये गये—उन्हे केवल 'प्रसिद्ध' कह-कर छोड दिया गया है। और यह ठीक ही है; क्योकि बन्धके भेद-प्रभेदोके कथनोपकथनोसे जैनागम भरे हुए है। जिन्हे उनकी विशेप जानकारी प्राप्त करनी हो वे उस विषयके आगम ग्रन्थोको देख सकते हैं। इस ग्रन्थका मुख्य विषय ध्यान होनेसे ऐसे बहु-विस्तारवाले दूसरे विपयोकी मात्र सूचना करदी गई है, जिससे ग्रन्थसन्दर्भ सहजसुखबोध, शृ खलाबद्ध एव सुव्यवस्थित बना रहे और किसीको मूल-विपयके परिज्ञानमें अनावश्यक विलम्ब होनेसे विषयान्तर होने-जैसी आकुलता अथवा अरुचि उत्पन्न न होवे। बन्धतत्त्वको विस्तारसे जाननेके लिये महाबन्ध, पट्खण्डा-गम, पचसग्रह, गोम्मटसार, कम्मपयडी, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थो-को उनकी टीकाओ-सहित देखना चाहिये।

वन्धका कार्य और उसके भेद

बन्धस्य कार्यः[1] ससारः सर्व-दु ख-प्रदोऽङ्गिनाम् ।
द्रव्य क्षेत्रादि-भेदेन स चाऽनेकविधः स्मृतः ॥७॥

'बन्धतत्त्वका कार्य ससार है—भव-भ्रमण है-जोकि देह-धारी ससारी जीवोको सब दु खोका देनेवाला है और वह द्रव्य-क्षेत्रादिके भेदसे—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-परिवर्तनादिके रूप-मे—अनेक प्रकारका है, ऐसा सर्वज्ञके प्रवचनका जो स्मृतिशास्त्र जैनागम है उससे जाना जाता है।'

---

१. ज कार्यं

व्याख्या—यहाँ ससारका बन्धका कार्य बताया है। ससारके दो अथ हैं—एक विश्व अथवा जगत्, दूसरा ससरण, परिभ्रमण अथवा परिवर्तन। पहले अर्थके अनुसार यह सब दृश्य जगत् बन्धका काय अवश्य है, क्योंकि वह जीव-पुद्गल और पुद्गल-पुद्गलक परस्पर बन्ध-द्वारा निष्पन्न हुआ है। यदि किसीका किसी-के साथ बन्ध न हो—जीव अपने शुद्ध सिद्धस्वरूपमे स्थित हो और पुद्गल अपने परमाणुरूप शुद्ध स्वरूपमे अवस्थित हो तो यह दृश्यमान जगत् कुछ बनता ही नही और न प्रतीतिका कोई विषय ही रहता है। दूसरे अर्थके अनुसार जीवोंका जो यह जन्म-जन्मान्तर अथवा भव-भवान्तरकी प्राप्तिरूप परिभ्रमण और नानावस्थाओंका धारण है, वह सब बन्धका ही परिणाम है। बन्धसे परतन्त्रता आती है, स्वभावमे स्थिति न होकर विभाव-परिणमन होता रहता है। यही ससार है और ससार शब्दका यह दूसरा अर्थ ही यहाँ परिग्रहीत है, क्योंकि बन्धके प्रस्तुत स्वरूपमे जीव और कर्मपुद्गलोंके सश्लेपका हो उल्लेख है, पुद्-गल-पुद्गलके सश्लेषका नही। इसी अर्थमे ससार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पच-परिवर्तनरूप है। इन पच परिवर्तनोंकी भी यहाँ मात्र सूचना की गई है। इनका स्वरूप भी कुछ विस्तारको लिये हुए होनेसे प्रस्तुत ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ उसकी अधिक उपयोगिता न समझकर उसे छोड दिया गया है।

यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है कि जब ससार द्रव्यादि-पच-परावर्तनरूप है और इसलिए मूलमे प्रयुक्त हुआ 'आदि' शब्द काल, भव तथा भावका वाचक है, तब उस ससारको '**अनेकविधः**' न कहकर '**पचविध** ' कहना चाहिए था, ऐसा कहनेसे छदोभग भी कुछ नही बनता था ? इसके उत्तरमे इतना ही निवेदन है

कि 'अनेकविध' पदका प्रयोग ससारके पच-परिवर्तन-रूप मूल-भेदोके अतिरिक्त उसके अवान्तर भेदोकी दृष्टिको भी साथमे लिये हुए है और इसलिये 'आदि' शब्दको भी और अधिक व्यापक अर्थमे ग्रहण करना चाहिये।

बन्धके हेतु मिथ्यादर्शन आदि

स्युर्मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि समासतः।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥८॥

'मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनो सक्षेपरूपसे बन्धके कारण हैं। बन्धके कारणरूपमे अन्य जो कुछ कथन (कही उपलब्ध होता) है वह सब इन तीनोका ही विस्ताररूप है।

व्याख्या—यहाँ बन्धके हेतुरूपमे जिन मिथ्यादर्शनादिक-का निर्देश किया गया है वे वे ही हैं जिनको स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) के '**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि**' नामक तृतीय पद्यमे प्रयुक्त '**यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भव-पद्धति**' इस वाक्यके द्वारा बन्धके कार्यरूप ससारका हेतु (मार्ग) बतलाया है। बन्धका हेतु कहो चाहे ससारका हेतु कहो, दोनो-का आशय एक ही है। प्रस्तुत पद्यमे '**अन्यस्तु त्रयाणामेवविस्तर.**' यह वाक्य खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य है। इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि समयसार, तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रन्थोमे बन्ध-हेतुविषयक जो कथन कुछ भिन्न तथा विस्तृतरूपमे पाया जाता है वह सब इन्ही तीनो हेतुओके अन्तर्गत—इनमे समाविष्ट—अथवा इन्ही मूल हेतुओके विस्तारको लिए हुए है। जैसे समयसारमे एक स्थान पर मिथ्यात्व, अविरमण (अविरत) कषाय और योग

इन चारको बन्धका कारण बतलाया है, दूसरे स्थान पर इन चारोका उल्लेख करते हुए इनमेसे प्रत्येकके सज्ञ-असज्ञ (चेतन-अचेतन) ऐसे दो-दो भेद करते हुए 'बहुविहभेया' पदके द्वारा बहुत भेदोकी भी सूचना की है, तीसरे स्थान पर राग, द्वेष तथा मोहको आस्रवरूप बन्धका कारण निर्दिष्ट किया है और चौथे स्थान पर मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत-भाव और योगरूप अध्यवसानोको बन्धके कारण ठहराया है[1]। तत्त्वार्थसूत्रमे 'मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग इन पाचको बन्धके हेतु लिखा है[2]। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) मे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नामके वे ही चार बन्धके कारण दिये हैं जिनका उल्लेख समयसारकी १०६ वी गाथामे पाया जाता है[3]। अन्तर केवल इतना ही है कि समयसारमें जिन्हे 'बन्धकर्तार' लिखा है उन्हीको गोम्मटसारमे 'आस्रवरूप' निर्दिष्ट किया है। यह कोई वास्तविक अन्तर नही है, क्योकि मिथ्यात्वादि

---

१ सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णति वधकत्तारो।
भिच्छत्त अविरमण कसाय-जोगा य बोधव्वा ।।१०६।।

मिच्छत्त अविरमण कसाय जोगा य सण्णसण्णा दु।
वहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ।।१६४ ।।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होति ।।१७७।

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहि।
मिच्छत्त अण्णाण अविरयभावो य जोगो य ।।१६०।। (समयसार)

२ मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतव (त०सू०८-१०)

३ मिच्छत्त अविरमण कसाय-जोगा य आसवा होति—गो०क०-७८६

रुचि-प्रतीतिके होने पर भी मिथ्यादर्शन नही होता। जैसे कि श्रेणिक राजाको क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे उसके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय नही बनता, फिर भी अपने पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) के भावको उसने अन्यथारूपमें समझकर अन्यथा प्रवृत्ति कर डाली। इतने मात्रसे वह मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादर्शनको प्राप्त नही कहा जाता, क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनका कभी अभाव नही होता।

मिथ्याज्ञानका लक्षण और भेद

ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाऽधिगमो भ्रमः।
अज्ञान संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिदं[1] त्रिधा ॥१०॥

'(दर्शनमोहनीयकर्मके उदयपूर्वक अथवा संस्कारवश) ज्ञानावरणीयकर्मके उदयसे (यथावस्थित) पदार्थोंमें जो उनके यथावस्थित स्वरूपसे भिन्न अन्यथा ज्ञान होता है, उसका नाम 'मिथ्याज्ञान' है और यह मिथ्याज्ञान सशय, भ्रम (विपर्यय) तथा अज्ञान (अनध्यवसाय, ऐसे तीन प्रकारका होता है।'

व्याख्या—ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे अज्ञानभाव होता है और यहाँ अन्यथाज्ञानकी बात कही गई है, वह इस बातको सूचित करती है कि ज्ञानावरणीय कर्मके उदयके साथ दर्शनमोहनीय कर्मका उदय भी लगा हुआ है अथवा उसके संस्कारोको साथमें लिये हुए है। मिथ्याज्ञान दर्शनमोहरूप चक्रवर्ती राजाका आश्रित मन्त्री है, यह बात आगे १२वे पद्यमें स्पष्ट कीगई है और इसलिए उसे मोहके सस्कारोसे विहीन ग्रहण नही किया जासकता

१. मु ज्ञानमिह।

और यही कारण है कि उसके भ्रम तथा सशयको साथ लेकर तीन भेद किये गये हैं, अन्यथा वह एक भेद अज्ञानरूप ही रहता। परस्पर विरुद्ध नाना कोटियोका स्पर्श करनेवाले ज्ञानको सशय, विपरीत एक कोटिका निश्चय करनेवाले ज्ञानको भ्रम (विपर्यय) और 'क्या है' इस आलोचनमात्र ज्ञानको अज्ञान (अनध्यवसाय) कहते हैं। यथार्थज्ञानमे ये तीनो दोष नही होते।

मिथ्याचारित्रका लक्षण

[1]वृत्तमोहोदयाज्जन्तो कषाय-वश-वर्तिन.।
योग-प्रवृत्तिरशुभा[2] मिथ्याचारित्रमूचिरे[3] ॥११॥

'(दर्शनमोहनीयकर्मके उदयपूर्वक अथवा सस्कारवश) **चारित्र-मोहनीयकर्मके उदयसे कषाय-वशवर्ती हुए जीवकी जो अशुभयोग-प्रवृत्ति होती है**—काय, वचन तथा मनकी क्रिया किसी अच्छे भले-शुभकार्यमे प्रवृत्त न होकर पापबन्धके हेतुभूत बुरे एव निन्द्य कार्योमे प्रवृत्त होती है—**उसको 'मिथ्याचारित्र' कहा गया है।**'

व्याख्या—मोहके मुख्य दो भेद हैं——एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे जिस प्रकार मिथ्यादर्शन-की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार चारित्रमोहके उदयसे मिथ्या-चारित्रकी सृष्टि बनती है। उस मिथ्याचारित्रका स्वरूप यहाँ मन-वचन-कायमेसे किसी योग अथवा योगोकी अशुभ-प्रवृत्ति-को बतलाया है और उसका स्वामी उस जीवको निर्दिष्ट किया है जो चारित्रमोहके उदयवश उस समय किसी भी कषाय अथवा नोकषायके वशवर्ती होता है। काय, वचन तथा मनकी क्रियारूप

---

१ मु वृत्तिमोहो। २. सि जु प्रवृत्तिमशुभा। ३ सि जु माचरे।

जो योग[1] यहाँ विवक्षित है उसके दो भेद है—एक शुभयोग और दूसरा अशुभयोग। शुभपरिणामोके निमित्तसे होनेवाला योग शुभ और अशुभपरिणामोके निमित्तसे होनेवाला योग अशुभ कहलाता[2] है। अशुभयोगकी प्रवृत्ति अशुभ होती है और उसी अशुभ प्रवृत्तिको यहाँ मिथ्याचारित्र कहा गया है। हिंसा, चोरी और मैथुनादिमे प्रवृत्त हुआ शरीर अशुभ-काययोग है। असत्य, कटुक तथा असभ्य भाषणादिके रूपमे प्रवृत्त हुआ वचन अशुभ-वाग्योग है। हिंसादिककी चिन्ता तथा ईर्ष्या-असूयादिके रूपमे प्रवृत्त हुआ मन अशुभ-मनोयोग[3] है। इस प्रकार योगोकी यह अशुभप्रवृत्ति, जो कृत-कारित-अनुमोदनके रूपमें होती है, पापास्रवकी हेतुभूत है और इसीसे मिथ्याचारित्र कहलाती है। दूसरे शब्दोमे मनसे, वचनसे, कायसे, करने-कराने तथा अनुमोदनाके द्वारा जो हिंसादिक पापक्रियाओका आचरण अथवा अनुष्ठान है वह मिथ्याचारित्र है, जो सम्यग्चारित्रके उस लक्षणके विपरीत है जिसका निर्देश आगे २७वे पद्यमे किया गया है। यह सर्व कथन व्यवहारनयकी दृष्टिसे है। निश्चयनयकी दृष्टिसे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे रहित और चारित्रमोहसे अभिभूत योगोकी शुभप्रवृत्ति भी शुभकर्मबन्धके हेतु मिथ्याचारित्रमे परिगणित है, क्योकि सम्यक्चारित्र कर्मादाननिमित्त-क्रियाके त्यागरूप होता है[4]।

---

१. काय-वाङ्-मन-कर्म योग। (त० सू० ६-१)

२ शुभपरिणाम-निर्वृत्तो योग शुभ', अशुभपरिणाम-निर्वृत्तश्चाऽशुभ'। (सर्वार्थ० ६-३)

३ वध-चिन्तनेर्ष्याऽसूयापरोऽशुभो मनोयोग (सर्वार्थ० ६-२)

४ संसार-कारण-निवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवत कर्मादाननिमित्त-क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्। (सर्वार्थ० १-१)

बन्धहेतुओमे चक्री और मन्त्री

बन्ध-हेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्रीति[1] कीर्तितः ।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत्[2] ॥१२॥

'बन्धके सम्पूर्ण हेतुओमे मोह चक्रवर्ती (राजा) कहा गया है और मिथ्याज्ञान इसीके मन्त्रित्वको आश्रय किये हुए है—मोह राजाका आश्रित मन्त्री है।

व्याख्या—यहाँ मिथ्यादर्शनरूप मोहको चक्रवर्ती बतलाकर बन्धके हेतुओमे उसकी सर्वोपरि प्रधानताका निर्देश किया गया है और वह ठीक ही है, क्योकि दर्शनमोह दृष्टिविकारको उत्पन्न करता है और यह दृष्टिविकार ही ज्ञानको मिथ्याज्ञान और चारित्रको मिथ्याचारित्र बनाता है। मोहाश्रित होनेसे ज्ञान स्वतन्त्रतापूर्वक मन्त्रीपदका कोई काम करने अथवा मोह-राजाको उसकी कुप्रवृत्तियोके विरुद्ध-प्रतिकूल अच्छी भली सलाह देनेमे समर्थ नही होता। सदा उसके अनुकूल ही बना रहता है और इसीसे मिथ्याज्ञान नाम पाता है। मिथ्याज्ञान मोह-चक्रीका ही मन्त्री है—अन्यका नही, यह बात 'तस्य' पदके साथ 'एव' शब्दके प्रयोग-द्वारा सूचित की गई है।

मोहचक्रीके सेनापति ममकार-अहकार

ममाऽहंकार-नामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ ।
यदायत्त सुदुर्भेद मोह-व्यूह प्रवर्तते ॥१३॥

'उस मोहके जो दो पुत्र 'ममकार' और 'अहकार' नामके हैं वे दोनो उस मोहके सेनानायक हैं, जिनके अधीन मोहव्यूह—

---

१. मु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तित । २ मु शिश्रियन् ।

मोहचक्रीका सैन्यसनिवेश—बहुत ही दुर्भेद बना हुआ है।'

व्याख्या—मोहके गढको यदि जीतना है तो ममकार और अहकारको पहले जीतना परमावश्यक है। इनके कारण ही मोह शत्रु दुर्जेय बना हुआ है और वह ससारी प्राणियोको अपने चक्कर-मे फँसाता, बाँधता और दु ख देता रहता है।

ममकार और अहकार दोनो भाई एक-दूसरेके पोषक हैं। इनका स्वरूप अगले पद्योमे बतलाया गया है और साथ ही यह भी दर्शाया गया है कि कैसे इनके चक्रव्यूहमे फँस कर यह जीव ससार-परिभ्रमण करता रहता है।

ममकारका लक्षण

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनु-प्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाऽभिनिवेशो ममकारो मम यथा देह. ॥१४॥

'सदा अनात्मीय—आत्मस्वरूपसे वहिर्भूत—ऐसे कर्मजनित स्वशरीरादिकमे जो आत्मीय अभिनिवेश है—उन्हे अपने आत्म-जन्य समझने रूप जो अज्ञानभाव है—उसका नाम 'ममकार' है, जैसे मेरा शरीर।'

व्याख्या—जो कभी आत्मीय नही, आत्मद्रव्यसे जिनकी उत्पत्ति नही और न आत्माके साथ जिनका अविनाभाव-जैसा कोई गाढ सम्बन्ध है, प्रत्युत इसके जो कर्मनिर्मित हैं, आत्मासे भिन्न-स्वभाव रखनेवाले पुद्गल परमाणुओ-द्वारा रचे गये हैं, ऐसे परपदार्थोंको जो अपना मान लेना है उसका नाम 'ममकार' है, जैसे यह मेरा शरीर, यह मेरा घर, यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री और यह मेरा धन इत्यादि। क्योकि ये सब वस्तुएँ वस्तुत' आत्मीय नही, आत्माधीन नही, अपने-अपने कारण-कलापके

अधीन हैं, अपने आत्मद्रव्यसे भिन्न हैं और स्पष्ट भिन्न होती हुई दिखाई पडती हैं। शरीर आदिके भिन्न होते हुए आत्माका उन पर कोई वश नही चलता, जबकि वस्तुतः आत्मीय होने पर उन्हे आत्माधीन होना और सदा आत्माके साथ रहना चाहिए था।

यह सब कथन अगले पद्यमे प्रयुक्त हुए 'परमार्थनयेन' पदकी अपेक्षा रखता हुआ निश्चयनयकी दृष्टिसे है। व्यवहारनयकी दृष्टिसे मेरा शरीरादि कहनेमें जरूर आता है; परन्तु वह व्यवहार निश्चयनयके ज्ञानसे वहिर्भूत है, निश्चयकी अपेक्षा न रखता हुआ कोरा व्यवहार है अथवा व्यवहारको ही निश्चय समझ लेनेके रूपमे है वह मानो [illegible] तथा वस्तुतत्त्वके विपर्यासको लिए हुए है। प्राय ऐसा होता रहता है और इसीलिए निश्चयनयकी दृष्टिको स्पष्ट करनेकी जरूरत होती है। इस व्यावहारिक ममतारूपी घोर अन्धकारके वश जिसके ज्ञानकी स्थिति अस्तव्यस्त हो रही है [illegible] अपने हित-साधनसे दूर भागता रहता है, जैसा कि श्री अमित-गति आचार्यने अपने निम्न वाक्यमें व्यक्त किया है—

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बान्धवा मेऽङ्गजाः
तातो मे मम सम्पदो मम सुखं मे सज्जनाः मे जनाः।
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः
शर्माधान-विधानतः स्वहिततः प्राणी पराभ्रश्यते॥

—तत्त्वभावना २८

अहंकारका लक्षण

ये कर्म-कृता भावाः परमार्थ-नयेन चात्मनो भिन्नाः।
तत्राऽऽत्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः॥१५॥

'कर्मोके द्वारा निर्मित जो पर्याये हैं और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उनमे आत्माका जो मिथ्या आरोप है—उन्हे आत्मा समझनेरूप अज्ञानभाव है—उसका नाम 'अहकार' है, जैसे मै राजा हूँ।'

व्याख्या—यहाँ परमार्थनयका अर्थ निश्चयनयसे है, जिसे द्रव्यार्थिक नय भी कहा गया है, उसकी दृष्टिसे जितनी भी कर्मकृत पर्याये हैं वे सब आत्मासे भिन्न हैं—आत्मरूप नही हैं—उन्हे आत्मरूप समझ लेना ही अहकार है, जैसे मैं राजा, मैं रक, मैं गोरा, मैं काला, मै पुरुष, मैं स्त्री, मैं उच्च, मै नीच, मै सुरूप, मैं कुरूप, मैं पडित, मैं मूर्ख, मैं रोगी, मैं नीरोगी, मैं सुखी, मैं दुखी, मैं मनुष्य, मैं पशु, मैं निर्बल, मैं सबल, मैं बालक, मैं युवा, मैं वृद्ध इत्यादि। ये सब निश्चयनयसे आत्माके रूप नही, इन्हें दृष्टि-विकारके वश आत्मरूप मान लेना अहकार है। यह कर्म-कृत-पर्यायको आत्मा मान लेने रूप अहकारकी एक व्यापक परिभाषा है। इसमे किसी पर्याय-विशेषको लेकर गर्व अथवा मदरूप जो अहभाव है वह सब शामिल है। निश्चय-सापेक्ष्य व्यवहारनयकी दृष्टिसे अपनेको राजादिक कहा जा सकता है, परन्तु व्यवहार-निरपेक्ष निश्चयनयकी दृष्टिसे आत्माको राजादिक मानना अहकार है। इसी तरह देहको आत्मा मान लेना भी अहकार है।

ममकार और अहकारमे मोह-व्यूहका सृष्टि-क्रम

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहकार-सभव ।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु, जायते ॥१६॥

' मिथ्याज्ञान-युक्त मोहसे जीवके ममकार और अहकार-

१ ज द्वेषश्च

का जन्म होता है और इन दोनोसे (ममकार-अहंकारसे) राग तथा द्वेष उत्पन्न होता है।'

व्याख्या—यहाँ ममकार और अहंकारको राग-द्वेषका जो जनक बतलाया गया है उसका यह आशय नही कि दोनो मिलकर राग-द्वेष उत्पन्न करते है या एक रागको तथा दूसरा द्वेषको उत्पन्न करता है, बल्कि यह आशय है कि दोनो अलग अलग राग-द्वेषके उत्पादक है—ममकारसे जिस प्रकार रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अहंकारसे भी होती है।

ताभ्यां पुन कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥१७॥

'फिर उन (राग-द्वेष) **दोनो से कषायें**—क्रोध, मान, माया, लोभ—**और नोकषायें**—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तथा काम-वासनायें—उत्पन्न होती हैं, **जोकि रागद्वेषरूप है। उन कषायो तथा नोकषायोसे योग प्रवृत्त होते हैं**—मन, वचन तथा कायकी क्रियायें बनती हैं—**और उन योगोके प्रवर्तनसे प्राणि-वधादिरूप हिंसादिक कार्य होते हैं।**'

व्याख्या—माया, लोभ, हास्य, रति और स्त्री-पुरुषादि-वेद-रूप काम-वासनाएँ ये पाँच (दो कषायें तथा तीन नोकषायें) राग-रूप हैं। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) ये छह (दो कषाये तथा चार नोकषायें) द्वेषरूप है[1]। मन-वचन-कायकी क्रियारूप योगोकी प्रवृत्ति शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकारकी होती है। शुभयोगप्रवृत्तिके द्वारा अच्छे-पुण्य-कार्य और अशुभयोगप्रवृत्तिके द्वारा बुरे-पापकार्य होते

---

१ राग प्रेमरतिर्माया लोभ हास्य च पचधा।
मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेष क्रुधादि पट् ॥ (अध्यात्मरहस्य २७)

हैं और इसलिए 'प्राणिवधादयै' पदमे प्रयुक्त हुआ बहु-वचनान्त 'आदि' शब्द जहाँ झूठ, चोरी, मैथुन-कुशील और परिग्रह जैसे पापकार्योंका वाचक है वहाँ अहिंसा-दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-जैसे पुण्यकार्योंका भी वाचक है।

तेभ्यः[1] कर्माणि बध्यन्ते तत सुगति-दुर्गती ।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥१८॥

'उन प्राणिवधादिक कार्योसे कर्म बँधते हैं—जिनके शुभ तथा अशुभ ऐसे दो भेद है। **कर्मोके बन्धनसे सुगति तथा दुर्गति-की प्राप्ति होती है** —अच्छे-शुभ कर्मोके बन्धनसे (देव तथा मनुष्य भवकी प्राप्तिरूप, सुगति और बुरे-अशुभ कर्मोके बन्धन-से (नरक तथा तिर्यंचयोनिरूप) दुर्गति मिलती है। **कर्मोके वश उस सुगति या दुर्गतिमे जहाँ भी जीवको जाना होता है वहाँ शरीर उत्पन्न होते है और शरीरोंके साथ सहज ही इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं**—चाहे उनकी सख्या एक शरीरमे कमसे कम एक ही क्यो न हो।

व्याख्या—यहाँ जिन कर्मोंके बन्धनेका उल्लेख है, उनकी ज्ञानावरणादिरूप मूलप्रकृतियाँ आठ, मतिज्ञानावरणादिरूप उत्तरप्रकृतियाँ एकसौ अडतालीस और फिर मतिज्ञानावरणा-दिके भेद-प्रभेद होकर उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असख्य हैं। इन सब कर्मप्रकृतियोमे कुछ शुभरूप है, जिन्हे पुण्यप्रकृतियाँ कहते हैं, और

---

१ जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदि-सुगदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इदियाणि जायते ॥१२९॥
—पचास्तिकाय

शेष अशुभरूप हैं, जिन्हे पापप्रकृतियाँ कहते हैं। इन सब कर्मोंका, कर्मोंसे होनेवाली चार प्रकारकी गतियोका, गतियोमे प्राप्त होनेवाले औदारिक-वैक्रियकादि पच प्रकारके शरीरोका और शरीरोके साथ सम्बद्ध स्पर्शन-रसनादि पाँच प्रकारकी इन्द्रियो-का स्वरूपादि-विपयक विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थसूत्र, उसके टीका-ग्रन्थ, षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, पचसग्रह और गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रन्थोसे जानना चाहिये।

[1]तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्लन्मुह्यति द्वेष्टि रज्यते।
ततो बद्धो[2] भ्रमत्येव मोह-व्यूह-गतः पुमान् ॥१९॥

'उन इन्द्रियोके विषयोको इन्द्रियो-द्वारा ग्रहण करता हुआ जीव राग करता है, द्वेष करता है तथा मोहको प्राप्त होता है और इन राग-द्वेष-मोहरूप प्रवृत्तियो-द्वारा नये बन्ध-नोसे बँधता है। इस तरह मोहकी सेनासे घिरा तथा उसके चक्कर-मे फँसा हुआ यह जीव भ्रमण करता ही रहता है।'

व्याख्या—यह उस कथनका उपसहार-पद्य है जिसकी सूचना तेरहवें पद्यमे 'मोह-व्यूहको सुदुर्भेद बतलाते हुए' की गई थी। ममकार और अहकारसे जिन राग-द्वेषकी उत्पत्ति हुई थी वे अपनेसे अनेक कर्मबन्धनोको उत्पन्न करते हुए फिर यहाँ आगये हैं और यहाँसे फिर नये कर्मचक्रकी सृष्टि शुरू हो गई है। इस तरह कर्मके चक्करसे यह जीव निकलने नही पाता—उसी की भूलभुलैयाँमे फँसा हुआ बराबर उस वक्त तक ससार-परिभ्रमण करता रहता है जब तक कि उसका दृष्टिविकार

---

१ तेहिं दु विसयग्गहण तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेद भावो ससार-चक्कवालम्मि ॥१३०॥ (पचास्ति०)

२ मु मे वधो।

मिटकर उसे यह सूझ नही पडता कि ये मोहादिक–मिथ्यादर्शनादिक–ससार-परिभ्रमणके हेतुरूप मेरे शत्रु है और इनके फन्देसे छूटनेका कोई उद्यम नही करता।

मुख्य वन्धहेतुओके विनाशार्थ प्रेरणा

तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः ।
ममाऽहंकारयोश्चात्मन् ! विनाशाय कुरूद्यमम् ॥२०॥

'अत हे आत्मन् ! (यदि तू इस भव-भ्रमणसे छूटना चाहता है तो) इस मिथ्यादर्शनरूप मोहके, भ्रमादिरूप मिथ्याज्ञानके और ममकार तथा अहंकारके, जोकि तेरे शत्रु हैं, विनाशके लिये उद्यम कर।'

व्याख्या—यहाँ मोह, मिथ्याज्ञान, ममकार और अहकार इन चारोको आत्माका शत्रु वतलाया गया है, क्योकि ये आत्माका अहित करते है—उसके गुणोका घात करके आत्मविकासको रोकते है। इसीसे इनके विनाशके लिए यहाँ उद्यम करनेकी प्रेरणा की गई है, और इससे यह स्पष्ट है कि इन शत्रुओका नाश विना उद्यम, प्रयत्न अथवा पुरुषार्थके अपने आप नही होगा। यथेष्ट पुरुपार्थके अभावमे इनकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। अत इनका मूलोच्छेद करनेके लिये प्रवल पुरुषार्थकी अत्यन्त आवश्यकता है। उस पुरुषार्थके वन आनेपर इनका विनाश अवश्यभावी है।

मुख्य वन्ध-हेतुओके विनाशका फल

वन्ध-हेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव ।
शेषोऽपि राग[1] द्वेषादिर्बन्ध-हेतुर्विनंक्ष्यति[2] ॥२१॥

---

१ सि जु शेपो राग। २. मु विनश्यति।

'(हे आत्मन् !) बन्धके मुख्य कारणो—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और ममकार-अहकाररूप मिथ्याचारित्र–के क्रमश नष्ट होने पर तेरे राग–द्वेषादिरूप शेष जो बन्धका हेतु—कारण-कलाप—है वह सब भी नाशको प्राप्तहो जायगा।'

व्याख्या—पूर्वकारिकामे जिन मोहादिकको आत्माका शत्रु वतलाया गया है और जिनके विनाशार्थ खासतौरसे पुरुषार्थकी प्रेरणा कीगई है, उन्हे आचार्यमहोदयने यहाँ वन्धके कारणोमे प्रधानकारण प्रतिपादित किया है और साथ ही आत्माको यह आश्वासन दिया है कि तुझे वन्धनबद्ध करनेवाले इन प्रमुख शत्रुओके नष्ट होजानेपर शेष वन्धकारक जो राग-द्वेषादिरूप शत्रुसमूह है वह भी नाशको प्राप्त होजायगा—उसके विनष्ट होनेमे फिर अधिक विलम्ब तथा पुरुषार्थकी अपेक्षा नही रहेगी, क्योकि ममकारसे रागकी और अहंकारसे द्वेषकी उत्पत्ति होती है। जब ममकार और अहकार ही नष्ट होगये, तब राग और द्वेषकी परम्परा कहाँसे चलेगी ? राग द्वेषके अभावमे क्रोधादि-कषाये तथा हास्यादि नोकषाये स्थिर नही रह सकेंगी, क्योकि रागसे लोभ-माया नामक कषायोकी तथा हास्य, रति, काम-भोगरूप नोकषायोकी उत्पत्ति होती है और द्वेषसे क्रोध-मान नामक कषायोकी तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सारूप नोकषायो-की उत्पत्ति होती है। कषाय–नोकषायके अभावमें मन-वचन-कायकी क्रियारूप योगोकी प्रवृत्ति नही वनती। योगोकी प्रवृत्ति-के न बननेपर कर्मोका आस्रव नही बनता, जिसे वन्धका निबन्धन कहा गया है। और जब कर्मोका आस्रव ही नही बनेगा, तब बन्धन किसके साथ होगा ? किसीकेभी साथ वह नही बनसकेगा। इस तरह यह स्पष्ट है कि बन्धके उक्त मुख्य हेतुओका विनाश होनेपर बन्धके शेष सभी हेतुओका नाश होना अवश्यभावी है।

इसीसे आचार्यमहोदयने उनके सह-नाशका आश्वासन दिया है और इस आश्वासनके द्वारा मुमुक्षुको उन प्रमुख शत्रुओके प्रथमत विनाशके लिये प्रोत्साहित किया है ।

यहाँ प्रयुक्त हुआ 'क्रमश.' शब्द अपना खास महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि इन मोह, मिथ्याज्ञान, ममकार और अहकारका विनाश क्रमश होता है। ऐसा नही कि दृष्टिविकाररूप मोह तो बना रहे और मिथ्याज्ञानका अभाव होजाय अथवा मोह और मिथ्याज्ञान दोनो बने रहे किन्तु ममकार छूट जाय या ममकार भी बनारहे और अहकार छूट जाय। पूर्व-पूर्वके विनाशपर उत्तरोत्तरका विनाश अवलम्बित है ।

समस्त बन्धहेतुओके विनाशका फल

ततस्त्वं बन्ध–हेतूनां समस्तानां विनाशतः ।
बन्ध-प्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यति संसृतौ ।।२२।।

'तत्पश्चात् राग-द्वेषादिरूप बन्धके शेष कारणकलापके भी नाश हो जाने पर (हे आत्मन् !) तू सारे ही कारणोके विनाशसे और (फलत') बन्धनके भी विनाशसे मुक्त हुआ (फिर) संसारमे भ्रमण नहीं करेगा।'

व्याख्या—यहाँ पर पूव पद्यमे दिये हुए आश्वासनको और आगे बढाया गया है और यह कहा गया है कि जब उपर्युक्त प्रकारसे सारे बन्ध-हेतुओका अभाव हो जायगा, तब बन्धका भी अभाव होजायगा, क्योकि कारणके अभावमे कार्यका अस्तित्व नही बनता। जब बन्धका पूर्णत' विनाश हो जायगा, तब हे आत्मन् ! तू बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जायगा और इस तरह ससार-परिभ्रमणसे अथवा ससारके सारे दु खोसे छूट जायगा; क्योकि बन्धका कार्यही ससार-परिभ्रमण है, जिसे सारे दु खो-

का दाता बतलाया गया है[1]।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि बन्धके हेतुओका विनाश कैसे किया जाय ?—किस उपाय अथवा कौनसे पुरुषार्थको उसकेलिये काममे लाया जाय ? इसके उत्तरमे आचार्यमहोदय कहते है .—

बन्ध-हेतु-विनाशार्थ मोक्ष-हेतु-परिग्रह

बन्ध हेतु-विनाशस्तु मोक्षहेतु-परिग्रहात् ।
परस्पर-विरुद्धत्वाच्छीतोष्ण-स्पर्शवत्तयोः ॥२३॥

'बन्धके कारणोका विनाश तब बनता है जब कि मोक्षके कारणोंका आश्रय लिया जाता है, क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनो-के कारण उसीतरह एकदूसरेके विरुद्ध हैं जिसतरह कि शीतस्पर्श उष्णस्पर्शके विरुद्ध है—शीतको दूर करनेके लिये जिस प्रकार उष्णताके कारण और उष्णताको दूर करनेके लिये शीतके कारण मिलाये जाते है, उसी प्रकार बन्धके कारणोको दूर करनेके लिये मोक्षके कारणोका मिलाना आवश्यक है।'

व्याख्या—यहाँ सक्षेपमे उस उपाय, मार्ग अथवा पुरुषार्थकी सूचना की गई है जिससे बन्ध-हेतुओका विनाश सधता है, और वह है मोक्ष-हेतुका परिग्रहण—मोक्ष-मार्गका सम्यक् अनुसरण। क्योकि मोक्ष-हेतु बन्ध-हेतुका प्रबल विरोधी है अत. उसको अप-नानेसे बन्ध-हेतुका सहज ही विनाश हो जाता है।

अब उस मोक्ष-हेतुका क्या रूप है, उसे बतलाया जाता है —

मोक्षहेतुका लक्षण सम्यग्दर्शनादि-त्रयात्मक

स्यात्सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रितयात्मकः ।
मुक्ति-हेतुर्जिनोपज्ञ निर्जरा-सवर-क्रिय.[2] ॥२४॥

---

१ तत्त्वानुशासन ७।
२ मु क्रिया, मे क्रिया।

'सर्वज्ञ-जिनके द्वारा स्वयका अनुभूत एव उपदिष्ट मुक्ति-हेतु (मोक्षमार्ग) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ऐसे त्रितयात्मक हैं—इन तीनोको आत्मसात् किये हुए इन रूप है—और निर्जरा तथा सवर उसकी फलव्यापारपरक क्रियाये हैं—वह इन दोनो रूप परिणमता हुआ मोक्षफलको फलता है।'

व्याख्या—यहाँ 'त्रितयात्मक' पद और 'मुक्तिहेतु' पदका एकवचनमे निर्देश खासतौरसे ध्यानमे लेने योग्य है और दोनो पद इस बातको सूचित करते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये अलग-अलग मोक्षके तीन हेतु अथवा मार्ग नही है, बल्कि तीनो मिलकर मोक्षका एक अद्वितीय मार्ग बनाते है। यही बात मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग' इस प्रथम सूत्रमे निर्दिष्ट हुई है। मुक्तिहेतुका 'निर्जरा-सवर-क्रिय.' यह विशेषणपद और भी अधिक ध्यान देने योग्य है और वह इस बातको सूचित करता है कि बन्धनसे छूट कर मुक्तिको प्राप्त करना केवल पूर्वबन्धनोकी नष्टिरूप निर्जरासे ही नही बनता, बल्कि नये बन्धनोको रोकनेरूप सवरकी भी साथमे अपेक्षा रखता है। सम्यग्दर्शनादिका व्यापार निर्जरा और सवर दोनो रूपमे होता है और तभी वे मोक्षफलको प्राप्त करानेमे समर्थ होते है।

सम्यग्दर्शनका लक्षण

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शन स्मृतम् ॥२५॥

'जीवादिक जो नौ पदार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप नामके—हैं उन्हे जिस प्रकारसे

सर्वज्ञ-जिनने निर्दिष्ट किया है वे उसी प्रकारसे स्थित है— अन्यथा रूपसे नही—ऐसी जो श्रद्धा, रुचि अथवा प्रतीति है, उसका नाम 'सम्यग्दर्शन' है ।'

व्याख्या—यहाँ 'अर्थ' शब्दके द्वारा जिन पदार्थो का ग्रहण विवक्षित है, उन्हे अन्यत्र समयसारादि आगम-ग्रन्थोमे 'तत्त्व' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट किया है । तत्त्व, अर्थ और पदार्थ इन तीनोको एक ही अर्थके वाचक समझना चाहिये । इनकी मूलसख्या प्राय नौ रूढ[1] है । इसीसे उक्त सख्याके अनुसार ९ नाम ऊपर दिये गये है । तत्त्वार्थसूत्रादि कुछ मूल-ग्रन्थोमे तत्त्वोकी सख्या सात दी है[2] । उनमे पुण्य तथा पापको आस्रव-तत्त्वमे सग्रहीत किया है । अत जिनभाषित तत्त्वो या पदार्थोंकी श्रद्धा-दृष्टिसे इस संख्या-भेदके कारण सम्यग्दर्शनमे कोई अन्तर नही पड़ता । 'सम्यग्दर्शन' पदमे प्रयुक्त हुआ 'दर्शन' शब्द यहा श्रद्धाका वाचक है—चक्षुदर्शनादिरूप दृष्टिका वाचक नही—जैसे कि '**तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्**' इस सूत्रमे प्रयुक्त हुआ 'दर्शन' शब्द श्रद्धानका वाचक है ।

इन जीवादि पदार्थोंका उनके भेद-प्रभेदो-सहित जैसा कुछ स्वरूप-निर्देश जिनागमोंमे किया गया है, उस सबका वैसा ही अविरोधरूप श्रद्धान यहाँ विवक्षित है, क्योकि '**नाऽन्यथावादिनो जिना**' की उक्तिके अनुसार वीतराग सर्वज्ञ-जिन अन्यथावादी नही होते और इसलिये उनके कथन-विरुद्ध जो श्रद्धान है वह अतत्त्व-श्रद्धान होनेसे सम्यग्दर्शनकी कोटिसे निकल जाता है । जो जिन-भाषित होता है, वह युक्ति तथा आगमसे अविरोधरूप

---

१. जीवाऽजीवा भावा पुण्ण पाव च आसव तेसिं ।
सवर-णिज्जर-बधो मोक्खो य हवति ते अट्ठा ।। (पचास्ति० १०८)

२. जीवाऽजीवाऽस्रव-बन्ध-सवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् (त० सू० १-४)

होता है, यही उसकी प्रमुख कसौटी है। सदिग्धावस्थामे इस कसौटी पर उसे कस लेना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानका लक्षण

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते॥२६॥

'(जिनभाषित) जीवादि पदार्थोंमें जो प्रमाणो, नयो और निक्षेपोके द्वारा याथात्म्यरूपसे निश्चय होता है उसको 'सम्यग्ज्ञान' माना गया है।'

व्याख्या—प्रमाणोके प्रत्यक्ष-परोक्षादिके विकल्पसे अनेक भेद है। नयोंके भी निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और नैगम-सग्रहादिके विकल्पसे अनेक भेद हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे निक्षेप चार प्रकारके है। ये सब प्रमाणादिक पदार्थो की यथार्थताके निश्चायक हैं। इनके द्वारा पदार्थो के स्वरूपादि-निर्धारण अथवा निश्चयको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इन प्रमाणो, नयो तथा निक्षेपोके भेद-प्रभेदो और उनके स्वरूपादिकी जानकारीके लिये तत्त्वार्थसूत्रके टीकादि-ग्रन्थो तथा अन्य तत्त्व-ज्ञान-विषयक जैनग्रन्थोको देखना चाहिये।

सम्यक्चारित्रका लक्षण

चेतसा वचसा तन्वा कृताऽनुमत-कारितैः।
पाप-क्रियाणां यस्त्याग. सच्चारित्रमुषन्ति तत्॥२७॥

'मनसे, वचनसे, कायसे कृत-कारित-अनुमोदनाके द्वारा जो पापरूप क्रियाओंका त्याग है उसको 'सम्यक्चारित्र' कहते हैं।'

व्याख्या—पापरूप कियाओके करने का मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग, पापरूप क्रियाओके करानेका मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग, पापरूप क्रियाओंके दूसरो-

द्वारा किये-कराये जाने पर उनके अनुमोदनका मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग, इस तरह पापक्रियाओका जो नव प्रकार-से त्याग है उसका नाम सम्यक्चारित्र है।

यहाँ सम्यक्चारित्रका यह लक्षण पापक्रियाओके त्यागरूप होनेसे निषेधपरक (निवृत्त्यात्मक) है और निषेधका विधिके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ त्याग होता है वहाँ कुछ ग्रहण भी होता है और वह ग्रहण त्याज्यके प्रतिपक्षीका होता है। पाप-क्रियाओकी प्रतिपक्षी-क्रियायें धर्मक्रियायें हैं, उनका ग्रहण अथवा अनुष्ठान पापक्रियाओंके त्यागके साथ अवश्यभावी है और इसलिये उनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे सच्चारित्रका विधि-परक (प्रवृत्त्यात्मक) लक्षण भी यहाँ फलित होता है और वह यह कि—'मनसे, वचनसे तथा कायसे कृत-कारित-अनुमोदनाके द्वारा जो (पापविनाशक) धर्मक्रियाओका अनुष्ठान है, उसका नाम भी सम्यक्चारित्र है।

मोक्षहेतुके नयदृष्टिसे भेद और उनकी स्थिति

[1]मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः[2] ।
तत्राऽऽद्य साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२८॥

'पूर्वोक्त मुक्ति-हेतु—मोक्षमार्ग—**निश्चयनय और व्यवहार-नयके भेदसे पुन दो प्रकार है, जिनमे पहला निश्चय मोक्षमार्ग-साध्यरूप है और दूसरा व्यवहार-मोक्षमार्ग उस निश्चयमोक्षमार्ग-का साधन है।**'

व्याख्या—यहाँ मोक्षमार्गके दो नयदृष्टियोसे दो भेद करके एक-को साध्य और दूसरेको साधन प्रतिपादित किया गया है और इससे

---

१. निश्चय-व्यवहाराभ्या मोक्षमार्गो द्विधा स्थित ।
तत्राऽऽद्य साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥
—तत्त्वार्थसारे, अमृतचन्द्रः

२ मु निश्चयव्यवहारत ।

यह स्पष्ट है कि व्यवहार-मोक्षमार्ग साधन होनेसे निश्चय-मोक्षमार्गकी सिद्धिके पूर्व क्षण तक अनुपादेय नही है, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि कोठे पर चढनेकी सीढी कोठेके ऊपर पहुँचनेसे पहले तक अनुपादेय नही होती—कोठेकी छतके अत्यन्त निकट पहुँच जाने पर और वहाँ पैर जम जाने पर भले ही वह अनुपादेय अथवा त्याज्य हो जाय ।

निश्चय-व्यवहार-नयोका स्वरूप

[1]अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि-विषयो निश्चयो नयः ।
व्यवहार-नयो भिन्न-कर्तृ-कर्मादि-गोचरः ॥२९॥

'निश्चयनय अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक होता है—उसमे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणका व्यक्तित्त्व एक दूसरेसे भिन्न नही होता । व्यवहारनय भिन्न कर्तृ-कर्मादि विषयक है—उसमे कर्ता, कर्म,करणादि का व्यक्तित्त्व एक दूसरेसे भिन्न होता है—यही इन दोनो नयोमे मुख्य भेद है ।'

व्याख्या—दोनो नयोंके इस स्वरूप-कथनसे निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गके अगभूत जो सम्यग्दर्शनादिक हैं उनके कर्ता-कर्मादिका विषय स्पष्ट सूचित होता है—एकमे वह मुमुक्षुके अपने आत्मासे भिन्न नही होता और दूसरेमे उससे भिन्न होता है ।

आगे तीन पद्योमे व्यवहार और निश्चय दोनो प्रकारके मोक्षमार्गोका अलग-अलग स्वरूप दिया जाता है—

---

१ अभिन्न-कर्तृकर्मादि-गोचरो निश्चयोऽथवा ।
व्यवहार पुनर्देव ! निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः ॥

—ध्यानस्तव ७१

व्यवहार-मोक्ष-मार्ग

[1]धर्मादि-श्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम्[2] ।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरयम् ॥३०॥

'धर्म आदिका—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल इन छह द्रव्योका तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थों या तत्त्वोका—**जो श्रद्धान वह 'सम्यक्त्व'** (सम्यग्दर्शन), **उन द्रव्यों तथा तत्त्वोंका जो अधिगम**—अधिकृतरूपसे अथवा सविशेषरूपसे जानना—वह **'सम्यग्ज्ञान', और तपमे**—इच्छाके निरोधमे—**जो चर्या-प्रवृत्ति वह 'सम्यक्चारित्र' है** । इस प्रकार यह व्यवहारनयकी दृष्टिसे मुक्तिका हेतु है—व्यवहार-रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है ।'

व्याख्या—प्रकरण और ग्रन्थ-सन्दर्भकी दृष्टिसे इस पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'सम्यक्त्वं' पद सम्यग्दर्शनका, 'ज्ञानं' पद सम्यग्ज्ञान का और 'चरण' पद सम्यक्चारित्रका वाचक है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप इससे पहले प्रस्तुत ग्रन्थ (२५, २६, २७) मे दिया जा चुका है । यहाँ उन्हीका स्वरूप कुछ भिन्नताको लिए हुए जान पडता है । वहाँ जीवादि नव पदार्थोंके यथा-जिनभाषितरूपसे श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है और यहाँ मात्र धर्मादिकके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कह दिया है, वहाँ उन नव पदार्थोंके प्रमाण-नय-निक्षेपोद्वारा सम्यक्निश्चयको सम्यग्ज्ञान बतलाया गया है तो यहाँ धर्मादिकके मात्र अधिगमको सम्यग्ज्ञान कह दिया है, और वहाँ मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदनासे पापकी क्रियाओके त्यागको सम्यक्चारित्र

---

१. धम्मादी सद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वादि ।
चिट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्ख मग्गो त्ति ॥ (पचा० १६०)

२ तेसिमधिगमो णाण । (पचा० १०७, समय० १५५)

निर्दिष्ट किया है तो यहाँ केवल तपकी चेष्टाको ही चारित्र बतला दिया है। इस भेदका क्या कारण है? यह यहाँ विचारणीय है। जहाँ तक मैंने विचार किया है, पूर्व तीन पद्यो (२५, २६,२७) का कथन सम्यग्दर्शनादिके लक्षण-स्वरूप-निर्देशकी दृष्टिको लिए हुए है और यहाँ पर उस दृष्टिको छोडकर उनके सामान्य-स्वरूपकी मात्र सूचना की गई है। पापक्रियाओका जो त्याग है वह एक प्रकारसे इच्छाके निरोधरूप तप ही है। फिर भी **'जीवादिश्रद्धानं'**के स्थान पर **'धर्मादिश्रद्धानं'** का जो पद है वह कुछ खटकता जरूर है, परन्तु यह खटक उस वक्त मिट जाती है जब हम श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी पचास्तिकायगत उस गाथाको देखते हैं जो पिछले फुटनोटमे उद्धृत है। वस्तुत दोनोमे कोई अन्तर नही है, अजीवके कथनमे धम, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योका कथन आजाता है। इसके सिवाय, स्वय श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने सम्यक्त्वादिका स्वरूप **'जीवादी सद्दहणं'** रूपसे भी दिया है, जैसा कि प्रवचनसारकी निम्न गाथासे प्रकट है —

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं[1] तेसिमधिगमो णाणं।
रायादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

निश्चय-मोक्ष-मार्ग

[2]निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभियः समाहितो भिक्षुः।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुंचति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥

'इन तीनों व्यवहारसम्यग्दर्शनादिसे भले प्रकार युक्त जो भिक्षु—साधु जब न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ छोड़ता है तब

---

१. 'जीवादी सद्दहणं सम्मत्त', वाक्य दंसणपाहुडमे भी दिया है।

२. णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति(पचा० १६१)

वह निश्चयनयसे मुक्ति हेतुरूप होता है—स्वय मोक्षमार्गरूप परिणमता है।'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयसे उस साधुको मोक्षमार्गरूप बतलाया है जो इन सम्यग्दर्शनादिसे युक्त हुआ ग्रहण और त्यागकी प्रवृत्तिको छोड देता है। जबतक आत्मासे भिन्न परपदार्थोंमे ग्रहण-त्यागकी बुद्धि तथा प्रवृत्ति बनी रहती है तबतक आत्मामे सम्यक्-स्थितिरूप मोक्षकी साधना नही बनती। वस्तुत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय)रूप परिणत हुआ अपना आत्मा ही मोक्षमार्ग है[1]।

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्याऽऽत्मा।
दृगवगमचरणरूपः स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति हि जिनोक्तिः[2] ॥३२॥

'जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा मध्यस्थ भावको प्राप्त हुआ आत्माको आत्माके द्वारा आत्मामे देखता और जानता है वह निश्चयनयसे (स्वयं) मुक्तिका हेतु है, ऐसी सर्वज्ञ-जिनकी उक्ति–वाणी है।'

व्याख्या—वास्तवमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत वह आत्मा ही निश्चयनयकी दृष्टिसे मोक्षमार्ग है जो रागद्वेषसे रहित हुआ अपने आत्माको अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामे देखता और जानता है। क्योकि निश्चयनय अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक होता है (२९)—निश्चयनयमे जानने और देखनेकी

---

१ सम्मद्दसण णाण चरण मोक्खस्स कारण जाणे।
ववहारा,णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ (द्रव्यस० ३९)

२ मु रिति जिनोक्ति। सि ज्ञु हे जिनोक्ति

क्रियाका कर्त्ता, कर्म और अधिकरण आत्मासे भिन्न कोई दूसरा नही होता।

द्विविध मोक्षमार्ग ध्यानलभ्य होनेसे ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा

[1]स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु[2]ध्यानं सुधिय सदाऽप्यपास्याऽऽलस्यम्
॥३३॥

'यत (चू कि) निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारका निर्दोष मुक्तिहेतु (मोक्षमार्ग) ध्यानकी साधनामें प्राप्त होता है अत हे सुधीजनों! सदा ही आलस्यका त्याग कर ध्यानका अभ्यास करो।'

व्याख्या—यहाँ सुधीजनोको निरालस्य होकर सदा ध्यानकी प्रेरणा करते हुए उसकी उपादेयता तथा उपयोगिताको जिस हेतु-द्वारा प्रदर्शित किया है वह खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य है और वह यह है कि ध्यान-द्वारा दोनो प्रकारका मोक्षमार्ग सधता है। जब मुमुक्षु ध्यानमे अपनेसे भिन्न दूसरे पदार्थोंका अवलम्बन लेकर उन्हे ही अपने श्रद्धानादिका विषय बनाता है तब वह व्यवहार-मोक्षमार्गी होता है। और जब केवल अपने आत्माका ही अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धानादिका विषय बनाता है तब वह निश्चय-मोक्षमार्गी होता है। इस तरह ध्यानका करना बहुत ही आवश्यक तथा उपयोगी ठहरता है।

---

१ दुविहं पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥ (द्रव्यसं० ४७)

२. मु मे भ्यसंतु।

ध्यानके भेद और उनकी उपादेयता

आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा ।
धर्म्यं[1] शुक्लं च सद्ध्यान[2]मुपादेयं मुमुक्षुभिः ॥३४॥

'आर्त्तध्यान दुर्ध्यान है, रौद्रध्यान भी दुर्ध्यान है और यह प्रत्येक दुर्ध्यान मुमुक्षुओंके द्वारा सदा त्यागने योग्य है। धर्म्यध्यान सद्ध्यान है, शुक्लध्यान भी सद्ध्यान है और यह प्रत्येक सद्ध्यान मुमुक्षुओके द्वारा सदा ग्रहण किये जानेके योग्य है।'

व्याख्या—यहाँ आगमवर्णित ध्यानके मूल चार भेदोका नामोल्लेख करते हुए उनमे पहले आर्त और रौद्र दो ध्यानोको दुर्ध्यान बतलाया है, जिन्हे असत्, अप्रशस्त तथा कलुष-ध्यान भी कहते है। शेष धर्म्य और शुक्ल दो ध्यानोको सद्ध्यान बतलाया है, जिन्हे प्रशस्त तथा सातिशय-ध्यान भी कहते है। पहले दोनो दुर्ध्यान पापबन्धके और ससार-परिभ्रमणके कारण होनेसे हेय-कोटिमे स्थित हैं और इसलिए मुमुक्षुओके द्वारा सदा त्याज्य हैं, जबकि धर्म्य और शुक्ल दोनो ध्यान सवर, निर्जरा तथा मोक्षके कारण होनेसे उपादेय-कोटिमे स्थित है और इसलिए मुमुक्षुओ-द्वारा सदा ग्राह्य हैं।

'**ऋते भवमार्त्तं**' इस निरुक्तिके अनुसार ऋत नाम दुःख, अर्दन (पीडन) अथवा अर्तिका है और उसमे जो उत्पन्न होता है उसे 'आर्त्तध्यान' कहते हैं। विवक्षित दुःख चार प्रकारका होनेसे आर्तध्यानके भी चार भेद कहे गए हैं—१ इष्ट-वियोगज, २ अनिष्ट-सयोगज, ३ असाता-वेदनाजन्य (रोगज), ४ निदान। इष्ट अथवा मनोज्ञ वस्तुका वियोग होने पर उसके सयोगकी जो वार-वार चिन्ता है, वह पहला आर्त-

---

१. मु मे धर्मं।

२. सि जु सुध्यानं।

ध्यान है, अनिष्ट–अमनोज्ञ पदार्थका संयोग होने पर उसके वियोगकी जो वार-वार चिन्ता है वह दूसरा आर्तध्यान है। रोगजनित वेदनाको दूर करनेके लिए जो स्मृतिका सतत प्रवर्तन है वह तीसरा आर्तध्यान है और भोगोकी आकाक्षासे आतुर व्यक्तिके अनागत भोगोकी प्राप्तिके लिए जो मनः प्रणिधान है वह चौथा आर्तध्यान है[1]। यह ध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसयतोके होता है।

रुद्र नाम क्रूर-आशय का, उसका जो कर्म अथवा उसमे जो उत्पन्न उसे रौद्र कहते हैं[2]। वह हिंसा, असत्य, चोरी तथा विषय-सरक्षणके निमित्तसे होता है। इन निमित्तोके कारण उसके चार भेद होते हैं—१ हिंसानन्द, २ मृषानन्द, ३ चौर्यानन्द और ४ विषय-सरक्षणानन्द, जिसे परिग्रहानन्द भी कहते हैं।

ये चारो रौद्रध्यान अपने हिंसादिक कृत्योंके द्वारा दूसरोको रुलाकर–कष्ट पहुँचाकर आनन्द मनानेके रूपमे महाक्रूरताको लिए हुए होते है। ये अविरत तथा देशविरत तक ही होते है।

शुक्लध्यानके ध्याता

वज्रसंहननोपेताः पूर्व-श्रुत-समन्विताः।
दध्युः शुक्लमिहाऽतीता. श्रेण्योरारोहणक्षमाः ॥३५॥

---

१. ऋते भवमार्त्तं स्याद् ध्यानमाद्यं चतुर्विधम्।
इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिनिदानाऽसातहेतुकम् ॥३१॥
विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुतर्षणम्।
अमनोज्ञार्थसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ॥३२॥
निदानं भोगकाक्षोत्थं संक्लिष्टस्याऽन्यभोगत'।
स्मृत्यन्वाहरणं चैव वेदनार्तस्य तत्क्षये ॥३३॥ (आर्ष, पर्व २१)

२ रुद्र क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम् (सर्वार्थसिद्धि ९-२८)

'वज्रसंहननके धारक, पूर्वनामक श्रुतज्ञानसे संयुक्त और दोनो उपशम तथा क्षपक-श्रेणियोंके आरोहणमें समर्थ, ऐसे अतीत-महापुरुषोने इस भूमंडल पर शुक्लध्यानको ध्याया है।'

व्याख्या—भूतकालमे जिस योग्यतावाले महापुरुषोने शुक्लध्यानको धारण किया उसका उल्लेख करते हुए यहाँ प्रकारान्तरसे उस ध्यान-सामग्रीको सूचना की गई है, जिसके बल पर शुक्लध्यान लगाया जा सकता है और वह है वजूसहनन-को प्राप्ति, पूर्वागमवर्णित श्रुतज्ञानकी उपलब्धि और उपशम तथा क्षपक-श्रेणियोमे चढनेकी क्षमता।

धर्म्यध्यानके कथनकी सहेतुक प्रतिज्ञा

तादृक्सामग्र्यभावे तु ध्यातुं शुक्लमिहाक्षमान्[1] ।
ऐदयुगीनानुद्दिश्य धर्म्यध्यान प्रचक्ष्महे ॥३६॥

'इस क्षेत्रमे उस प्रकारको वज्रसंहननादि-सामग्रीका अभाव होनेके कारण जो शुक्लध्यानको ध्यानेमे असमर्थ हैं उन इस युगके साधुकोको लक्ष्यमे लेकर मै धर्म्यध्यानका कथन करूंगा।'

व्याख्या—यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि शुक्लध्यानके लिये वजूसहननादिरूप जिस सामग्रीकी आवश्यकता पिछले पद्यमे व्यक्त की गई है उसका आजकल इस क्षेत्रमे अभाव है, जिसके कारण शुक्लध्यान यहाँ नही बन सकता। इसीसे वर्तमान युगके ध्यानयोगियोको लक्ष्य करके यहाँ धर्म्यध्यानके कथन-की प्रतिज्ञा की गई है।

अष्टागयोग और उसका सक्षिप्त-रूप

ध्याता ध्यान फल ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा ।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना ॥३७॥

---

१. आ क्षमात् ।

'जो योगी ध्यान करनेकी इच्छा रखता है उसे ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल, जिसके, जहाँ, जब और जैसे यह सब इस धर्म्यध्यानके प्रकरणमें जानना चाहिए।'

व्याख्या—यहाँ योगीको योगके जिन आठ अगोको जाननेकी प्रेरणा की गई है, उनमे 'यस्य' शब्द ध्यानके स्वामीका, 'यत्र' शब्द ध्यानके योग्य क्षेत्रका 'यदा' शब्द ध्यानके योग्य कालका और 'यथा' शब्द ध्यानके योग्य अवस्था-मुद्रादिका वाचक है। ध्यानादिका स्वरूप ग्रन्थकारने स्वय आगे दिया है।

गुप्तेन्द्रिय-मना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम् ।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं निर्जरा-संवरौ फलम् ॥३८॥

'इन्द्रियों तथा मनोयोगका निग्रह करनेवाला—उन्हे अपने अधीन रखनेवाला—'ध्याता' कहलाता है, यथावास्थित वस्तु 'ध्येय' कही जाती है, एकाग्र-चिन्तनका नाम 'ध्यान' है और निर्जरा तथा संवर दोनों (धर्म्यध्यानके) 'फल' हैं।'

व्याख्या—यहाँ योगके ध्यानादिरूप प्रथम चार अगोका सक्षिप्त स्वरूप दिया गया है। इनके विशेषरूपका वर्णन ग्रन्थ-कारने स्वय आगे पद्य न० ४१ से किया है। अत उसको यहाँ देनेकी जरूरत नही।

[1]देश कालश्च सोऽन्वेष्यः[2] सा चाऽवस्थाऽनुगम्यताम्
यदा यत्र यथा[3] ध्यानमपविघ्नं प्रसिद्ध्यति[4] ॥३९॥

(धर्म्यध्यानके स्वामी-द्वारा ध्यानके लिए) देश (क्षेत्र) और काल (समय) वह अन्वेषणीय हैं और अवस्था वह अनुसर-

---

१. यदा यत्र यथावस्थो योगी ध्यानमवाप्नुयात् ।
स कालः स च देश स्याद् ध्यानावस्था च सा मता ॥(आर्ष २१-८३)

२. मु मे ऽन्वेष्य। ३ ज यथा यत्र यदा। ४ सि जु प्रसिध्यते।

णीय है जहां, जब और जैसे ध्यान निर्विघ्न सिद्ध होता है।'

व्याख्या—यहाँ योगके उत्तरवर्ती तीन अगोके सक्षिप्त स्वरूपके लिए केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि जब, जहाँ और जिस अवस्थासे ध्यानकी निर्विघ्न सिद्धि हो, वही काल, वही क्षेत्र और वही अवस्था योगके लिये ग्राह्य है, और इससे यह साफ फलित होता है कि योग-साधनाके लिए सामान्यत किसी देश, काल तथा अवस्थाके विशेषका कोई नियम नही है। इतना ही नियम है कि उनमेसे कोई ध्यानमे बाधक न होना चाहिये। कौन देश, कालादिक ध्यानमे बाधक होता है और कौन नही, यह सब विशेष परिस्थितियोके आधीन है और इनका कुछ वर्णन विशेष कथनके अवसर पर परिकर्मादिके रूपमे किया गया है।

इति संक्षेपतो ग्राह्यमष्टांग योग-साधनम्।
विवरीतुमदः किंचिदुच्यमान निशम्यताम्[1] ॥४०॥

"इस प्रकार संक्षेपसे अष्ट अंगरूप योग-साधन ग्रहण किये जानेके योग्य है। इसका विवरण करनेके लिये जो कुछ आगे कहा जा रहा है उसे (हे साधको!) सुनो।'

व्याख्या—यहाँ योग-साधनको आठ अगरूप बतलाया है और '**इति सक्षेपत**' शब्दोके द्वारा उन आठ अगोके सक्षिप्त कथनकी समाप्तिको सूचित किया है। परन्तु ३८ वे पद्यमे ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल इन चार अगोका सक्षिप्त स्वरूप दिया है और ३९ वें पद्यमे देश-काल तथा अवस्था-विषयक तीन अगोंके स्वरूपकी कुछ सूचना की गई है। इस तरह सात अगोका सक्षिप्त कथन तो समाप्त हुआ कहा जा सकता है;

---

१ मु मे निशाम्यताम्

आठवा अग, जो ३७ वे पद्यमे प्रयुक्त हुए 'यस्य' पदका वाच्य है उसका कोई सक्षिप्त वर्णन इससे पहले नही आया। इसलिए उसके भी सक्षिप्त कथनकी बात साथमे कुछ खटकती-सी जान पडती है। परन्तु विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि चूँकि यहाँ सामान्यरूपसे आठ अगोके स्वरूपकी सूचना की गई है और 'यस्य' पद मे सामान्यत ध्यानके स्वामीकी सूचना हो जाती है। अतः दूसरी कोई सक्षिप्त सूचना बनती नहीं। अगले पद्योमे ध्याताका जो विशेष वर्णन है उसमे (पद्य ४६ मे) गुणस्थानक्रमसे ध्यानके स्वामियोका निर्देश करते हुए उस आठवें अगकी ध्यान-स्वामीके रूपमे जो सूचना है वह विशेष-सूचना है। अत 'यस्य' पदके द्वारा ही सक्षिप्त सूचना की गई है, ऐसा समझना चाहिये। ध्याता और ध्यान-स्वामी इन दोनोका विषय एक दूसरेके साथ मिला-जुला है। ध्याता ध्यान-के कर्त्ता अथवा अनुष्ठाताको कहते हैं और ध्यान-स्वामी ध्याता होनेके अधिकारीका नाम है, जो गुणस्थानकी दृष्टिको लिए हुए है। इसलिये दोनोमे थोडा अन्तर है और इसी अन्तरकी दृष्टिसे योगके अगोमे ध्यातासे ध्यान-स्वामीका पृथक् ग्रहण किया गया है।

ध्याताका विशेष लक्षण

तत्राऽऽसन्नीभवन्मुक्तिः[1] किंचिदासाद्यकारणम् ।
विरक्तः काम-भोगेभ्यस्त्यक्त-सर्वपरिग्रहः ॥४१॥

अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ।
तपः-संयम-सम्पन्न. प्रमादरहिताऽऽशयः ॥४२॥

सम्यग्निर्णीत-जीवादि-ध्येयवस्तु-व्यवस्थितिः ।
आर्त्त-रौद्र-परित्यागाल्लब्ध-चित्त-प्रसत्तिकः ॥४३॥

---

१ मु मे भवेन्मुक्ति ।

मुक्त-लोकद्वयाऽपेक्षः [1]सोढाऽशेष-परीषहः ।
अनुष्ठित-क्रियायोगो ध्यान-योगे-कृतोद्यमः ॥४४॥
महासत्त्वः परित्यक्त-दुर्लेश्याऽशुभभावनः ।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्म्य[2]-ध्यानस्य सम्मतः ॥४५॥

'उच्यमान-विवरणमे धर्म्य ध्यानका ध्याता इस प्रकारके लक्षणोवाला माना गया है—जिसकी मुक्ति निकट आरही हो (जो आसन्नभव्य हो), जो कोई भी कारण पाकर कामसेवा तथा अन्य इन्द्रियोके भोगोसे विरक्त होगया हो, जिसने समस्त परिग्रहका त्याग किया हो, जिसने आचार्यके पास जाकर भले-प्रकार जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की हो—जो जैनधर्ममे दीक्षित होकर मुनि बना हो—जो तप और संयमसे सम्पन्न हो, जिसका आशय प्रमाद-रहित हो, जिसने जीवादि ध्येय-वस्तुको व्यवस्थितिको भलेप्रकार निर्णीत कर लिया हो, आर्त्त और रौद्र-ध्यानोके परित्यागसे जिसने चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त की हो, जो (अपने ध्यान-विषयमे) इस लोक और परलोक दोनोंकी अपेक्षासे रहित हो, जिसने सभी परीषहोको सहन किया हो, जो क्रियायोगका अनुष्ठान किये हुए हो—सिद्धभक्ति आदि क्रियाओके अनुष्ठानमे तत्पर हो—, ध्यान-योगमें जिसने उद्यम किया हो—ध्यान लगानेका कुछ अभ्यास किया हो—, जो महासामर्थ्यवान् हो और जिसने अशुभ लेश्याओ तथा बुरी भावनाओका परित्याग किया हो ।'

व्याख्या—यहाँ अन्तमे प्रयुक्त 'सम्मत' शब्द अपनी खास विशेषता रखता है और वह इस बातका सूचक है कि यह सब लक्षण धर्म्यध्यानके सम्मान्य ध्याताका है, जिसका आशय प्रशस्त अथवा उत्तम ध्याताका लिया जाना चाहिए और इसलिए मध्यम तथा

---

१. मु मे षोढा । २ मु मे धर्म ।

जघन्य कोटिमे स्थित. ध्याता भी इन सब गुणोसे विशिष्ट होंगे—विना इन सब गुणोकी पूर्तिके कोई ध्याता हो ही नही सकेगा—ऐसा न समझ लेना चाहिए। ध्याताके इस लक्षणमे जिन विशेषणोका प्रयोग हुआ है उनमे अधिकाश विशेषण ऐसे है जो इस लक्षणको प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानसे पूर्ववर्ती दो गुणस्थानवालोके साथ संगत नही बैठते, जैसे कामभोगोसे विरक्त, सब परिग्रहोका त्यागी, आचार्यसे जैनेश्वरी-दीक्षाको प्राप्त और सब परीषहोको सहनेवाला। कुछ विशेषरा ऐसे भी हैं जो प्रायः अप्रमत्तसंयत नामक सातवे गुणस्थानसे सम्बन्ध रखते हैं, जैसे प्रमादरहित आशयका होना और आर्त-रौद्रके परित्यागसे चित्तकी स्वाभाविक प्रसन्नताका उत्पन्न होना। ऐसी स्थितिमे यह पूरा लक्षण अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिके साथ घटित होता है, जिसको अगले एक पद्य (४७) मे मुख्य धर्म्यध्यानका अधिकारी बतलाया है। और इसलिए प्रस्तुत लक्षण उत्तम ध्याताका है, यह उसके स्वरूप परसे स्पष्ट जाना जाता है। जघन्य ध्याताका कोई लक्षण दिया नही। ध्याताका सामान्य लक्षण '**गुप्तेन्द्रियमना ध्याता**' (३८) दिया है, उसीको जघन्य ध्याताके रूपमें ग्रहण किया जा सकता है, क्योकि कम-से-कम ध्यान-कालमे इन्द्रिय तथा मनका निग्रह किये विना कोई ध्याता बनता ही नही। उत्तम और जघन्यके मध्यमे स्थित जो मध्यम ध्याता है वह अनेकानेक भेदरूप है और इसलिए उसका कोई एक लक्षरा घटित नही होता। उत्तम ध्याताके गुणोमे कमो होनेसे उसके अनेक भेद स्वतः हो जाते है।

धर्म्यध्यानके स्वामी

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः।
धर्म्यध्यानस्य [1]चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः॥४६॥

---

१. मु मे धर्म।

'(सप्तमगुणस्थानवर्ती) **अप्रमत्त**, (षष्ठगुणस्थानवर्ती) **प्रमत्त**, (पचमगुणस्थानवर्ती) **देशसंयमी और** (चतुर्थगुणस्थान-वर्ती) **सम्यग्दृष्टि ऐसे चार गुणस्थानवर्ती जीव तत्त्वार्थमे** (राज-वार्तिकमे) **धर्म्यध्यानके स्वामी-अधिकारी स्मरण किये गये अथवा जैनागमके अनुसार माने गये हैं।**'

व्याख्या—यहाँ चौथेसे सातवें गुणस्थान तकके जीवोको धर्म्यध्यानका अधिकारी प्रतिपादित किया गया है—चाहे वे किसी भी जाति, कुल, देश, वर्ग अथवा क्षेत्रके क्यो न हो—और यह प्रतिपादन जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे है, जिसका उल्लेख तत्त्वार्थराज-वार्तिक, आर्ष (महापुराण) आदि ग्रन्थोंमे पाया जाता है। यहाँ 'तत्त्वार्थे' पदके द्वारा तत्वार्थराजवार्तिकका ग्रहण है, जिसमें एकमात्र अप्रमत्तगुणस्थानवर्तीको ही धर्म्यध्यानका अधिकारी माननेवालोकी मान्यताका निषेध करते हुए पूर्ववर्ती चार गुण-स्थानवालोको भी उसका अधिकारी बतलाया गया है; क्योकि धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शनजन्य है[1] और सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति चौथे गुणस्थानमे हो जाती है, तब अगले पाँचवें, छठे गुणस्थानोंमे धर्म्य-ध्यानकी उत्पत्ति कैसे नही बन सकेगी! उक्त मान्यता **तत्त्वार्था-धिगमभाष्य-सम्मत** श्वेताम्बरीय सूत्रपाठकी है[2]। हो सकता है कि वह मुख्य धर्म्यध्यानकी दृष्टिको लिए हुए हो। क्योकि मुख्य धर्म्यध्यान अप्रमत्तोके ही बनता है, अन्योके वह औपचारिक

---

१. धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न पूर्वेषा विनिवृत्तिप्रसगात्…असयतसम्यग्दृष्टि-सयतासंयत-प्रमत्तसयतानामपि धर्म्यध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभवत्वात्। यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्यते तर्हि तेषा निवृत्ति. प्रसज्येत्। (९-१३)

२. आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यमप्रमत्तसयतस्य (तत्त्वार्था-धिगमसूत्र ३७)। दिगम्बर सूत्रपाठमे इस सूत्रका नम्बर ३६ है और उसमें 'अप्रमत्तसंयतस्य' यह अन्तका पद नही है।

रूपसे होता है; जैसाकि ग्रन्थके अगले पद्यमे ही, ध्यानके मुख्य और उपचार ऐसे दो भेद करते हुए, प्रतिपादन किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्रके दिगम्बरीय सूत्रपाठमे धर्म्यध्यानके स्वामियो-का निर्देशक कोई सूत्र नही है, जब कि अन्य आर्तध्यानादिकके स्वामि-निर्देशक स्पष्ट सूत्र पाये जाते हैं, यह बात चिन्तनीय है। हाँ, 'आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम्' इस ३६ वें सूत्रकी सर्वार्थसिद्धिटीकामें 'तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानां भवति' इस वाक्यके द्वारा चतुर्थसे सप्तमगुणस्थानवर्ती तक जीवोको इस धर्म्यध्यानका स्वामी बतलाया है। इससे एक बात बडी अच्छी फलित होती है और वह यह कि जिन विद्वानोका ऐसा खयाल है कि दिगम्बर-सूत्रपाठ सर्वार्थसिद्धिकार-द्वारा संशोधित-स्वीकृत पाठ है वह ठीक नही है। ऐसा होता तो वे (श्रीपूज्यपाद) सहज ही सूत्रमे इस ध्यानके स्वामियोका उल्लेख कर सकते थे, परन्तु ऐसा न करके टीकामे जो उल्लेख किया गया है वह इस बातका स्पष्ट सूचक है कि उन्होंने मूल सूत्रको ज्योका त्यो रखा है।

धर्म्मध्यानके दो भेद और उनके स्वामी

मुख्योपचार-भेदेन [1]धर्म्यध्यानमिह द्विधा।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम् ॥४७॥

'ध्यान-स्वामीके उक्त निर्देशमें धर्म्यध्यान मुख्य और उपचारके भेदसे दो प्रकारका है। अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीवोमें जो ध्यान होता है, वह 'मुख्य' धर्म्यध्यान है और शेष छठे, पाँचवें और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवोमे जो ध्यान बनता है, वह सब 'औप-चारिक' (गौण) धर्म्यध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके 'उपचार' और 'औपचारिक' विशेषण गौण तथा अप्रधान अर्थके वाचक है—मिथ्या अर्थके

१. मु मे धर्म।

नही—उसी प्रकार जिस प्रकार कि विनयके भेदोमे उपचार विनयके साथ प्रयुक्त हुआ 'उपचार' विशेषण। उपचार-विनयमे पूज्य आचार्यादिको देखकर उठ खड़े होना, उनके पीछे चलना, हाथ जोडना, वन्दना और गुण-कीर्तनादि करना शामिल है, जो कि फलशून्य कोई मिथ्याक्रिया-कलाप नही है। इसी प्रकार उपचारधर्म्यध्यान भी फलशून्य कोई मिथ्याक्रियाकलापरूप नही है। वह भी सवर-निर्जरारूप फलको लिये हुए है। यह दूसरी बात है कि उस फलकी मुख्यतया प्राप्ति जिस प्रकार अप्रमत्तोको होती है उस प्रकार प्रमत्तादि पूर्ववर्ती तीन गुण-स्थानवालोको नही होती।

यहाँ 'अप्रमत्तेषु' पदका आशय केवल अप्रमत्त नामके सातवें गुणस्थानवर्तियोका ही नही है; किन्तु उसमे अगले तीन गुणस्थान-वर्तियोका भी समावेश है, जो कि सब अप्रमत्त (प्रमादरहित) ही होते हैं और उपशमक-क्षपक श्रेणियोके अध.वर्ती अथवा पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे सम्बन्ध रखते हैं, जैसा कि इसी ग्रन्थमे आगे 'प्रबुद्ध-धीरधःश्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुत' (५०) और धर्म्यध्यान पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम्' (८३) इन दोनो वाक्योसे प्रकट है।

सामग्रीके भेदसे ध्याता और ध्यानके भेद

द्रव्य-क्षेत्रादि-सामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा ॥
[1]ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ॥४८

'ध्यानकी उत्पत्तिमें कारणीभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सामग्री चूँकि तीन प्रकारकी है—उत्तम, मध्यम और

---

१. ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषा ध्यानान्यपि त्रिधा।
लेश्या–विशुद्धि-योगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥ ज्ञाना० २८–२९

ाघन्य—इसलिए ध्याता भी तीन प्रकारके हैं और उनके ध्यान ाी तीन प्रकारके है।'

व्याख्या—ध्यानकी उत्पत्तिमे ध्यानकी सामग्रीका प्रमुख हाथ रहता है और इसलिये उस सामग्रीके मुख्यत' तीन भेद होनेकी दृष्टिसे यहाँ ध्याता और ध्यान दोनोंके भी तीन-तीन भेदोकी सूचना की गई है। अगले पद्यमे उन भेदोको स्पष्ट किया गया है। यहाँ पद्यमे प्रयुक्त हुआ 'आदि' शब्द मुख्यतः काल तथा भावका और गौणत अन्य सहायक सामग्रीका भी वाचक है।

सामग्रोत प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमम्।
स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम्॥४९॥

'ध्यातामे' उत्तम-सामग्रीके योगसे उत्तम-ध्यान, जघन्य-सामग्रीके योगसे जघन्य-ध्यान और मध्यम-सामग्रीके योगसे मध्यम-ध्यान बनता है।'

व्याख्या—यहाँ जिस सामग्रीका उल्लेख है वह पूर्व-पद्यानुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी सामग्री है। वह स्थूलरूपसे उत्तम, जघन्य और मध्यमके भेदसे तीन प्रकारकी होती है। जिस ध्याताको उत्तम-सामग्रोकी उपलब्धि होती है, उसमे उत्तम ध्यान बनताहै; जिसको जघन्य-सामग्रीकी उपलब्धि होती है उसमे जघन्य ध्यान बनता है और जिसको मध्यम-सामग्रीकी उपलब्धि होती है उसमे मध्यम-ध्यान बनता है। मध्यम-सामग्रीके बहुभेद होनेसे मध्यमध्यानके भी बहुभेद हो जाते हैं। सामग्रीकी दृष्टिसे ध्यानोके मुख्य तीन भेद होनेसे ध्याताओंके भी वे ही उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हो जाते हैं।

विकलश्रुतज्ञानी भी धर्म्यध्यानका ध्याता।

श्रुतेन विकलेनाऽपि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्य[2]-ध्यानस्य सुश्रुतः ॥५०॥

'विकल (अपूर्ण) श्रुतज्ञानके द्वारा भी धर्म्यध्यानका ध्याता वह साधक होता है जो कि मनसे स्थिर हो। (शेष) उपशमक और क्षपक दोनो श्रेणियोके नीचे धर्म्यध्यानका ध्याता प्रकर्ष-रूपसे विकसित-बुद्धिवाला होना शास्त्र-सम्मत है।'

व्याख्या—श्रेणियाँ दो हैं। उपशमक और क्षपक, जिनमे क्रमश मोहको उपशान्त तथा क्षीण किया जाता है। इन श्रेणियोंके नीचेके अथवा पूर्ववर्ती सात गुण-स्थानोमे धर्म्यध्यानका ध्याता प्रबुद्धबुद्धि (विशेष श्रुतज्ञानी) होता है, यह बात तो सुप्रसिद्ध ही है, परन्तु विकलश्रुतका धारी अल्प-ज्ञानी भी धर्म्यध्यानका ध्याता होता है, जो कि मनसे स्थिर हो। दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जिसने अपने मनको स्थिर करनेका दृढ अभ्यास कर लिया है वह अल्प-ज्ञानके बल पर भी धर्म्यध्यान की पूरी साधना कर सकता है। ऐसी साधना करनेवाले अनेक हुए हैं, जिनमे शिव-भूतिका नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है, जिन्हे **'तुषमासभिन्न'** जैसे अल्पज्ञानके द्वारा सिद्धिकी प्राप्ति हुई थी[3]।

---

१ श्रुतेन विकलेनाऽपि स्याद् ध्याता मुनिसत्तम।
प्रबुद्धधीरध श्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुत (आर्ष २१-१०२)
श्रुतेन विकलेनाऽपि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तित।
अध श्रेण्या प्रवृत्तात्मा धर्म्यध्यानस्य सुश्रुत. ॥(ज्ञानार्णव २८-२७)॥

२. मु मे धर्म।

३ तुसमास घोसतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुड जाओ ॥ (भावपा० ५३)

अल्पज्ञानसे भी सिद्धिकी प्राप्ति होती है, मोक्ष तक मिलता है, इस बातको स्वामी समन्तभद्रने '**ज्ञानस्तोकाच्च मोक्ष स्याद-मोहान्मोहिनोऽन्यथा**[1]' इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट किया है—यह बतलाया है कि अल्पज्ञानसे भी मोक्ष होता है, यदि वह अल्पज्ञान मोहसे रहित है और यदि मोहसे युक्त है तो उस अल्पज्ञानीके मोक्ष नही होता।

धर्मके लक्षण-भेदसे धर्म्यध्यानका प्ररूपण

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
[2]तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥५१॥

'धर्मके ईश्वरों—तीर्थकरोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको 'धर्म' कहा है, उस धर्म-चिन्तनसे युक्त जो ध्यान है वह निश्चितरूपसे धर्म्यध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—'धर्मादनपेत धर्म्यम्' इस निरुक्तिके अनुसार धर्म-से युक्त जो ध्यान है उसका नाम धर्म्यध्यान है। इस ध्यानमे धर्मका वह स्वरूप विवक्षित होता है जिसे लेकर ध्यान किया जाता है। यहाँ धर्मका वह स्वरूप दिया गया है जिसे स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) की तीसरी कारिकाके पूर्वार्धमे दिया है, उस कारिकाका वह पूर्वार्ध प्रस्तुत पद्यके पूर्वार्धरूपमे ज्योका त्यो उद्धृत है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म है। इस धर्मके स्वरूप-का जिस ध्यानमे एकाग्रचिन्तन हो उसे यहाँ धर्म्यध्यान कहा गया है।

---

१ देवागम का० ९८

२ धर्मादनपेत धर्म्यं। (सर्वार्थ० तथा तत्त्वा० वा० ९-२८)
तत्रानपेत यद्धर्मात्तद्ध्यान धर्म्यमिष्यते। (आर्ष २१-१३३)

आत्मनः परिणामो यो मोह-क्षोभ-विवर्जितः ।
स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्माद्धर्म्यमित्यपि ॥५२॥

'(तथा) आत्माका जो परिणाम मोह और क्षोभसे विहीन है वह धर्म है, उस धर्मसे युक्त जो ध्यान है वह भी धर्म्यध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ धर्मका वह स्वरूप दिया गया है जो मोह और क्षोभसे रहित आत्माका निज परिणाम है जिसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारमे निर्दिष्ट किया है[1]। इस धर्म-स्वरूपके चिन्तनरूप जो ध्यान है उसे भी धर्म्यध्यान समझना चाहिये।

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः ।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥५३॥
ततोऽनपेतं यज्ज्ञानं[2] तद्धर्म्यध्यानमिष्यते ।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥५४॥

'यह विश्व—दृश्यमान वस्तुसमूहरूप जगत—प्रतिक्षण पर्यायोंके विनाशरूप शून्यता अथवा अभावको प्राप्त होता हुआ चूँकि स्वरूपके द्वारा धृत है—पृथक्-पृथक् वस्तु-स्वभावके अस्तित्वको लिए हुए अवस्थित है—वस्तुके स्वरूपका कभी अभाव नहीं होता, इसलिये वस्तु-स्वरूपको ही महर्षियोने धर्म कहा है। उस वस्तु-स्वरूप धर्मसे युक्त जो ज्ञान है वह धर्म्यध्यान माना जाता है, आर्षमे—भगवज्जिनसेनाचार्य-प्रणीत महापुराणमे—भी 'धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यम्' (२१-१३३) ऐसा विधान पाया जाता है जो कि वस्तुके याथात्म्यको—

---

१ चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोह क्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥१-३७

२. मु मे यज्ज्ञात ।

यथावस्थित उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूपको—**धर्म प्रतिपादित-करता है।'**

व्याख्या—यहाँ धर्मका सहेतुक स्वरूप वह 'वस्तुस्वभाव' दिया गया है, जिसे स्वामिकुमार जैसे आचार्योंने '**धम्मो वत्थु-सहावो**[1]' के रूपमे निर्दिष्ट किया है और जिसका समर्थन '**धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यं**' इस आर्षवाक्यके द्वारा भी किया गया है। इस धर्मके स्वरूप-चिन्तनको जो ध्यान लिए हुए हो उसे भी इन पद्योमे धर्म्यध्यान कहा गया है।

[2]यश्चोत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतयः[3] परः।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितम् ॥५५॥

'अथवा उत्तमक्षमादिरूप दशप्रकारका जो उत्कृष्ट धर्म है, उससे जो ध्यान युक्त है, वह भी धर्म्यध्यान है, ऐसा कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ धर्मके स्वरूप-निर्देशमे उस दशलक्षणधर्मको ग्रहण किया गया है जो तत्त्वार्थसूत्रादिमे उत्तम विशेषणसे विशिष्ट क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यके रूपमे निर्दिष्ट हुआ है[4]। इस दश-लक्षणधर्मके स्वरूप-चिंतनरूप जो ध्यान है उसे भी धर्म्यध्यान बतलाया गया है। इन धर्मोंके साथ प्रयुक्त '**उत्तम**' विशेषण लौकिक प्रयोजनके परिवर्जनार्थ है। इस दृष्टिको लिए हुए ही ये दशगुण धर्म कहलानेके पात्र है, जैसाकि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

---

१. धम्मो वत्थु-सहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो जीवाण रक्खण धम्मो ॥ (कार्तिकानु० ४७८)

२ मु मे यस्तूत्तम। सि जु यद्वोत्तम। ३ मु मे दशतया।

४. उत्तमक्षमा-मार्दवाऽऽर्जव–शौच-सत्य–सयम-तपस्त्यागा–ऽऽकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्म। (त० सू० ९–६)

'दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् । तान्येवंभाव्यमानानि धर्मव्यपदेशभांजि। (सर्वार्थ० ६-६)

इस तरह विवक्षावश धर्मके विविधरूपोकी दृष्टिसे ध्यान विविधरूपको धारण किये हुए भी धर्म्यध्यानके रूपमे स्थित होता है। धर्मके विविधरूपोंसे इसमे कोई बाधा नही आती। जिस समय धर्मका जो रूप ध्यानमे स्थित हो उस समय उसी रूप धर्म्यध्यानको समझना चाहिए।

इस विषयमे ज्ञानसारकी निम्न गाथा भी ध्यानमे लेने योग्य है —

सुत्तत्थ-धम्म-मग्गण-वय-गुत्ती समिदि-भावणाईणं ।
जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाणं तमिह भणियं ॥ १६ ॥

इसमे बतलाया है कि सूत्रार्थ अथवा शास्त्रवाक्योके अर्थों, धर्मों, मार्गणाओ, व्रतो, गुप्तियो, समितियो, भावनाओ आदिका जो चिन्तवन किया जाता है उस सबको धर्म्यध्यान कहा गया है।

ध्यानका लक्षण और उसका फल

एकाग्र-चिन्ता-रोधो य परिस्पन्देन वर्जितः ।
तद्ध्यानं[1] निर्जरा-हेतुः संवरस्य च कारणम् ॥५६॥

'परिस्पन्दसे रहित जो एकाग्र चिन्ताका निरोध है—एक अवलम्बनरूप विषयमे चिन्ताका स्थिर करना है—उसका नाम ध्यान है और वह (सचितकर्मोंकी) निर्जरा तथा (नये कर्मास्रवके निरोधरूप) संवरका कारण है।'

व्याख्या—नाना अर्थों–पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है—डाँवाडोल रहती है अथवा स्थिर नही हो-पाती—उसे अन्य समस्त अग्रो–मुखोसे हटाकर एकमुखी करने-

---

१ एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। (त० सू० ६-२७)

का नाम ही एकाग्रचिन्ता-निरोध है[1], जो ध्यानका सामान्य लक्षण है। ऐसा ध्यान सचितकर्मोकी निर्जरा तथा नये कर्मोके आस्रवको रोकनेरूप सवरका कारण होता है। इसीको २४ वें पद्य मे 'मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरा-सवर-क्रियः' इन पदो-द्वारा और १७८ वें पद्यमे 'क्षपयत्यर्जितान्मलान्' तथा 'संवृणोत्यप्यनागतान्' इन पदोके द्वारा व्यक्त किया गया है। एकाग्रध्यानमे निर्जरा और सवर दोनोकी शक्तियाँ होती हैं।

ध्यानके लक्षणमे प्रयुक्त शब्दोका वाच्यार्थ

एकं [2]प्रधानमित्याहुरग्रमालम्बनं मुखम्[3]।
चिन्ता स्मृतिर्निरोधस्तु[4] तस्यास्तत्रैव वर्तनम् ॥५७॥
द्रव्य-पर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम्।
तत्र चिन्ता-निरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिनाः ॥५८॥

'(एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यान' इस ध्यान-लक्षणात्मक वाक्यमे) 'एक' प्रधानको और 'अग्र' आलम्बनको तथा मुखको कहते हैं। 'चिन्ता' स्मृतिका नाम है और 'निरोध' उस चिन्ताका उसी एकाग्रविषयमे वर्तनका नाम है। द्रव्य और पर्यायके मध्यमें प्रधानतासे जिसे विवक्षित किया जाय उसमे चिन्ताका जो निरोध है—उसे अन्यत्र न जाने देना है—उसको सर्वज्ञ भगवन्तोंने 'ध्यान' कहा है।'

---

१. नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या अन्याऽशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। (सर्वार्थ० ९-२७)

२. प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणम्। (तत्त्वा० वा० ९-२७-२०)

३. अग्यते तदङ्गमिति तस्मिन्निति वाऽग्र्य मुखम्।(तत्त्वा० वा०-९-२७-३ अर्थपर्यायवाची वा अग्रशब्द। (तत्त्वा० वा० ९-२७-७)

४. मु चिन्ता स्मृति निरोधं तु। जु निरोध।

व्याख्या—पूर्व पद्यमे दिया हुआ ध्यानका लक्षण जिन शब्दो-से बना है, उनमेसे प्रत्येकके आशयको यहाँ व्यक्त किया गया है, जिससे भ्रमके लिये कोई स्थान न रहे। 'एक' शब्द सख्या-परक[1] होनेके साथ यहाँ पर प्रधान अर्थमे विवक्षित है, 'अग्र' शब्द आलम्बन तथा मुख अर्थमे प्रयुक्त है और चिन्ताको जो स्मृति कहा गया है वह तत्त्वार्थसूत्रमे वर्णित 'स्मृतिसमन्वा-हार' का वाचक है, जो उसी विषयकी वार-वार स्मृति, चिन्ता अथवा चिन्ताप्रबन्धका नाम है। इस ध्यानमे द्रव्य तथा पर्यायमे-से किसी एकको प्रधानताके साथ विवक्षित किया जाता है और उसीमे चिन्ताको अन्यत्रसे हटाकर रोका जाता है।

ध्यान-लक्षणमे 'एकाग्र' ग्रहणकी दृष्टि

एकाग्र-ग्रहणं चाऽत्र वैयग्र्य[2]-विनिवृत्तये[3]।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव[4] स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥५९॥

'इस ध्यान-लक्षणमे जो 'एकाग्र' का ग्रहण है वह व्यग्रता-की विनिवृत्तिके लिए है। ज्ञान ही वस्तुतः व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यानको तो एकाग्र कहा जाता है।'

व्याख्या—यहाँ स्थूलरूपसे ज्ञान और ध्यानके अन्तरको व्यक्त किया गया है। ज्ञान व्यग्र है—विविध अग्रो-मुखो अथवा आलम्बनोको लिए हुए है, जब कि ध्यान व्यग्र नही होता, वह एकमुख तथा आलम्बनको लिए हुए एकाग्र ही होता है। वस्तुत देखा जाय तो ज्ञानसे भिन्न ध्यान कोई जुदी वस्तु नही,

---

१. एकशब्द सख्यापदम्। (तत्त्वार्थ वा० ९-२७-२)
२. मु वै व्यग्र।
३ एकाग्रवचन वैयग्र्य-निवृत्यर्थम्। (तत्त्वा० वा० ९-२७-१२)
४. मु ह्यज्ञानमेव।
व्यग्र हि ज्ञान न ध्यानमिति। (तत्त्वा० वा० ९-२७-१२)

निश्चल अग्निशिखाके समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान कहलाता है, जैसा कि पूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:-

'एतदुक्तं भवति—ज्ञानमेवाऽपरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति ।' (सर्वार्थसिद्धि ९-२७)

इससे यह फलित होता है कि ज्ञानकी उस अवस्था-विशेषका नाम ध्यान है, जिसमे वह व्यग्र न रहकर एकाग्र हो जाता है। शायद इसीसे 'ध्यानशतक'की निम्न गाथामे स्थिर अध्यवसानको ध्यान बतलाया है और जिसमे चित्त चलता रहता है उसे भावना, अनुप्रेक्षा तथा चिन्ताके रूपमे निर्दिष्ट किया है.—

जं थिरमज्झवसाणं त झाणं ज चलतयं चित्तं ।
त होज्ज भावना वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥२॥

एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान कब बनता है और उसके नामान्तर

प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानाऽऽलम्बनवर्तिनीम् ।
एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधी ॥६०॥
तदाऽस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम् ।
प्रसंख्यानं समाधि स्याद्ध्यान स्वेष्ट-फल-प्रदम् ॥६१॥

'जब विशुद्धबुद्धिका धारक योगी नाना आलम्बनोमे वर्तनेवाली चिन्ताको खींचकर उसे एक आलम्बनमे ही स्थिर करता है—अन्यत्र जाने नही देता—तब उस योगीके 'चिन्ताका एकाग्र-निरोधन' नामका योग होता है, जिसे प्रसख्यान, समाधि और ध्यान भी कहते हैं और वह अपने इष्टफलका प्रदान करने वाला होता है ।'

व्याख्या—यहाँ पूर्ववर्णित ध्यानके विषयको और स्पष्ट किया गया है और उसीको योग[1], समाधि तथा प्रसख्यान नाम भी

---

१. युजे समाधिवचनस्य योग समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम् ।
—तत्त्वा० वा० ६-१-१२

दिया गया है। साथ ही उसे स्वेष्ट-फलका प्रदाता लिखा है, जो मुख्यत. निर्जरा तथा सवरके रूपमे है और गौणत. अन्य लौकिक फलोका भी प्रदाता है।

ध्यानके 'योग' और 'समाधि' ये दो नाम तो सुप्रसिद्ध हैं ही, श्रीजिनसेनाचार्यके महापुराणमे इनके साथ धीरोध, स्वान्त-निग्रह और अन्त सलीनताको भी ध्यानके पर्यायनाम बतलाया है[1], जो बहुत कुछ स्पष्टार्थको लिए हुए हैं, परन्तु 'प्रसख्यान' नाम किस दृष्टिको लिए हुए है, यह यहाँ विचारणीय है। खोजने पर पता चला कि यह शब्द मुख्यत. योगदर्शनका है—योगदर्शनके चतुर्थपाद-गत सूत्र २९ मे प्रयुक्त हुआ है[2]। 'प्र' और 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक 'ख्या' धातुसे ल्युट् (अन्) प्रत्यय होकर इस शब्दकी उत्पत्ति हुई है। 'ख्या' धातु गणना, तत्त्वज्ञान और ध्यान जैसे अर्थोमे व्यवहृत होती है, जिनमेसे पिछले दो अर्थ यहाँ विवक्षित जान पड़ते हैं। उक्त सूत्रकी टीकाओसे भी यही फलित होता है जिनमे 'विवेक-साक्षात्कार' तथा 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' को प्रसख्यान बतलाया है[3]। वामन शिवराम आप्टेकी सस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरीमे इसके लिए Reflection, meditation, deep meditation, abstract contemplation जैसे अर्थोंका उल्लेख करके उदाहरणके रूपमे 'हरः प्रसख्यानपरो

१. योगो ध्यान समाधिश्च धी-रोध. स्वान्तनिग्रहः।
अन्त सलीनता चेति तत्पर्याया. स्मृता बुधै ॥ (आर्ष २१-१२)

२. प्रसख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ समाधि।

३. 'प्रसख्यान विवेकसाक्षात्कारः' (भावागणेशवृत्ति तथा नागोजीभट्ट-वृत्ति' पृष्ठ २०७)

'षड्विंशतितत्त्वान्यालोचयत सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिर्या जायते सर्वा-धिष्ठातृत्वाद्यवान्तरफला तत्प्रसख्यानम्। (मणिप्रभावृत्ति)

—योगसूत्र पृ० २०९

बभूव' यह कुमारसंभव ग्रन्थका वाक्य भी उद्धृत किया है। इससे 'प्रसख्यान' शब्द भी ध्यान और समाधिका वाचक है, यह स्पष्ट हो जाता है।

अग्रका निरुक्त्यर्थ

अथवाऽङ्गति जानातीत्यग्रमात्मा[1] निरुक्तितः।
तत्त्वेषु चाऽग्र-गण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः ॥६२॥

'अथवा 'अंगति जानाति इति अग्र' इस निरुक्तिसे 'अग्र' आत्माका नाम है, जोकि जानता है और वह आत्मा (जीवादि नव) तत्त्वोंमें अग्रगण्य होनेसे भी 'अग्र' रूपसे स्मरण किया गया है।'

व्याख्या—यहाँ दो दृष्टियोंसे 'अग्र' नाम आत्माका बतलाया है—एक निरुक्तिकी दृष्टि, जो ज्ञाता अर्थको व्यक्त करती है, दूसरी तत्त्वोंमें अग्रगण्यताकी दृष्टि, जिससे सात तथा नवतत्त्वोकी गणनामें जीवात्माको पहला स्थान प्राप्त है। छह द्रव्योमे भी उसकी प्रथम गणना की जाती है।

द्रव्यार्थिक-नयादेक. केवलो वा तथोदितः।
अन्त.-करणवृत्तिस्तु [2]चिन्तारोधो नियन्त्रणा ॥६३॥

'द्रव्यार्थिक-नयसे 'एक' शब्द केवल (असहाय) अथवा तथोदित (शुद्ध) का वाचक है; 'चिन्ता' अन्तकरणकी वृत्तिको कहते हैं और 'रोध' नाम नियन्त्रणका है'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयकी दृष्टिसे 'एक' आदि शब्दोंके आशयको व्यक्त किया गया है, जिससे 'एक' शब्द शुद्धात्माका वाचक होकर उसीमे चित्तवृत्तिके नियन्त्रणका नाम ध्यान हो जाता है।

---

१ अङ्गतीत्यग्रमात्मेति वा (तत्त्वा० वा० ९-२७-२१)

२ चिन्ता अन्त करणवृत्ति। (तत्त्वा० वा० ९-२७-४)

चिन्तानिरोधका वाच्यान्तर

अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिन्तान्तर-व्यय ।
एकचिन्तात्मको यद्वा स्वसंविच्चिन्तयोज्झिता[1] ॥६४॥

'अथवा अभावका नाम 'निरोध' है और वह दूसरी चिन्ताके विनाशरूप एकचिन्तात्मक है अथवा चिन्तासे रहित स्वसंवित्ति-रूप है।'

व्याख्या—पूर्व पद्यमे जिसे 'रोध' शब्दसे उल्लेखित किया है उसीके लिये इस पद्यमे 'निरोध' शब्द प्रयोग किया गया है। इससे रोध और निरोध शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। 'चिन्ता' शब्दके साथ प्रयुक्त हुआ रोध या निरोध शब्द जब अभाव अर्थका वाचक होता है तब उसका आशय चिन्तान्तरके—दूसरी चिन्ताओ के—अभाव रूप होता है, न कि चिन्तामात्रके अभावरूप, और इसलिये उसे एकचिन्तात्मक अथवा चिन्ताओंसे रहित स्वसवेदनरूप भी कहा जाता है। निरोधका अभाव अर्थ ध्येयवस्तुकी किसी एक पर्यायके अभावकी दृष्टिको भी लिये हुए होता है और इससे ध्यान सर्वथा असत् नही ठहरता। अन्य चिन्ताके अभावकी विवक्षामे वह असत् (अभावरूप) है। किन्तु विवक्षित अर्थ-विषयके अधिगमस्वभाव-रूप सामर्थ्यकी अपेक्षासे सत्रूप ही है[2]।

तत्राऽऽत्मन्यासहाये यच्चिन्तायाः स्यान्निरोधनम्।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्ति-मयश्च स. ॥६५॥

---

१. ज सि जु स्वसवित्तिस्तयोज्झिता। मु मे चिन्तयोज्झित।

२ "(अभाव) केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात्। अन्यचिन्ताऽभावविवक्षाया-मसदेव ध्यानम्, विवक्षितार्थाविगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति चोच्यते"। (तत्त्वा० वा० ९-२७-१६)

'किसीकी भी सहायतासे रहित उस केवल शुद्धआत्मामें जो चिन्ताका नियन्त्रण है उसका नाम ध्यान है अथवा उस आत्मामें चिन्ताके अभावका नाम ध्यान है और वह स्वसंवेदन-रूप है।'

व्याख्या—पूर्व पद्यमे जो बात मुख्यत· कही गई है उसीको शुद्ध आत्मा पर घटित करते हुए यहाँ और स्पष्ट करके बतलाया गया है और यह साफ कर दिया गया है कि शुद्धात्माके विषय-मे जो चिन्ताका नियन्त्रण है अथवा अभाव है वह सब स्वसवेदन-रूप ध्यान है।

कौनसा श्रुतज्ञान ध्यान है और ध्यानका उत्कृष्ट काल

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलम् ।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलदं ध्यानमाऽऽ-ऽन्तर्मुहूर्ततः ॥६६॥

'जो श्रुतज्ञान उदासीन—रागद्वेषसे रहित उपेक्षामय-यथार्थ और अत्यन्त स्थिर है वह ध्यान है, अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहता और स्वर्ग तथा मोक्ष-फलका दाता है।'

व्याख्या—यहाँ जिस श्रुतज्ञानको ध्यान बतलाया है उसके तीन महत्त्वपूर्ण विशेषण दिये हैं—पहला 'उदासीन', दूसरा 'यथार्थ' और तीसरा 'अतिनिश्चल'। इन विशेषणोंसे रहित जो श्रुतज्ञान है वह ध्यानकी कोटिमे नही आता; क्योकि वह व्यग्र होता है और ध्यान व्यग्र नही होता, जैसा कि पूर्वपद्य (५९) मे प्रकट किया जा चुका है।

'आ अन्तर्मुहूर्ततः' पदके द्वारा यहाँ एक विषयमे ध्यानके उत्कृष्ट कालका निर्देश किया गया है; जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्रके ९ वे अध्यायमे 'आन्तर्मुहूर्तात्' पदके द्वारा विहित हुआ है। यह काल भी उत्तमसहननवालोकी दृष्टिसे है—हीनसहननवालोका एक ही विषयमे लगातार ध्यान इतने समय तक न ठहर सकने-

के कारण इससे भी कम कालकी मर्यादाको लिये हुए होता है[1]। ऐसा श्रुतज्ञान स्वर्ग आर मोक्षकी प्राप्तिरूप फलको फलता है, यह सब उसके उक्त तीन विशेषणोका माहात्म्य है। अन्यथा रागद्वेषसे पूर्ण, अयथार्थ और अतिचचल श्रुतज्ञान वैसे किसी फलको नही फलता।

यहाँ अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त कालके सम्बन्धमे इतना और भी जान लेना चाहिये कि यह एक वस्तुमे छद्मस्थोके चित्तके अवस्थान-कालकी दृष्टिसे है, केवलज्ञानियोकी दृष्टिसे नही। अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् चिन्ता दूसरी वस्तुका अवलम्बन लेकर ध्यानान्तरके रूपमे बदल जाती है। और इस तरह बहुत वस्तुओका सक्रमण होने पर ध्यानकी सन्तान चिरकाल तक भी चलती रहती है[2]। इसलिये यदि कोई छद्मस्थ अधिक समय तक ध्यान लगाये बैठा या समाधिमे स्थित है तो उससे यह न समझ लेना चाहिये कि वह एक वस्तुके ध्यानमे अन्तर्मुहूर्त-कालसे अधिक समय तक स्थिर रहा है, किन्तु यह समझना चाहिये कि उसका वह ध्यानकाल अनेक ध्यानोका सन्तानकाल है।

ध्यानके निरुक्त्यर्थ

ध्यायते येन तद्ध्यान यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥६७॥

---

१. उत्तमसहननाभिधानमन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणाऽसामर्थ्यात्। (तत्त्वा० वा० ९-२७-११)

२. अतोमुहुत्तमेत्त चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाण झाण जोगणिनिरोहो जिणाण तु ॥३॥
अतोमुहुत्तपरओ चिता झाणतर व होज्जा हि।
सुचिर पि होज्ज बहुवत्थु-सकमे झाण-सताणो ॥४॥
—ध्यानशतक

'जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है अथवा जो ध्यान करता है वही ध्यान है, जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है; अथवा ध्यातिका—ध्येय वस्तुमे परमस्थिर-बुद्धिका—नाम भी ध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यान शब्दकी निरुक्ति-द्वारा उसे करण, कर्ता, अधिकरण और भाव-साधनरूपमे चार अर्थोंका द्योतक बतलाया गया है। अगले पद्योमे इन सबका स्पष्टीकरण किया गया है।

स्थिर-मन और तात्त्विक-श्रुतज्ञानको ध्यान सज्ञा

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः।
ततः स्थिर मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकम्॥६८॥

'चूँकि योगीजन श्रुतज्ञानरूप परिणत मनके द्वारा ध्यान करते हैं इसलिये स्थिर मनका नाम ध्यान और स्थिर तात्त्विक (यथार्थ) श्रुतज्ञानका नाम भी ध्यान है।'

व्याख्या—इस पद्यमे करण-साधन-निरुक्तिकी दृष्टिसे[1] स्थिर-मन और स्थिर-तात्त्विक-श्रुतज्ञानको ध्यान बतलाया गया है, क्योंकि इनके द्वारा योगीजन ध्यान करते हैं, यह कथन निश्चयनयकी दृष्टिसे है।

आत्मा ज्ञान और ज्ञान आत्मा

ज्ञानादर्थान्तराऽप्राप्तादात्मा[2] ज्ञानं न चान्यत.।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितम् ॥६८॥

'ज्ञानसे आत्मा अर्थान्तरको—भिन्नता अथवा पृथक्-पदार्थत्वको—प्राप्त नहीं है; किन्तु अन्य पदार्थोंसे वह अर्थान्तरको प्राप्त न हो ऐसा नहीं—उनसे अर्थान्तरत्व अथवा भिन्नताको ही प्राप्त है। ऐसी स्थितिमें 'जो आत्मा वह ज्ञान' और 'जो ज्ञान वह

---

१. ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यान करणसाधनम्। (आर्ष २१-१३)
२. मु ज्ञानादर्थान्तिरादात्मा तस्माज्।

आत्मा' इस प्रकार एक ही वस्तु पूर्वापरीभूतरूपसे—कभी आत्माको पहले ज्ञानको पीछे और कभी ज्ञानको पहले आत्माको पीछे रखकर—कही गयी है।'

व्याख्या—ज्ञान और आत्मा ये एक ही पदार्थके दो नाम हैं, इसलिये इनमेसे जो जब विवक्षित होता है उसका परिचय तब दूसरे नामके द्वारा कराया जाता है। जब आत्मा नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचयके लिये कहा जाता है कि वह ज्ञान-स्वरूप है, और जब ज्ञान नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचयके लिये कहा जाता है कि वह आत्म-स्वरूप है। इन दोनो नामोके दो नमूने इस प्रकार हैः—

'णाण अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा।' (समयसार १०)

'आत्मा ज्ञानं स्वय ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।'

(समयसार-कलश ३-१७)

यहाँ पूर्वाऽपर-पद्यो (६८,७०) के मध्यमे इस पद्यकी स्थिति कुछ खटकती हुई जान पडती है, क्योकि इससे कथनका सिलसिला (क्रम) भग होता है और यह कुछ अप्रासगिक-जंसा जान पडता है। जयपुरके दिगम्बर जैन बडा मन्दिर तेरहपन्थीकी प्रति (ज) मे, जो सवत् १५६० आषाढवदि सप्तमीकी लिखी हुई है, यह पद्य नही है। आराके जैनसिद्धान्त-भवनकी प्रति (सि) मे भी, जो कि वेणूपुरस्थ पन्नेचारिस्थित केशव शर्मा नामके एक दक्षिणी विद्वान्-द्वारा परिधावि सवत्मे द्वि० आषाढ कृष्ण एकादशीको सोमवारके दिन लिखकर समाप्त हुई है, यह पद्य नही है, और मेरी निजी प्रति (जु)मे भी, जो सागली निवासी पाँगलगोत्रीय बापूराव जैनकी लिखी हुई है, यह पद्य नही है। श्री प० प्रकाशचद्रजीने व्यावरके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनको प्रति (वि० स० १९६६) को देखकर लिखा है कि 'उसमे यह ६९ वा पद्य नही है'। ऐसी स्थितिमे यह पद्य

यहाँ प्रक्षिप्त हुआ जान पडता है। कौनसे मूलग्रन्थका प्रस्तुत पद्य अग है, यह बात बहुत ग्रन्थोका अवलोकन कर जाने पर भी अभो तक मालूम नही हो सकी। हाँ, अध्यात्मतरगिणीके ३६वे पद्यकी गणधरकीर्तिकृत टीकामे यह पद्य कुछ पाठ-भेद तथा अशुद्धिके साथ निम्नप्रकारसे उद्धृत पाया जाता है —

ज्ञानादर्थान्तर नात्मा तस्माज्ज्ञान न चापि (त्म) नः।
एक पूर्वापरीभूत ज्ञानमात्मेति कथ्यते ॥

गणधरकीर्तिकी यह टीका सवत् ११८६ चैत्र शुक्ला पचमीको बनकर समाप्त हुई है और इसलिये यह पद्य उससे पूर्वनिर्मित किसी ग्रन्थका पद्य है। हो सकता है कि वह ग्रन्थ स्वामी-समन्तभद्र-कृत 'तत्त्वानुशासन' ही हो, क्योकि टीकामे इससे पूर्व जो पद्य उद्धृत है वह 'तदुक्तं समन्तभद्रस्वामिभि.' वाक्यके साथ दिया है और प्रस्तुत पद्यको 'तथा ज्ञानात्मनोरभेदोऽप्युक्त.' वाक्यके साथ दिया है, जिसमे प्रयुक्त 'अपि' शब्द स्वाम्युक्तत्वका सूचक है।

ध्याताको ध्यान कहनेका हेतु

ध्येयाऽर्थाऽऽलम्बन ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥७०॥

'द्रव्यार्थिक (निश्चय) नयकी दृष्टिसे ध्येय वस्तुके अवलम्बनरूप जो ध्यान है वह चूँकि ध्यातासे भिन्न नहीं होता— ध्याता आत्माको छोडकर अन्य वस्तुका उसमे आलम्बन नही— इसलिये ध्याता ही ध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ कर्तृसाधन–निरुक्तिकी दृष्टिसे[1] ध्याताको

---

१. 'ध्यायतीति ध्यानमिति बहुलापेक्षया कर्तृसाधनश्च युज्यते।' (तत्त्वा० वा० ९-२७)

'ध्यातीति च कर्तृत्व वाच्य स्वातन्त्र्यसभवात्' (आर्प २१-१३)

ध्यान कहा गया है; क्योंकि निश्चयनयसे ध्यान ध्यातासे कोई जुदी वस्तु नही है—निश्चयनयकी दृष्टिमे ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानके साधनादिका कोई विकल्प ही नही होता।

ध्यानके आधार और विषयको भी ध्यान कहनेका हेतु

ध्यातरि ध्यायते ध्येय यस्मान्निश्चयमाश्रितैः।
तस्मादिदमपि ध्यान' कर्माऽधिकरण-द्वयम् ॥७१॥

'निश्चयनयका आश्रय लेनेवालोके द्वारा चूँकि ध्येयको ध्यातामे ध्याया जाता है इसलिये यह कर्म तथा अधिकरण दोनो रूप भी ध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ कर्मसाधन और अधिकरणसाधन-निरुक्ति-की दृष्टिसे ध्येय और ध्येयके आधारको भी ध्यान कहा गया है, क्योंकि निश्चयनयसे ये दोनो भी ध्यानसे भिन्न नही है।

ध्यातिका लक्षण

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्सन्तान-वर्तिनी।
ज्ञानाऽन्तराऽपरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥७२॥

'सन्तान-क्रमसे चली आई जो बुद्धि अपने इष्ट-ध्येयमे स्थिर हुई दूसरे ज्ञानका स्पर्श नहीं करती, वह 'ध्याति' रूप ध्यान कही गई है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यातिके स्वरूपका निर्देश करते हुए उसे भाव-साधनकी दृष्टिसे[1] ध्यान कहा गया है। निश्चयनयकी दृष्टिसे शुद्ध स्वात्मा ही ध्येय है। प्रवाहरूपसे शुद्ध-स्वात्मामे वर्तनेवाली बुद्धि जब शुद्ध-स्वात्मामे इतनी अधिक स्थिर हो जाती है कि शुद्धात्मासे

---

१ 'ध्येय प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने ध्यातिर्ध्यानमिति भाव-साधनो ध्यान-शब्द ।' (तत्त्वा० वा० ९-२७)
भावमात्राभिधित्साया ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते। (आर्ष २१-१४)

भिन्न किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानका स्पर्श तक नही करती तब वह ध्यानारूढबुद्धि 'ध्याति' ही ध्यान कहलाती है। इसी बातको प० आशाधरजीने 'अध्यात्म-रहस्य'मे ध्यातिके निम्न लक्षण-द्वारा व्यक्त किया है '—

सन्तत्या वर्तते बुद्धि' शुद्धस्वात्मनि या स्थिरा।
ज्ञानान्तराऽस्पर्शवती सा ध्यातिरिह गृह्यताम्॥ ८॥

ध्यानके उक्त निरुक्त्यर्थोंकी नय दृष्टि

एवं[1] च कर्त्ता करणं कर्माऽधिकरणं फलं।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयान्नयात्॥७३॥

'इस प्रकार निश्चयनयकी दृष्टिसे यह कर्त्ता, करण, कर्म, अधिकरण और फलरूप सब ध्यान ही कहा गया है।'

व्याख्या—यह पद्य ध्यानकी निरुक्ति तथा तदर्थ-स्पष्टि-विषयक उस कथनके उपसहारको लिये हुए है जिसका प्रारम्भ 'ध्यायते येन तद्ध्यान (६७) इस वाक्यसे हुआ था। इसमे स्पष्ट कह दिया गया है कि निश्चयनयकी दृष्टिसे ध्यानका कर्त्ता, ध्यानका करण, ध्यानका कर्म, ध्यानका अधिकरण और ध्यानका फल यह सब ध्यानरूप ही है। क्योकि निश्चयनयका स्वरूप ही **'अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयो निश्चयो नय.'** इस ग्रन्थ-वाक्य (२९) के अनुसार ध्यानके कर्त्ता, करणादिको एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न नही करता और इसलिये ध्यान शब्दकी निरुक्तियोमे उन सबका समावेश हो जाता है। यहाँ कर्त्ता आदि पदोके अन्तमे 'फल' पदका प्रयोग इस बातका सूचक है कि पूर्वपद्यमे 'ध्याति'-का जो उल्लेख है वह ध्यानफलके रूपमे है।

निश्चयनयसे षट्कारकमयी आत्मा ही ध्यान है

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यत।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥७४॥

---

१. मु एकं।

'चूंकि आत्मा अपने आत्माको अपने आत्मामें अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माके लिये अपने आत्महेतुसे ध्याता है। इसलिये कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट्कारकरूप परिणत हुआ आत्मा ही निश्चयनयकी दृष्टिसे ध्यानस्वरूप है।'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयकी दृष्टिको और स्पष्ट किया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि आत्मा ही ध्यानके समय किस प्रकारसे षट्कारकमय हुआ ध्यानस्वरूप होता है। जो ध्याता है वह आत्मा (कर्त्ता), जिसको ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप आत्मा (कर्म), जिसके द्वारा ध्याता है वह ध्यानपरिणति-रूप आत्मा (करण), जिसके लिए ध्याता है वह शुद्धस्वरूपके विकास-प्रयोजनरूप आत्मा (सम्प्रदान), जिस हेतुसे ध्याता है वह सम्यग्दर्शनादिहेतुभूत आत्मा (अपादान), और जिसमे स्थित होकर अपने अविकसित शुद्धस्वरूपको ध्याता है वह आधारभूत अन्तरात्मा (अधिकरण) है। इस तरह शुद्धनयकी दृष्टिसे, जिसमे कर्त्ता-कर्मादि भिन्न नही होते,[1] अपना एक आत्मा ही ध्यानके समय षट्कारकमय परिणत होता है।

ध्यानकी सामग्री

सग-त्यागः कषायानां निग्रहो व्रत-धारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान-जन्मनि[2] ॥७५॥

'परिग्रहोका त्याग, कषायोका निग्रह-नियंत्रण, व्रतोका धारण और मन तथा इन्द्रियोका जीतना, यह सब ध्यानकी उत्पत्ति-निष्पत्तिमे सहायभूत-सामग्री है।'

---

१ अभिन्न कर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नय। (तत्त्वानु० २९)

२ म मे जन्मने।

व्याख्या—यहाँ सगत्यागमे बाह्य-परिग्रहोका त्याग अभिप्रेत है, क्योकि अन्तरग-परिग्रहमे क्रोधादि कषाये तथा हास्यादि नोकषायें आती हैं, जिन सबका कषायोके निग्रहमे समावेश है। कुसगतिका त्याग भी सगत्यागमे आ जाता है—वह भी सद्-ध्यानमे बाधक होती है। व्रतोमे अहिंसादि महाव्रतो तथा अणु-व्रतो आदिका ग्रहण है। अनशन, ऊनोदर आदिके रूपमे अनेक प्रतिज्ञाएँ भी व्रतोमे शामिल है। इन्द्रियोके जयमे स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र ऐसे पाँचो इन्द्रियोका विजय विवक्षित है। ध्यानकी और भी सामग्री है, परन्तु यहाँ सर्वतोमुख्य सामग्रीका उल्लेख है, शेष सामग्रीका 'च' शब्दमे समुच्चय किया गया है उसे अन्य ग्रन्थोके सहारेसे जुटाना चाहिये। इस ग्रन्थमे भी परिकर्म आदिके रूपमे जो कुछ अन्यत्र कहा गया है उसे भी ध्यानकी सामग्री समझना चाहिए।

इस विषयके विशेष परिज्ञानके लिए ग्रन्थका २१८ वा पद्य और उसकी व्याख्या भी अवलोकनीय है।

मनको जीतनेवाला जितेन्द्रिय कैसे ?

इन्द्रियाणां [1]प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मन प्रभु[2]।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥७६॥

'इन्द्रियोकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोमें मन प्रभु—सामर्थ्यवान्-है, इसलिए (मुख्यत) मनको ही जीतना चाहिये। मनके जीतने पर मनुष्य (वास्तवमे) **जितेन्द्रिय होता है**—इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करता है।'

---

१ सि जु निवृत्तौ च प्रवृत्तौ।

२. सम्पादनोपयुक्त सभी प्रतियोमे 'प्रभु' पाठ है, जो नपुसकलिंगी 'मन.' पदके साथ ठीक मालूम नही होता। 'प्रभु' शब्द त्रिलिंगी है अत उसका नपुंसकलिंगी 'प्रभु' रूप यहाँ उपयुक्त जान पडता है।

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियोंसे भी पहले मनको जीतनेका सहेतुक निर्देश किया गया है और यह बतलाया गया है कि मनको जीतने पर मनुष्य सहज ही जितेन्द्रिय हो जाता है। जिसने अपने मनको नही जीता वह इन्द्रियोको क्या जीतेगा ? मनके सकल्प-विकल्प-रूप व्यापारको रोकना अथवा मनकी चचलताको दूर कर उसे स्थिर करना 'मनको जीतना' कहलाता है। मनका व्यापार रुकनें अथवा उसकी चचलता मिटनेपर इन्द्रियोका व्यापार स्वत रुक जाता है—वे अपने विषयोमे प्रवृत्त नही होती—उसी प्रकार जिस प्रकार कि वृक्षका मूल छिन्न-भिन्न हो जाने पर उसमे पत्र-पुष्पादिककी उत्पत्ति नही हो पाती[1]।

इन्द्रिय-घोडे किसके द्वारा कैसे जीते जाते हैं ?

ज्ञान-वैराग्य-रज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिय-वाजिनः ॥७७॥

'जिसने मनको जीत लिया है उसके द्वारा सदा उन्मार्गगामी इन्द्रियरूपी घोड़े ज्ञान और वैराग्य नामकी दो रज्जुओं—रस्सियो-के द्वारा धारण किये जा सकते—अपने वशमे रक्खे जा सकते—हैं।'

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियोको उन घोडोकी उपमा दी गई है जो सदा उन्मार्गगामी रहते हैं, उन्हे जितचित्त मनुष्य ज्ञान और वैराग्यकी दोनो रासोसे अपने आधीन करनेमे समर्थ होता है। ज्ञान और वैराग्य ये दो प्रमुख साधन इन्द्रियोको वशमे करनेके है। अज्ञानी प्राणी इन्द्रिय विषयोके गुण-दोषोका परिज्ञान न

---

१. णट्ठे मनवावारे विसयेसु ण जंति इदिया सव्वे।
छिण्णे तरुस्स मूले कुत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥६९॥
—आराधनासारे, देवसेनः

होनेसे सदा उनके वशमे पडे रहते हैं और पंडितजन जो शास्त्रोका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपने विवेकको जागृत नही कर पाते और इसलिए इन्द्रिय-विषयोसे विरक्तिको प्राप्त नही होते— उलटा उनकी प्राप्तिको अपना स्वार्थ समझते रहते हैं—वे भी इन्द्रियोके विषयमे उलझे रहते हैं। अत जितचित्तके पास सच्चा ज्ञान और वैराग्य दोनो साधन इन्द्रियोको जीतनेके लिये होने चाहिये। ये दोनो प्रथमत मनको जीतनेके भी साधन है। ज्ञान और वैराग्य तीन लोकमे सार पदार्थ है। अपनी पूर्णा-वस्थामे शिव स्वरूप होते है और अपूर्णावस्थामे ये ही शिव-स्वरूप-की प्राप्तिके साधन बनते है[1]। इन्द्रियोका जय(सयम)शिव-सुखकी प्राप्तिकी ओर एक बडा कदम है। जो यह कदम न उठाकर इन्द्रियोके दास बने रहते है उन्हे न जाने ये उन्मार्गगामी घोडे किस किस खड्डेमे पटककर दु खका भाजन बनाते है। नीतिकारो-ने भी इसीसे इन्द्रियोके असयमको विपदा और दु खोका मार्ग (हेतु) और उनके जयरूप सयमको सम्पदाओ (सुखो) का मार्ग बतलाया है और इनमेसे जिस मार्ग पर चलना इष्ट हो उस पर चलनेकी प्रेरणा की है[2]। अर्थात् यह प्रतिपादन किया है कि यदि आप सुख चाहते हो तो इन्द्रियोको सयमसे स्वाधीन रखो और दु ख चाहते हो तो सदा उनके गुलाम बने रहो।

वास्तवमे देखा जाय तो इन्द्रियाँ उन बिजलियोके समान हैं जो कट्रोल (नियत्रण) मे रखे जाने पर हमे प्रकाश प्रदान करती तथा हमारे यत्रोका सचालन कर हमारे अनेक प्रकारके

---

१. तीन भुवनमें सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारके ॥
—प० दौलतराम, छहढाला

२ आपदा कथितः पन्था इन्द्रियाणामसयम।
तज्जय सम्पदा मार्गो येनेष्ट तेन गम्यताम् ॥

कामोको सिद्ध करती हैं, परन्तु कट्रोलमे न रहने अथवा न रखे जाने पर वे ही अग्निकाण्डादिके द्वारा हमारा सर्वनाश करने और हमे मार डालने तकमे समर्थ हो जाती हैं।

जिस उपायसे भी मन जीता जासके उसे अपनानेकी प्रेरणा

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तु[1] चलं मनः।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥७८॥

'जिस उपायसे भी 'चंचल मनको भले प्रकार नियंत्रणमे रखा जासके वही उपाय यहाँ उपासनीय है—व्यवहारमें लिये जाने (अपनाने) के योग्य है—उससे उपेक्षा धारण कर विरक्त कभी नहीं होना चाहिये—जो भी उपाय बने उससे मनको सदा अपने वशमे रखना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ चचल मनको जैसे भी बने अपने वशमे रखने-की सातिशय प्रेरणा की गई है और उसके लिये जो कोई भी उपाय जिस समय उपयुक्त हो उसे उस समय काममे लानेकी लेशमात्र भी उपेक्षा-लापर्वाही न की जानी चाहिये, ऐसा सुझाव दिया है। मनको जीतनेके अनेक उपाय हैं, जिनमेसे प्रमुख दो उपायोका निर्देश ग्रन्थकार महोदय स्वयं आगे करते हैं।

मनको जीतनेके दो प्रमुख उपाय

संचिन्तयन्ननुप्रेक्षा स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मन साधुरिन्द्रियाऽर्थ-पराङ्मुख ॥७९॥

'जो साधक सदा अनुप्रेक्षाओका—अनित्यादि भावनाओका—भले प्रकार चिन्तन करता है, स्वाध्यायमें उद्यमी और इन्द्रिय-विषयोसे प्राय मुख मोड़े रहता है वह अवश्य ही (निश्चित रूपसे) मनको जीतता है।'

---

१. ज सि जु तन्नियन्तुं।

व्याख्या—यहाँ मनको जीतनेके दो प्रमुख उपायोका निर्देश किया गया है—एक अनुप्रेक्षाओका[1] सचिन्तन, दूसरा स्वाध्यायमे नित्य उद्यमी रहना। इन दोनोकी साधनामे लगा हुआ साधु पुरुष मनको निश्चित रूपसे जीतता है और (फलत) इन्द्रिय-विषयोसे पराङ्मुख होता है। इन्द्रिय-विषयोसे पराङ्मुखता भी मनको जीतनेका एक साधन होती है और उस अर्थमे उसका आशय इन्द्रिय-विषयोमे अनासक्तिको समझना चाहिये, क्योकि इन्द्रिय-विषयोमे जो मन आसक्त होता है वह इन्द्रियोको जीतनेमे समर्थ नही होता।

इस पद्यमे अनुप्रेक्षाओ-भावनाओके साथ किसी सख्याविशेषका उल्लेख नही किया गया, इससे अनित्य, अशरण आदि रूपसे प्रसिद्ध जो द्वादश अनुप्रेक्षा अथवा बारह भावनाएँ हैं, उनसे भिन्न दूसरी ज्ञानादि चार भावनाओका भी यहाँ ग्रहण किया जाना चाहिये, जिनका उल्लेख भगवज्जिनसेनाचार्यने 'ज्ञानदर्शन-चारित्रवैराग्योपगताश्च ता" इस वाक्यके साथ अपने आर्ष ग्रन्थ महापुराणके २१वे पर्वमे किया है[2]। तदनुसार वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षण, परिवर्तन (ग्रन्थो, श्लोको, वाक्योका कण्ठस्थ करना या पाठ करना) और सद्धर्म-देशना ये ज्ञानकी पाच भावनाएँ हैं, जो प्राय तत्त्वार्थसूत्रगत स्वाध्याय के पच भेदोके रूपमे है[3]। सवेग,

---

१. अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्यु सदैव निबन्धनम्। (ज्ञाना० ४१-३)

२. ध्यानशतकमे भी इन चारो भावनाओका उल्लेख है और इनके पूर्वकृत अभ्यासको ध्यानकी योग्यता प्राप्त करनेवाला लिखा है—

पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य णाण-दसण-चरित्त-वेरग्ग-जणियाओ ॥३०॥

३ वाचना-पृच्छने सानुप्रेक्षण परिवर्तनम्।
सद्धर्मदेशन चेति ज्ञातव्या ज्ञान-भावना ॥ आर्ष २१-९६ ॥

प्रशम, स्थैर्य (धैर्य), असमूढता, अगर्वता, आस्तिक्य, अनुकम्पा ये सात सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन)की भावनाएँ है[१]। ईर्यादि पाच समितियाँ, मन-वचन-कायके निग्रहरूप तीन गुप्तियाँ और परीषह-सहिष्णुता, ये चारित्रकी भावनाएँ हैं[२]। विषयोमे अनासक्तता, कायतत्त्वका अनुचिन्तन और जगतके स्वभावका विवेचन, ये वैराग्यको स्थिर करनेवाली भावनाएँ है[३]। इसी प्रकार अहिंसादिव्रतोकी जो तत्त्वार्थसूत्रादि-वर्णित २५ भावनाएँ हैं उनका स्वरूप-चिन्तन भी यहाँ ग्रहण किये जानेके योग्य है। साथ ही, दर्शनविशुद्धयादि षोडशकारण भावनाओको भी लिया जा सकता है।

स्वाध्यायका स्वरूप

स्वाध्याय परमस्तावज्जपः[४] पंचनमस्कृते।
पठनं[५] वा जिनेन्द्रोक्त-शास्त्रस्यैकाग्र-चेतसा॥८०॥

'पचनमस्कृतिरूप नमोकारमंत्रका जो चित्तकी एकाग्रताके साथ जपना है वह परम स्वाध्याय है अथवा जिनेन्द्र-कथित शास्त्रका जो एकाग्र चित्तसे पढना है वह स्वाध्याय है।'

व्याख्या—यहाँ स्वाध्यायमे जिस विषयका ग्रहण है उसको स्पष्ट किया गया है और उसके दो भेद किये गये हैं—एक जप और दूसरा पठन। जप पचनमस्कारका, जो कि **'णमो अरहंताण**

---

१ सवेग प्रशमस्थैर्यमसमूढत्वमस्मया।
आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेया सम्यक्त्व-भावना॥ आर्ष २१-९७॥

२ ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्-काय-गुप्तय.।
परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावना॥ आर्ष २१-९८॥

३ विषयेष्वनभिष्वग कायतत्त्वाऽनुचिन्तनम्।
जगत्स्वभाव चिन्त्येति वैराग्य-स्थैर्य-भावना॥आर्ष २१-९९॥

४. मु मे जय। ५. सि जु चिन्तन।

णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' इस अपराजित मन्त्रके रूपमे है, और पठन जिनेन्द्रोक्त शास्त्रका वतलाया है। इन दोनोके लिए 'एकाग्रचेतसा' विशेषण खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य है। एकाग्रचित्तताके विना न जपना ठीक बैठता है और न पढना। जिस प्रकार जिनागमका एकाग्रचित्तसे पढना स्वाध्याय है उसी प्रकार णमोकार मन्त्रका एकाग्रचित्तसे जपना भी स्वाध्याय है। स्वाध्यायके भेदोमे वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पाँच नाम प्रसिद्ध है[1] और इनके कारण ही स्वाध्यायको तत्त्वार्थसूत्रादि आगमग्रन्थोमे पचभेदरूप वर्णन किया है। इससे पच नमस्कृतिके जपको जो यहाँ स्वाध्याय कहा गया है वह कुछ खटकने जैसी बात मालूम होती है, परन्तु विचारने पर खटकनेकी कोई बात मालूम नही होती; क्योकि यहाँ एकाग्रचित्तसे जपकी वात विवक्षित है, तोता-रटन्तके तौर पर नही। एकाग्रचित्तसे जब अरहन्तादि पचपरमेष्ठियोके स्वरूपका ध्यान किया जाता है तो उससे बढकर दूसरा स्वाध्याय(स्व अध्ययन) और क्या हो सकता है ? प्रवचनसारमे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने लिखा है कि 'जो अर्हन्तको द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्वके द्वारा जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है[2]। अत एकाग्रचित्तसे पचपरमेष्ठियोके स्वरूपको स्वानुभूतिमे लाते हुए जो णमोकार मन्त्रका जप है, वह परम स्वाध्याय है, इसमे विवादके लिये कोई स्थान नही है। योगदर्शनमे भी प्रणवादिके जपको तथा मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय बतलाया है; जैसाकि उसके 'तप. स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोग 'इस सूत्रके निम्न भाष्यसे प्रकट है —

---

१. त० सू० ९-२५

२. जो जाणदि अरहत दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

'स्वाध्याय प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ।'

स्वाध्यायसे ध्यान और ध्यानसे स्वाध्याय

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमाऽऽमनेत् ।
ध्यान-स्वाध्याय-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥८१॥

'(साधकको चाहिये कि वह) 'स्वाध्यायसे ध्यानको अभ्यासमें लावे और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करे। ध्यान और स्वाध्याय दोनोंकी सम्पत्ति-सम्प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है—स्वानुभवमे लाया जाता है।'

व्याख्या—यहाँ स्वाध्याय और ध्यान दोनोको एक दूसरेके अभ्यासमे सहायक बतलाया है और इसलिए एकके द्वारा दूसरेके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है। साथ ही यह सूचना भी की गई है कि दोनोका अभ्यास परिपक्व हो जानेसे परमात्मा—परमविशुद्ध आत्मा-स्वानुभूतिका विषय बन जाता है—उसके लिये फिर किसी विशेष यत्नकी जरूरत नही रहती।

जिस स्वाध्यायके द्वारा ध्यानका अभ्यास बनता है उसकी गणना द्वादशविध तपोमेसे छह प्रकारके अन्तरग तपोमे की गई है। स्वाध्याय तपका माहात्म्य वर्णन करते हुए मूलाचार ग्रन्थमे लिखा है कि—'बाह्याभ्यन्तर बारह प्रकारके तपोनुष्ठानमे स्वाध्यायके समान तप न है और न होगा। स्वाध्यायमे रत साधु पाचो इन्द्रियोको वशमे किये रहता है, मन-वचन-काय-योगके निरोधरूप त्रिगुप्तियोको अपनाता है, एकाग्र-मन और विनयसे युक्त होता है —

बारस[1]-विहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहि सज्झायसमो(म) तवो कम्म ॥

---

१ स बाह्याभ्यन्तरे चास्मिन्, तपसि द्वादशात्मनि ।
न भविष्यति नैवास्ति स्वाध्यायेन सम तप. ॥—आर्ष २०-१९८

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदिसंवुडो तिगुत्त य ।
हवदि य एकग्गमणे-विणएण समाहिओ भिक्खू ॥
—मूला० ५-२१२,२१३

इसीसे आत्मप्रबोधमे विधिपूर्वक स्वाध्यायको, जिसमे मन ज्ञानके ग्रहण-धारणरूप, शरीर विनयसे विनियुक्त, वचन पाठाधीन और इन्द्रियोका समूह नियत एव नियन्त्रित रहता है, 'समाध्यन्तर'—कर्मक्षयकरी समाधिका एक भेद—बतलाया है। साथ ही, यह भी सूचित किया है कि ऐसे विधिपूर्वक स्वाध्यायरतके गुप्तियो-समितियोका सहज पालन होता है और बद्धमूल हुई तीनो शल्ये—माया, मिथ्या, निदान—उखड जाती हैं।[1]

वास्तवमे देखा जाय तो स्वाध्याय आदि शेष तपोयोग और द्वादश अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) ये सब ध्यानके ही परिकर एव परिवार हैं', जैसाकि आर्षके निम्न वाक्योसे प्रकट है :—

ततो दध्यावनुप्रेक्षा दिध्यासुर्धर्म्यमुत्तमम् ।
परिकर्ममितास्तस्य शुभा द्वादशभावनाः ॥२०-२२६॥
ध्यानस्यैव तपोयोगा शेषाः परिकरा मता' ।
ध्यानाभ्यासे ततो यत्न' शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥२१-२१५॥

---

१. मनो बोधाऽऽधान विनय-विनियुक्त निजवपु.
वच पाठायत्त करण-गणमाधाय नियतम् ।
दधान स्वाध्याय कृतपरिणतिर्जैनवचने
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम् ॥५१॥
गुप्तित्रय भवति तस्य सुगुप्तमेव शल्यत्रयीमुदखनच्च स बद्धमूला ।
तस्य स्वय समितय समिताश्च पच, यस्याऽऽगमे विधिवदध्ययनाऽनुबन्ध ॥५२॥

वर्तमानमे ध्यानके निषेधक अर्हन्मतानभिज्ञ है

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।
तेऽर्हन्मताऽनभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मन स्वयम् ॥८२॥

'जो लोग यहाँ यह कहते हैं कि ध्याता पुरुषोके लिये यह काल ध्यानका नही है वे स्वय अपनी अर्हन्मताऽनभिज्ञता—जिन-मतसे अजानकारी—व्यक्त करते हैं ।'

व्याख्या—यहाँ उन लोगोको जिनमतसे अनभिज्ञ बतलाया है जो यह कहते हैं कि इस क्षेत्रमे वर्तमान काल धर्म्यध्यानके लिये उपयुक्त नही है, क्योकि जिनमतमे ऐसा कही कोई निषे-धात्मक विधान नही है, प्रत्युत इसके श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने मोक्ख-पाहुडमें साफ लिखा है :—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स ।
तं अप्पसहावट्ठिये ण हु मण्णई सो दु अण्णाणी ॥७६॥

अर्थात्—इस भरतक्षेत्र तथा दु षम पचमकालमे ज्ञानीके धर्म्यध्यान होता है और वह आत्मस्वभावमे स्थित—आत्म-भावनामे तत्परके होता है, जो इसे नही मानता है वह अज्ञानी है ।

इससे पूर्वकी तीन गाथाओमे ऐसा कहने वालोको चारित्र-मोहनीय कर्मसे अभिभूत, व्रतोंसे वर्जित, समितियोंसे रहित, गुप्तियोसे विहीन, ससारसुखमे लीन और शुद्धभावसे प्रभृष्ट बतलाया है, जिनमे एक गाथा इस प्रकार है—

चरियावरिया वद-समिदि-वज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा ।
केई जपति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

श्रीदेवसेनाचार्यने भी, तत्त्वसारमे, ऐसा कहनेवालोको 'शका-काक्षामे फँसे हुए, विषयोमे आसक्त और सन्मार्गसे प्रभृष्ट बत-लाया है .—

संकाकंखागहिया विसयपसत्ता सुमग्गपब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स ।।१४।।

शुक्लध्यानका निषेध है धर्म्यध्यानका नही

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यान जिनोत्तमाः ।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां [1]प्राग्विवर्तिनाम् ।।८३।।

'यहाँ इस (पचम) कालमें जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यानका निषेध करते हैं परन्तु दोनो श्रेणियो (उपशम और क्षपक) से पूर्वव-र्तियोंके धर्म्यध्यान बतलाते हैं—इससे ध्यानमात्रका निषेध नही ठहरता ।'

व्याख्या—यहाँ पिछले पद्यकी बातको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस कालमे जिस ध्यानका निषेध किया गया है वह शुक्लध्यान है—धर्म्यध्यान नही । धर्म्यध्यानका विधान तो आगम-मे उपशम और क्षपक दोनो श्रेणियोके पूर्ववर्तियोंके, उस ध्यानके स्वामियोका निरूपण करते हुए, बतलाया गया है । इससे अप्रमत्त ही नही, किन्तु अगले अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म-सापराय नामके तीन गुणस्थानवर्ती जीव भी धर्म्यध्यानके स्वामी हैं, ऐसा जानना चाहिये । आर्ष (महापुराण) और तत्त्वार्थवार्तिक-भाष्यमे भी इसका उल्लेख है, जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है —

"श्रुतेन विकलेनाऽपि ध्याता स्यान्मुनिसत्तम ।
प्रबुद्धधीरध.श्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुत ।।"

—आर्ष २१-१०२

"तदुभयं तत्रेति चेन्न पूर्वस्यानिष्टत्वात् । स्यादेतत्—उभयं

---

१. सि जु प्राक्प्रवर्तिना ।

धर्म्यं-शुक्ल चोपशान्त-क्षीणकषाययोरस्तीति ? तन्न, किं कारणम्, पूर्वस्यानिष्टत्वात्, पूर्वौ हि धर्म्यं-ध्यानं श्रेण्योर्नेष्यते आर्षे, पूर्वेषु चेष्यते।" तत्त्वा० वा० भा० ९-३६-१५

वज्रकायके ध्यान-विधानकी दृष्टि

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्त तन्नाधस्तन्निषेधकम् ॥८४॥

'उधर आगममे जो 'वज्रकायस्य ध्यानं'—वज्रकायके ध्यान होता है—ऐसा वचन-निर्देश है वह दोनों श्रेणियोके ध्यानको लक्ष्यमें लेकर कहा गया है और इसलिए वह नीचेके गुणस्थानवर्तियोंके लिए ध्यानका निषेधक नहीं है।'

व्याख्या—"वज्रकायस्य ध्यानम्' यह वाक्य 'आर्ष' नामक आगमग्रन्थका है, जिसमे ध्यानका लक्षण और उस कालकी उत्कृष्ट-मर्यादाका निर्देश करते हुए ध्यान-स्वामीके उल्लेखरूपमें इसे दिया है; जैसाकि उसके निम्न पद्यसे व्यक्त है :—

ऐकाग्र्येण निरोधः यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि।
तद्ध्यान वज्रकायस्य भवेदाऽऽन्तर्मुहूर्तत. ॥२१-८॥

श्रेणियाँ दो है—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। क्षपकश्रेणिका चढना आद्यसहनन 'वज्रवृषभनाराच' के द्वारा ही बन सकता है और उसीसे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। उपशमश्रेणिका चढना तीनो प्रशस्त सहननो—वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच—के द्वारा हो सकता है[1]। इसलिए वज्रकायको ध्यानका स्वामी बतलाना श्रेणियोके ध्यानकी अपेक्षाको लिए हुए है, उनसे नीचेके चार गुणस्थानवर्तियोंसे उसका सम्बन्ध नही है—वे वज्रकाय न होने पर भी धर्म्यध्यानके स्वामी होते हैं।

---

१ आद्यसहननेनैव क्षपकश्रेण्यधिश्रितः।
त्रिभिराद्यैर्भजेच्छ्रेणीमितरा श्रुततत्त्ववित् ॥ भार्ष २१-१०४।

वर्तमानमें ध्यानका युक्तिपुरस्सर समाधान

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागर-पारगाः ।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तित ॥८५॥
चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य सम्प्रति ।
तत्किमन्ये यथाशक्ति [1]माऽऽचरन्तु तपस्विन. ॥८६॥

'यदि आजकल श्रुतसागरके पारगामी ध्याता नहीं हैं—और इसलिये ऊँचे दर्जेका ध्यान नही वनता—तो क्या अल्पश्रुतोको अपनी शक्तिके अनुसार (नीचे दर्जेका) ध्यान न करना चाहिये ? यदि इस समय यथाख्यातचारित्रके आचरिता नहीं हैं तो क्या दूसरे तपस्वी अपनी शक्तिके अनुसार (नीचे दर्जेके) चारित्रका आचरण न करें ?'

व्याख्या—जो लोग ऊँचे दर्जेके ध्यानकी वातोंसे अभिभूत हुए आजकलके समयको ध्यानका काल नही वतलाते उनसे यहाँ दो प्रश्न पूछे गये हैं। पहला प्रश्न यह है कि यदि आजकल श्रुतसागरके पारगामी श्रुतकेवली जैसे ध्याता नही हैं तो क्या दूसरे अल्पश्रुतके धारक मुनियो आदिको अपनी सामर्थ्यके अनुसार ध्यान करना ही न चाहिये ? इसका उत्तर यदि वे विधि मे देते हैं तव तो उनकी आपत्ति ही समाप्त हो जाती है और यदि उत्तर निषेधमे देते हैं अर्थात् यह प्रतिपादन करते हैं कि अल्पश्रुतको ध्यान करना ही न चाहिये तो फिर दूसरा प्रश्न यह पैदा होता है कि आजकल मोक्ष-प्राप्तिके पूर्ववर्ती यथाख्यातचारित्रका आचरण करनेवाले भी कोई नही हैं तव क्या दूसरे साधुओको अपनी शक्तिके अनुसार तत्पूर्ववर्ती चारित्रका अनुष्ठान न करना चाहिये ? इसका उत्तर यदि विधि मे दिया जाता है तो पूर्व प्रश्न-

---

१. सि जु नाचरंती ।

का उत्तर निषेधमे देनेके लिये कोई कारण नही रहता। और यदि इस प्रश्नका उत्तर भी निषेधमे दिया जाता है तो फिर सामायिकादि दूसरे किसीभी चारित्रका अनुष्ठान इस कालमे नही बनता। इस तरह सम्यक्चारित्रका ही लोप ठहरता है और सम्यक्चारित्रके लोपसे धर्मके लोपका प्रसग उपस्थित होगा। अत जो लोग वर्तमानकालको ध्यानके सर्वथा अयोग्य बतलाते हैं उनके कथनमे कोई सार नही है, वे अपने इस कथन-द्वारा अर्हन्मतसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

सम्यक्अभ्यासीको ध्यानके चमत्कारोका दर्शन

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतम्।
धारणा-सौष्ठवाद् [1]ध्यान-प्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

'जो यथार्थगुरुके उपदेशसे निरन्तर (ध्यानका) अभ्यास करता है वह धारणाके सौष्ठवसे—अपनी सम्यक् और सुदृढ अवधारण-शक्तिके बलसे—ध्यानके प्रत्ययोंको भी देखता है—लोकचमत्कारी ज्ञानादिके अतिशयोको[2] भी प्राप्त होता है।'

व्याख्या—जिन लोगोको ऐसा खयाल है कि ध्यानका कोई चमत्कार आजकल देखनेमे नही आता, इसलिए ध्यान करना निरर्थक है, उन्हे इस पद्यमे ध्यानके चमत्कारोका आश्वासन दिया गया है और यह बतलाया गया है कि जो ध्याता यथार्थगुरुके उपदेशको पाकर उसके अनुसार निरन्तर भले प्रकार ध्यानका

---

१ मु ध्यान प्रत्ययानपि।

२ पं० आशाधरजीने इष्टोपदेशके ४०वें पद्यकी टीकामे 'ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिण प्रत्ययाः स्यु' ऐसा लिखकर प्रमाणमे 'तथा चोक्त' वाक्यके साथ इस ग्रन्थके उक्त पद्यको उद्धृत किया है, जिससे 'ध्यान-प्रत्ययान्' पदका स्पष्ट आशय ध्यानके चमत्कारो तथा अतिशयोंसे जान पडता है।

अभ्यास करता है उसकी ध्यान-विषयक धारणाएँ जब सम्यक् और सुदृढ हो जाती हैं तब वह ध्यानके चमत्कारो-ज्ञानादिविषयक अतिशयोको भी प्राप्त होता है। अत निराश होनेकी कोई बात नही है। सम्यग्गुरुसे ध्यानविषयक उपदेशकी प्राप्ति करके उसके अनुसार निरन्तर ध्यानके अभ्यासकी क्षमताको बढाना चाहिए। सम्यग्गुरुमे साक्षात् और परोक्ष दोनो प्रकारके गुरु शामिल हैं, साक्षात गुरु वह जो ध्यानकी कला एव विधि-व्यवस्थासे भलो प्रकार अवगत तथा अभ्यास-द्वारा उसे जीवनमे उतारे हुए हो और जिज्ञासुको उसके देनेमे उदार, निस्पृह एव निष्कपट हो। परोक्ष गुरु वह जिसने ध्यान-विषयक अपने अनुभवोको पूर्व-गुरु-वाक्योके साथ अथवा उनके बिना ही श्रुत-निबद्ध किया हो।

यहाँ 'धारणा-सौष्ठवात्' पदमे प्रयुक्त 'धारणा' शब्दका अभिप्राय उन मारुती, तैजसी और आप्या नामकी धारणाओंसे है जिनका उल्लेख आगे ग्रन्थके १८३वे पद्यमे किया गया है और जिनके स्वरूपकी अतीव सक्षिप्त एव रहस्यमय सूचना उससे आगे-के कुछ पद्योमे दी गई है। श्रुतनिर्दिष्ट बीजो (बीजमन्त्रो) के अवधारण (ससाधन) को भी धारणा कहते हैं[1]। इस अर्थकी दृष्टिसे अग्रोल्लिखित बीजमन्त्रोकी भले प्रकार सिद्धिसे ध्यानके प्रत्ययो–चमत्कारोका दर्शन होता है, ऐसा आशय निकलता है।

अभ्याससे दुर्गम-शास्त्रोंके समान ध्यानकी भी सिद्धि

[2]यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि[3]।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥८८॥

---

१. धारणा श्रुतनिर्दिष्ट-बीजानामवधारणम्। (आर्ष २१-२२७)

२. अभ्यस्यमान बहुधा स्थिरत्व यथैति दुर्बोधमपीह शास्त्रम्।
नून तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यानं सदाऽभ्यस्यतु मोक्तुकामः॥
—अमितगत्युपासकाचार १०-१११

३. ज महन्त्यपि।

'जिस प्रकार अभ्याससे महाशास्त्र भी स्थिर-सुनिश्चित हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यासियोंका ध्यान भी स्थिरताको—एकाग्रता अथवा सिद्धिको—प्राप्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके अभ्यासियोको ध्यानसिद्धिका आश्वासन देते हुए ध्यानके अभ्यासको बराबर बढाते रहनेकी प्रेरणा की गई है और शास्त्राभ्यासके उदाहरण-द्वारा यह समझाया गया है कि जिस प्रकार बडे-बडे कठिन शास्त्र भी, जो प्रारम्भमे बडे ही दुर्गम तथा दुर्बोध मालूम होते हैं, बराबर पढने तथा मनन करनेके अभ्यास-द्वारा सुगम तथा सुखबोध हो जाते हैं, उसी प्रकार सतत अभ्यासके द्वारा ध्यान भी, जो पहले कुछ डांवाडोल रहता है, स्थिरताको प्राप्त हो जाता है, और यह स्थिरता ही ध्यानके चमत्कारोको प्रकट करनेमे समर्थ होती है। सच है 'करत करत अभ्यासके जडमति होत सुजान। रसरी आवत-जात-ते सिल पर पडत निशान ॥' अत ध्यानके अभ्यास-मे ज़रा भी शिथिल तथा हतोत्साह न होना चाहिये, श्रद्धाके साथ उसे बराबर आगे बढाते रहना चाहिये।

ध्याताको परिकर्मपूर्वक ध्यानकी प्रेरणा

यथोक्त-लक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा[1] ।
तदेदं[2] परिकर्मादौ[3] कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥८९॥

'यथोक्त लक्षणसे युक्त ध्याता जब ध्यान करनेके लिए उत्साहित होता है तब वह धीरबुद्धि प्रारम्भमे इस (आगे लिखे) परिकर्मको—सस्कार अथवा उपकरण-सामग्रीके सज्जीकरणको—करके ध्यान करे—इससे उसको ध्यानमे स्थिरता एव सिद्धिकी प्राप्ति हो सकेगी।'

---

१ मु यथा। २ मु तदेव, मे तदैव, सि जु तदैतत्। ३ सि परिकर्मादीन्।

व्याख्या—यहाँ ध्यानके लिए उत्साहित यथोक्तलक्षण ध्याता-को प्रारम्भमें कुछ परिकर्म करनेको—साधक कारणोंको जुटाने तथा बाधक कारणोंको हटानेकी—प्रेरणा की गई है, जिसका रूप अगले छह पद्योंमें दिया है। यह परिकर्म एक प्रकारकी ध्यानकी तैयारी अथवा संस्कृति है, जिसमें अपनेको यथासाध्य संस्कारित एवं सुसज्जित करना ध्याताका पहला कर्तव्य है।

विवक्षित परिकर्मका स्वरूप

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्री-पशु-क्लीव-जीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे[1] ॥९०॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाऽचेतनाऽशेष-ध्यानविघ्न-विवर्जिते ॥९१॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखाऽऽसीनः स्थितोऽथवा।
सममृज्वायतं गात्रं[2] निःकम्पाऽवयवं दधत्[3] ॥९२॥
नासाऽग्रन्यस्त-निष्पन्द-लोचनो मन्दमुच्छ्वसन्।
द्वात्रिंशद्दोष-निर्मुक्त-कायोत्सर्ग-व्यवस्थितः[4] ॥९३॥

---

१. स्त्रीपशुक्लीबसंसक्तरहितं विजनं मुनेः।
सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः ॥ (आर्ष २१-७७)
निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसील-वज्जियं जइणो।
ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाण-कालम्मि ॥
—ध्यानशतक ३५

२ सममृज्वायतं बिभ्रद्गात्रमस्तब्धवृत्तिकम् ॥ (आर्ष २१-६०)

३. नात्युन्मिषन्न चात्यन्तं निमिषन्मन्दमुच्छ्वसन् ॥ (आर्ष २१-६२)

४. पर्यङ्क इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि सम्मतः।
समप्रयुक्तसर्वाङ्गो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः ॥ (आर्ष २१-६९)

[१]प्रत्याहृत्याऽक्ष-लुटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः।
चिन्तां चाऽऽकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येय-वस्तुनि ॥९४॥
निरस्त-निद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरम्।
स्वरूप पररूप वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये ॥९५॥

'जहाँ स्त्रियो, पशुओं, नपुंसक जीवो तथा क्षुद्र-मनुष्यो आदि-का भी सचार न हो ऐसे शून्यागार (खाली पड़े घर) मे या गुफामे अथवा अन्य किसी ऐसे स्थानमे जो अच्छा साफ हो, जीव-जन्तुओंसे रहित प्रासुक–पवित्र हो, ऊँचा-नीचा न होकर समस्थल हो और चेतन-अचेतनरूप सभी ध्यानविघ्नोसे विवर्जित हो, दिनको अथवा रात्रिके समय, भूमि पर अथवा शिलापट्ट पर सुखा-सनसे बैठा हुआ या खडा हुआ, निश्चल अगोंका धारक सम और सरल लम्बे शरीरको लिए हुए, नाकके अग्रभागमे दृष्टिको निश्चल किए हुए, धीरे-धीरे श्वास लेता हुआ, बत्तीस दोषोसे रहित कायोत्सर्गसे व्यवस्थित हुआ, इन्द्रियोरूप लुटेरोको उनके विषयोसे प्रयत्नपूर्वक हटाकर और सर्वविषयोसे चिन्ताको खींच-कर तथा ध्येयवस्तुमे रोककर निद्रारहित, निर्भय और निरालस्य हुआ ध्याता अन्तर्विशुद्धिके लिए स्वरूप अथवा पररूपको ध्यावे।'

व्याख्या—पिछले पद्यमे ध्यानके लिए जिस परिकर्मकी आव-श्यकता व्यक्त की गई है उसका कुछ सक्षिप्तरूप इन पद्योमे दिया गया है। ध्यानके लिए देश, काल, अवस्थादिको ठीक करनेकी जरूरत होती है उनमेसे देशके विषयमे यहाँ यह सूचित किया गया है कि वह या तो ऐसा शून्यागार (सूना मकान) तथा गुफा हो जिसमे स्त्री पशु-नपुसक-जीवोका तथा क्षुद्र-पुरुषोका

---

१. हृषीकानि तदर्थेभ्य प्रत्याहृत्य ततो मन।
सहृत्य धियमव्यग्रा धारयेद् ध्येयवस्तुनि ॥ (आर्ष २१-१०६)

आवागमन न हो और या कोई दूसरा ऐसा प्रदेश हो जो प्रशस्त, प्रासुक, पवित्र तथा मरुभूमिको लिए हुए हो और उन सभी चेतन-अचेतन पदार्थोंसे रहित हो जो ध्यानमे विघ्नकारक हो। इन स्थानोमे बैठकर या खडे होकर ध्यान करनेके लिए भूतल तथा शिलापट्टको उपयुक्त बतलाया है। भूतलमें उपलक्षणसे ईंट चूने आदिका फर्श और शिलापट्टमें काष्ठपट्ट-चौकी-चटाई आदि शामिल हैं। कालके विषयमें कोई विशेष सूचना नही की, केवल इतना ही लिख दिया कि वह दिनका हो या रातका, और इसलिए वह जिस समय भी बन सके अपनी ध्यान-परिणतिके अनुरूप चुना जाना चाहिए[1]। अवस्थाके विषयमें यह सूचित किया गया है कि वह बैठकर तथा खडा होकर दोनो अवस्थाओसे किया जाता है[2]। दोनो प्रमुख अवस्थाओमें आसन सुखासन, शरीरके अंगोका अकम्पन, दृष्टिका नासिकाके अग्र-

---

१. ध्यानशतककी निम्न गाथामे स्पष्ट लिखा है कि ध्यान करने-वालोको दिन-रातकी वेलाओका कोई नियम नही है, जिस समय भी योगोंका उत्तम समाधान बन सके वही काल ग्रहण किये जानेके योग्य है —

"कालो वि सोच्चिय जहि जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
ण उ दिवस णिसा वेलाइणियमण झाइणो भणियं ॥३८॥

२. श्रीजिनसेनाचार्यके आर्षग्रन्थमे और श्रीजिनभद्र-नामाङ्कित ध्यानश-तकमे देहकी उस सब अवस्थाको जो ध्यानकी विरोधिनी नही है ध्यानके लिए ग्रहण किया है, चाहे वह खडे, बैठे या लेटे रूप-में हो —

"देहावस्था पुनर्येव न स्याद् ध्यानविरोधिनी।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत्स्थित्वाऽऽसित्वाऽधिशय्य वा ॥आर्ष २१-७५॥
"जच्चिय देहावस्था जिया ण झाणोपरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ णिसण्णो णिवण्णो वा" ॥ध्यानश० ३९॥

भाग पर अवस्थान, नयनोका अचचलपना और श्वासोच्छ्वासका सचार मन्द-मन्द होना चाहिए।

सुखासनके विपयमे यहाँ कोई खास सूचना नही की गई। इस विषयमें भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने आर्पग्रन्थ महापुराणके २१ वें पर्वमे सुखासनकी आवश्यकता व्यक्त करते हुए यह सूचित किया है कि पर्यङ्कासन (पल्यङ्कासन) और कायोत्सर्ग दोनो सुखासन हैं। इनसे भिन्न दूसरे आसन विषम आसन हैं[1]। साथ ही पर्यङ्कासनका स्वरूप यह दिया है कि 'अपने पर्यङ्कमें वाएँ हाथको और इसके ऊपर दाहिने हाथको इस तरह रक्खा जाय कि जिससे दोनो हाथोकी हथेलियाँ ऊपरकी ओर (उत्तानतल) हो'[2]। पैरोके विन्यासका कोई नियम नही दिया अथवा ग्रन्थप्रतिमे छूट गया जान पडता है, जो कि होता अवश्य है, जैसा कि प० आशाधर-जी-द्वारा अनगारधर्मामृतकी टीकामें उद्धृत तीन पुरातन पद्योसे जाना जाता है, जिनमेंसे एक पद्य इस प्रकार है —

स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति।
पर्यंको नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तरपाणिकः॥

यह पद्य योगशास्त्रके चौथे प्रकाशका १२५ वा पद्य है। इसमें नाभिसे मिली हाथोकी उपर्युक्त स्थितिके साथ एक पैरको जघा (पिंडली) के नीचे और दूसरेको जघाके ऊपर रखनेकी सूचना की गई है।

---

१ वैमनस्ये च किं ध्यायेत्तस्मादिष्ट सुखासनम्।
कार्योत्सर्गश्च पर्यंकस्ततोऽन्यद्विपमासनम् ॥२१-७१॥
तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्य ध्यायतो यते ॥
प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कमामनन्ति सुखासनम् ॥२१-७२॥

२. स्वपर्यंके करं वामं न्यस्तोत्तानतल पुन ।
तस्योपरीतर पाणिमपि विन्यस्य तत्समम् ॥आर्ष २१-६१॥

कायोत्सर्गको ३२ दोषोसे रहित बतलाया है, जिनका स्वरूप मूलाचार, अनगारधर्मामृतादि दूसरे ग्रन्थोसे जाना जा सकता है।

इन्द्रिय-लुटेरे अनादि अविद्याके वश विना किसी विशेप प्रयत्नके स्वत विषयोकी ओर प्रवृत्त होते है। अत उन्हे प्रयत्न-पूर्वक अपने विषयोंसे हटाकर और चिन्ताको अन्य सब ओरसे खीचकर ध्येय-वस्तुकी ओर लगानेकी इस परिकर्ममें विशेष प्रेरणा की गई है। साथ ही यह भी प्रेरणा की गई है कि ध्याताको निद्रारहित, भयरहित और आलस्यरहित होकर आत्म-विशुद्धिके लिये स्वरूप तथा पररूपका ध्यान करना चाहिए। पररूपमे मुख्यत. पचपरमेष्ठिका ध्यान समाविष्ट है, जिसका ग्रन्थमें अन्यत्र (पद्य ११९ मे) निर्देश है। निद्रा, भय और आलस्य तीनो ध्यानकी सिद्धिमे प्रबल बाधक हैं अत सतत अभ्यासके द्वारा इनको जीतनेका पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिये।

परिकर्ममे और भी कितनी ही बाते शामिल होती हैं, जिनमें कुछका समावेश ध्याताके स्वरूप-वर्णनमे आचुका है।

यहाँ सुखासन-विषयक विशेष जानकारीके लिए यशस्तिलकके 'ध्यानविधि' नामक ३९ वें कल्पके निम्न पद्योको ध्यानमे लेनेकी जरूरत है.—

सन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोपरि युक्तित. ।
भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्म-वीर-सुखासनम् ॥

तत्र सुखासनस्येद लक्षणम्—

गुल्फोत्तान-कराङ्गुष्ठ-रेखा-रोमालि-नासिका ।
समदृष्टि समाः कुर्यान्नाऽतिस्तब्धो न वामन ॥
तालत्रिभाग-मध्याङ्घ्रि स्थिर-शीर्ष-शिरोधरः ।
सम-निष्पन्दपार्ष्ण्यग्र-जानु-भ्रू-हस्त-लोचनः ॥

न खात्कृतिर्न कण्डूतिर्नोष्ठभक्तिर्न कम्पिति. ।
न पर्वगणितिः कार्या नोक्तिरन्दोलितिः स्मितिः ॥
न कुर्याद्दूरदृक्पात नैव केकरवीक्षणम् ।
न स्पन्द पक्ष्ममालानां तिष्ठेन्नासाग्रदर्शनः ॥

इनमेंसे पहले पद्यमे पद्मासन, वीरासन और सुखासनका सामान्य-रूप दिया है—समगुल्फ-स्थितिमे स्थित दोनो पदो (पैरो) को ऊरूवो (सक्थियो thighs) के नीचे रखनेसे पद्मासन, ऊपर रखनेसे वीरासन और एक (वाम) पदको ऊरुके नीचे तथा दूसरे (दक्षिण) पदको ऊरुके ऊपर रखनेसे सुखासन बनता है।

उक्त आसनोमे सुखासनका लक्षण यह है, ऐसा सूचित करते हुए उत्तरवर्ती पद्योमें उसका जो विशेष-रूप दिया है वह इस प्रकार है —

'गुल्फो–पैरोंके टखनोके ऊपर हथेलियाँ ऊर्ध्वमुख किये बाएँके ऊपर दाहिनेके रूपमे रक्खे हुए दोनो हाथोके अगूठोकी रेखाएँ, नाभिके ऊपरकी रोमालि और नासिका ये सम की जानी चाहिये—विषम स्थितिमे न रहे—, दृष्टि भी सम होनी चाहिये—इधर-उधरको फिरी हुई नही, और शरीरको न तो अधिक तानकर रक्खा जाय और न आगेको या इधर-उधर झुका कर वामनरूपमे ही रक्खा जाय। दोनो पैरोके मध्यमे—एक पैरकी एडीसे दूसरे पैरकी एडीके बीचमे—चार अगुलका अन्तराल रहे, शिर और ग्रीवा स्थिर रहे—इधर-उधरको डोले नही, एडियोके अग्रभाग, घुटने, भोहे, हाथ और नेत्र सम तथा निश्चल रहे। खखारना, खुजाना, होठोको चलाना, कापना, अगुलि-पर्वोपर गिनती करना, बोलना, शरीरका इधर-उधर डुलाना और मुस्कराना ये कार्य न किये जाँय। इसी तरह दूर दृष्टिपात करना—दूरवर्ती वस्तुको देखना, तिरछी नजरसे देखना,

वार-वार पलक झपकना, ये सव भी न होकर नाकके अग्रभाग पर दृष्टि रखकर तिष्ठना चाहिये ।'

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि यशस्तिलकके उक्त पहले पद्यमे सुखासनका जो सामान्य रूप दिया है वह अन्यत्र (योगशास्त्र, अमितगति-श्रावकाचार[1] आदि ग्रन्थोमे) वर्णित पर्यङ्कासनके रूपसे मिलता-जुलता है । भेद इतना ही है कि अन्यत्र पदोको जघाओके नीचे-ऊपर (एक पदको नीचे दूसरेको ऊपर) रखनेकी व्यवस्था है । तव यशस्तिलककर्ता सोमदेवाचार्यने उन्हे ऊर्वो (Thighs) के नीचे-ऊपर रखनेकी सूचना की है, और यह एक प्रकारका साधारणसा मतभेद है । इस मतभेदके साथ सोम-देवजीके सुखासनको पर्यङ्कासन ही समझना चाहिये, जिसे श्रीजिनसेनाचार्यने अधिक सुखासन वतलाया है । सुखासनके जो विशेष लक्षण यशस्तिलकमे दिये गये हैं वे प्राय दूसरे पद्मासना-दिकसे भी सम्बन्ध रखते हैं, उन्हे सुखासनके साथ दिये जानेका अभिप्राय इतना ही जान पडता है कि सुखासनको कोई यो ही ऊरुके नीचे-ऊपर पैरोको रखकर जैसे-तैसे सुखपूर्वक बैठ जानेका नाम ही न समझले । उसे ध्यानासनकी दृष्टिसे ध्यानविधि-परक कुछ अन्य बातोको भी ध्यानमे रखना होगा ।

नय-दृष्टिसे ध्यानके दो भेद

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे ।
स्वरूपालम्बनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम् ॥९६॥

'जैन आगममें ध्यानको निश्चयनय और व्यवहारनयके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है —पहला निश्चयध्यान स्वरूपके अवल-

---

१. अमितगतिश्रावकाचारका पर्यंकासन-लक्षण—

बुधैरुपर्यधोभागे जघयोरुभयोरपि ।
समस्तयो. कृते ज्ञेय पर्यंकासनमासनम् ॥८-४६॥

म्बनरूप है और दूसरा व्यवहारध्यान परके अवलम्बनरूप है।'

व्याख्या—यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनो नयोकी दृष्टिसे ध्यानके आगमानुसार दो भेद करके एकको स्वरूपावलम्बी और दूसरेको परावलम्बी बतलाया है। स्वरूपावलम्बी ध्यानमे आत्मा-के शुद्धस्वरूपके सिवाय दूसरी कोई वस्तु ध्यानका विषय नही रहती, जब कि परावलम्बी ध्यानमे दूसरी वस्तुओका अवलम्बन लिया जाता है—उन्हे ध्यानका विषय (ध्येय) बनाया जाता है। निश्चयनयका स्वरूप ही 'अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक' है और इसलिये उसमे किसी दूसरेका अवलम्बन लिया ही नही जा सकता—ध्याता भिन्न, ध्येय भिन्न और करणादिक भिन्न हो, ऐसा उसमे कुछ भी नही बनता—और इसीलिये उसे निरालम्ब तथा दूसरेको सालम्ब ध्यान भी कहा जाता है, जैसाकि श्रीपद्मसिंह मुनिके ज्ञानसारगत निम्न वाक्यसे भी जाना जाता है—

किं बहुणा सालंब झाण परमत्थणाएण णाऊणं।
परिहरह कुणह पच्छा झाणब्भासं निरालंबं॥३७॥

इसमे पूर्वसे किये जाने वाले व्यवहारनयाश्रित सालम्बध्यान-को छोड कर निरालम्ब-ध्यानके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है, और इससे दोनो ध्यानोके अभ्यासका क्रम भी स्पष्ट हो जाता है।

निश्चयकी अभिन्न, व्यवहारकी भिन्न सज्ञा और
भिन्न ध्यानाभ्यासकी उपयोगिता

अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते।
भिन्ने तु[1] विहिताऽभ्यासोऽभिन्न ध्यायत्यनाकुलः॥६७॥

'अथवा पहला निश्चयनयावलम्बी ध्यान 'अभिन्न' और दूसरा व्यवहारनयावलम्बी ध्यान 'भिन्न' कहा जाता है। जो 'भिन्न' ध्यानमे अभ्यास कर लेता है वह निराकुल हुआ 'अभिन्न' ध्यान-को ध्यानेमे प्रवृत्त होता है।'

---

१. मु मे भिन्ने हि।

व्याख्या—निश्चयनयाश्रित स्वावलम्बी-ध्यानको अभिन्नध्यान और व्यवहारनयाश्रित परावलम्बी-ध्यानको 'भिन्नध्यान कहते हैं। भिन्नध्यानमे जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब अभिन्नका ध्यान निराकुलतापूर्वक ठीक बनता है। इसी बातको 'आत्म-प्रबोध' ग्रन्थमे "सालम्बनाऽभ्यासनिबद्धलक्ष्यो भवेन्निरालम्बनयोगयोग्य" इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट किया है। अत पहले आत्म-स्वरूपसे भिन्न अन्य वस्तुओंके ध्यानको परिपुष्ट बनाना चाहिये, जिससे अभ्यासी चाहे जिसके चित्रको अपने हृदय-पटल पर अकित करसके और उसे अधिकसे अधिक समय तक स्थिर रखनेमे समर्थ हो सके। इस प्रकारका अभ्यास बढ जानेपर आत्मध्यानरूप जो अभिन्नध्यान है वह बिना किसी आकुलताके सहज ही बन सकेगा। जो ध्याता भिन्नध्यानके अभ्यासमे परिपक्व हुए बिना एकदम आत्मध्यानमे प्रवृत्त होता है वह प्राय अनेक आकुलताओ तथा आपदाओका शिकार बनता है। अत. ध्यानका राजमार्ग यही है कि पहले व्यवहारनयाश्रित भिन्न (सालम्बन) ध्यानके अभ्यासको बढाया जाय। तत्पश्चात् निश्चयनयाश्रित अभिन्न (निरा-लम्बन) ध्यानके द्वारा अपने आत्माके शुद्ध-स्वरूपमे लीन हुआ जाय। भिन्नध्यानमे परमात्माका ध्यान सर्वोपरि मुख्य है, जिसके सकल और निष्कल ऐसे दो भेद हैं—सकल-परमात्मा अरहत और निष्कल-परमात्मा सिद्ध कहलाते है[1]।

भिन्नरूप धर्म्यध्यानके चार ध्येयोकी सूचना

आज्ञाऽपायौ[2] विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च।
यथागममविक्षिप्त-चेतसा चिन्तयेन्मुनिः ॥९८॥

---

१. दुविहो तह परमप्पा सयलो तह णिक्कलो त्ति णायव्वो।
सकलो अरुहसरूवो सिद्धो पुण णिक्कलो भणिओ ॥३२॥
—ज्ञानसार

२ मु मे आज्ञापायो।

'(भिन्नरूप व्यवहार-ध्यानमे) मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और लोक-संस्थानका आगमके अनुसार चित्तकी एकाग्रताके साथ चिन्तन करे।'

व्याख्या—यहाँ भिन्नध्यानके विषयभूत आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाकविचय और लोकसस्थानविचय नामक धर्म्यध्यानके चार भेदो[1] की सूचना करते हुए उनके आगमानुसार स्वरूप-चिन्तनकी प्रेरणा की गई है। यद्यपि यह प्रेरणा मुख्यत मुनियोको लक्ष्य करके की गई है परन्तु गौणत देशव्रती श्रावक और अविरत-सम्यग्दृष्टि भी उसके लक्ष्यभूत हैं, जो धर्म्यध्यानके अधिकारी हैं।

धर्म्यध्यानके जिन प्रकारोका उल्लेख पद्य ५१ से ५५ तक किया गया है उनसे भिन्न ये चार भेद आगम-परम्पराके अनुसार कहे गये हैं, जिसे 'आम्नाय' भी कहते हैं[2]। और इसलिये इनका अनुष्ठान जैन आम्नायके अनुसार ही होना चाहिये, जिसके लिये '**यथागमं**' वाक्यका प्रयोग यहाँ खास तौरसे किया गया है।

धर्म्यध्यानके ध्येय-दृष्टिसे प्रकल्पित हुए इन चार भेदोमे प्रथम-भेदगत 'आज्ञा' शब्द सर्वज्ञ-वीतराग-जिन-प्रणीत आगमके उस आदेश एव निर्देशका वाचक है जिसका विषय सूक्ष्म है, प्रत्यक्ष तथा अनुमान-प्रमाणके गोचर नही और किसी भी युक्तिसे बाधित नही होता, जैसे धर्मास्तिकायादि द्रव्योका कथन। ऐसे आज्ञाग्राह्य-विषयोका जो विचार, विचय, विवेक अथवा सचिन्तन है उसे

---

१ आज्ञा-पाय-विपाक-सस्थानविचयाय (स्मृतिसमन्वाहार) धर्म्यम्। (त० सू० ९-३६)

२ तदाज्ञापाय-सस्थान-विपाक-विचयात्मकम्।
चतुर्विकल्पमाम्नात ध्यानमाम्नायवेदिभि ॥ (आर्ष २१-१३४)

आज्ञाविचय-धर्म्यध्यान कहते है[1]। द्वितीयभेदगत 'अपाय' शब्द तापत्रयादिरूप उन दु खो-कष्टो तथा भयादिकका, जिनसे सासारिक प्राणी पीडित है, और उनसे छूटनेके प्रतीकारात्मक अथवा कल्याणात्मक उपायोका वाचक है। ऐसे सोपाय अपायका जो विवेचन अथवा सचिन्तन है उसे अपायविचय-धर्म्यध्यान कहते है। तृतीयभेदगत 'विपाक' शब्द शुभ-अशुभ कर्मोके फलका वाचक है। इस कर्मफलके चिन्तनका नाम विपाकविचय है, जिसमे ज्ञानावरणादि-कर्मोंको मूलोत्तर-प्रकृतियाँ, उनका बन्ध-उदय-सत्व-उदीरणा-सक्रमण और मोक्षादि सबका चिन्तन आजाता है। चतुर्थभेद तीनो लोकके आकार-प्रकारादिके सचिन्तनरूप है, जिसमे तदन्तर्गत पदार्थोंका चिन्तन और द्वादशानुप्रेक्षाका चिन्तन भी शामिल है। इन चारो ध्यानोका विशेष जाननेके लिये मूलाचार, आर्षादि आगमग्रन्थो[2] और तत्त्वार्थसूत्रको तत्त्वार्थराजवार्तिकादि[3] टीकाओको देखना चाहिये।

---

१ आत्मप्रबोधके निम्न दो पद्योमे इस आज्ञाविचय-धर्म्यध्यानका अच्छा सार खीचा गया है:—

> सत्तैका द्विविधो नय शिवपथस्त्रेधा चतुर्धा गतिः
> काया पच षडगिनां च निचया सा सप्तभगीति च।
> अष्टौ सिद्धगुणा पदार्थनवक धर्मं दशाग जिन
> प्राहैकादशदेशसयतदशा सद्द्वादशाग तप ॥८९॥
> सम्यकप्रेक्षा चक्षुषा वीक्ष्यमाणो यद्यादृक्ष सर्ववेद्याचचक्षे।
> तत्तादृक्ष चिन्तयन्वस्तु यायादाज्ञाधर्म्यध्यानमुद्रा मुनीन्द्र ॥९०॥

२. मूलाचार अ० ५, २०१-२०५। आर्ष २१,१३४-१५१

३ तत्त्वार्थवा० अ० ९, सू० २८-४४।

ध्येयके नाम-स्थापनादिरूप चार भेद

नाम च स्थापना[1] द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम् ।
समस्त व्यस्तमप्येतद् ध्येयमध्यात्म-वेदिभि: ॥६६॥

'अध्यात्म-वेत्ताओके द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-रूप चार प्रकारका ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनो रूपसे ध्यान-के योग्य माना गया है ।'

व्याख्या—यहाँ ध्येय-वस्तुओको चार भेदोमे विभक्त किया गया है—१ नाम-ध्येय, २ स्थापना-ध्येय, ३ द्रव्य-ध्येय, ४ भाव-ध्येय-और यह सूचना की गई है कि आत्मज्ञानी इन सभीको अथवा इनमेसे चाहे जिसको अपनी इच्छानुसार ध्येय वना सकता है। इन चारोंके लक्षण तथा स्वरूपादिका निर्देश आगे किया गया है ।

नाम-स्थापनादि ध्येयोका सक्षिप्त-रूप

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुण-पर्ययवद्द्रव्यं[2] भावः स्याद्गुण-पर्ययौ ॥१००॥

'वाच्यका जो वाचक वह 'नाम' है, प्रतिमा 'स्थापना' मानी गई है; गुण-पर्यायवान्को 'द्रव्य' कहते है और गुण तथा पर्याय दोनो 'भाव' रूप है ।'

व्याख्या—इस पद्यमे पूर्व पद्योल्लिखित चारो ध्येयोका सक्षिप्त-स्वरूप दिया है। वाच्यका वाचक शब्द होता है । अत सज्ञा शब्दको यहाँ नामध्येय कहा गया है । प्रतिमाका अभि-प्राय प्रतिविम्बसे है—चाहे वह कृत्रिम हो या अकृत्रिम—और इसलिये स्थापनाध्येय यहाँ तदाकार-स्थापनाके रूपमे गृहीत है—अतदाकार स्थापनाके रूपमे नही । द्रव्यका जो लक्षण गुण-

---

१ मु मे स्थापन । २. त० सू० ५-३८

पर्यायवान् तत्त्वार्थसूत्रसम्मत है उसीको द्रव्यध्येयके रूपमे यहाँ ग्रहण किया गया है और भावध्येयमे गुण तथा पर्याय दोनोको लिया गया है।

नामध्येयका निरूपण

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मय व्याप्य तिष्ठति ।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येय तदर्हताम्[1] ॥१०१॥

'अपने आदि, मध्य और अन्तमे (प्रयुक्त अ-र्-ह् अक्षरो-द्वारा) जो वाङ्मयको—वाणी वा वर्णमालाको—व्याप्त होकर तिष्ठता है वह अर्हन्तोका वाचक 'अर्हं' पद है, जो कि हृदयमे ऊँची उठती हुई ज्योतिके रूपमे नामध्येय है।'

व्याख्या—यहाँ अर्हन्तोके वाचक 'अर्हं' मत्रको नामध्येय बतलाया गया है, जिसके आदिमे वाङ्मय अथवा वर्णमालाका आदि अक्षर 'अ', मध्यमे मध्याक्षर 'र्' और अन्तमे अन्ताक्षर 'ह' है और इस तरह जो सारे वाङ्मयको अपनेमे व्याप्त कर 'अक्षर-ब्रह्म' के रूपमे स्थित हुआ परब्रह्म अर्हत्परमेष्ठिका वाचक है। इसे अन्यत्र 'सिद्धचक्रका सद्बीज' भी बतलाया गया है, जैसा कि निम्न प्रसिद्ध श्लोकसे प्रकट है —

अर्हमित्यक्षरब्रह्म वाचक परमेष्ठिन ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीज सर्वत प्रणमाम्यहम् ॥

इस अक्षरब्रह्मको, जिसे शब्दब्रह्म भी कहते हैं, ऊँची उठती हुई ज्योतिके रूपमे ध्यानका विषय बनाना चाहिये। इसके ध्यानका स्थान हृदय-स्थल है।

सिद्धचक्रका बीज होनेसे श्रीजिनसेनाचार्यने इसे परमबीज लिखा है —

---

१ सि जु तदर्हत ।

अकारादि-हकारान्त-रेफमध्यान्तबिन्दुक ।
ध्यायन् परमिदं बीजं मुक्त्यर्थी नाऽवसीदति ।।
—आर्ष २१-२३१

'अर्हं इस परब्रह्मके वाचक अक्षरब्रह्ममे 'अ' अक्षर साक्षात् र मूर्तिके रूपमे स्थित सुखका कर्ता है, स्फुरायमान रेफ (ं) अक्षर अविकल रत्नत्रयरूप है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्रतिमूर्ति है और 'ह' अक्षर मोहसहित सारे पापसमूहके हताका रूप धारण किये हुए है। इस तरह अभिन्नाक्षर पदके रूपमे यह बीजाक्षर स्मरणीय है। इस पदके 'अ' और 'ह' अक्षरोके मध्यमे वर्णमालाके शेष सब अक्षर वास करते हैं और इसीसे मुनियोने इसे अनघ शब्दब्रह्मात्मक बतलाया है। यह उज्ज्वल बिन्दुको धारण किये हुए 'अर्धचन्द्र' कलासे युक्त और रेफसे व्याप्त सकिरण ज्योति पद परब्रह्मके ध्यानको ध्वनित करता है—सिद्ध परमात्माके ध्यानकी अनुभूति कराता है। जैसा कि श्रीकुमारकविके निम्न वाक्योसे प्रकट है.—

अकारोऽय साक्षादमृतमयमूर्तिः सुखयति ।
स्फुरद्रेफो रत्नत्रयमविकल सकलयति ।
समोहं हकारो दुरितनिवहं हति सहसा ।
स्मरेदेवं बीजाक्षर [पद] मभिन्नाक्षरपदम् ।।११८।।
दधति वसंति मध्ये वर्णा अकार-हकारयो-
रिति यदनघ शब्दब्रह्मास्पद मुनयो जगु ।
यदमृतकलां बिभ्रद्बिन्दूज्वला रचितर्चिषं
ध्वनयति परब्रह्म ध्यान तदस्तु पद मुदे ।।११९।।
—आत्मप्रबोध

हृत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम् ।
अ-सि-आ-उ-साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ।।१०२।।

'चार पत्रोवाले हृदय-कमलमे पंचपरमेष्ठियोंके वाचक अ, सि, आ, उ, सा ये पाँच अक्षर ज्योतिष्मान् रूपमें (कमलपत्रादिक पर) प्रदक्षिणा करते हुए ध्यान किये जानेके योग्य हैं।'

व्याख्या—जिन पाँच अक्षरो अ, सि, आ, उ, सा को यहाँ ध्येय बतलाया है वे क्रमश अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीके वाचक, उनके आद्याक्षररूप, नाम हैं। इनका ध्यान हृदयमे चार पत्रोवाले कमलकी कल्पना करके किया जाता है। कमलकी कर्णिका पर 'अ' अक्षरकी, सम्मुखवाले पत्र पर 'सि' की, दक्षिणपत्र पर 'आ' की, पश्चिमपत्र पर 'उ' की और उत्तराभिमुखीपत्र पर 'सा' अक्षरकी स्थापना की जाती है। पाँचो अक्षर ज्योतिष्मान् हैं, उनसे ज्योति छिटक रही है और वे अपने स्थानो पर प्रदक्षिणा करते हुए घूम रहे है, ऐसा चिन्तन किया जाना चाहिए।

ध्यायेद-इ-उ-ए-ओ च तद्वन्वर्णानुदर्चिष.[1] ।
मत्यादि-ज्ञान-नामानि मत्यादि-ज्ञानसिद्धये ॥१०३॥

'उसी प्रकार ध्याता चार पत्रोवाले हृदय-कमलमे मति आदि पाँच ज्ञानके नामरूप जो अ, इ, उ, ए, ओ ये पाँच अक्षर है उन्हे मतिज्ञानादिकी सिद्धिके लिये ऊँची उठती हुई ज्योति-किरणोके रूपमे ध्यावे—अपने ध्यानका विषय बनावे।'

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व पद्यमे अ-सि-आ-उ-सा रूप पाँच अक्षरोके ध्यानका विधान है, उसी प्रकार इस पद्यमे अ, इ, उ, ए, ओ नामक पाँच अक्षरोके ध्यानका विधान है। ये पाँच अक्षर क्रमश मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और

१. मु मे मन्त्रानुदर्चिष ।

केवल ऐसे पाँच ज्ञानोके वाचक है। इन अक्षरोका ऐसे ज्योतिष्मान् अक्षरोके रूपमे ध्यान किया जाता है जिनसे किरणें ऊपरको उठ रही हों। इन अक्षरोकी स्थापना भी चार पत्र-वाले हृदयस्थ कमलपर उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार कि अ-सि-आ-उ-सा-की की जाती है। इन अक्षरोको भी पूर्ववत् अपने-अपने स्थानोपर प्रदक्षिणा करते हुए ध्यानका विषय बनाना चाहिये। इन अक्षरोके ध्यानसे मति आदि ज्ञानोकी सिद्धिमे सहायता मिलती है। परन्तु ये अक्षर मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोके वाचक किस दृष्टिसे है, यह अभी तक स्पष्ट नही हो सका। 'अ'कार अभिनिवोधका वाचक हो सकता है, जो कि मतिज्ञानका नामान्तर है, 'इ'कार 'इरा' का वाचक हो सकता है, जिसका अर्थ वाणी है और इसलिये उससे श्रुतज्ञानका अर्थ लिया जा सकता है; 'उ'कार 'उहि'–अवधिका वाचक हो सकता है। परन्तु ए'कार मन पर्ययका और 'ओ'कार केवलज्ञानका वाचक कैसे हैं, यह कुछ समभमे नही बैठा। विशेष ज्ञानी इस मत्र-विषयको स्वय समभ ले।

सप्ताक्षरं महामन्त्रं मुख-रन्ध्रेषु सप्तसु।
गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकम् ॥१०४॥

'सप्ताक्षरवाला जा महामन्त्र—णमो अरहताण—है, उसे गुरुके उपदेशानुसार मुखके सात रन्ध्रो–छिद्रोमे स्थापित करके वह ध्याता ध्यान करे जो दूरसे सुनने-देखने आदिरूप आत्म-शक्तियोको विकसित करना अथवा तद्विषयक दूरश्रवादि-ऋद्धि-योको प्राप्त करना चाहता है।'

व्याख्या—जिस पचणमोकाररूप मत्रके एकाग्रचित्तसे जपको परम स्वाध्याय बतलाया गया है (८०) उसके पच-पदोंमेसे प्रथमपद 'णमो अरहताण' को यहाँ सप्ताक्षर-महामत्र

सूचित किया है। साथ ही यह भी सूचित किया है कि इस मन्त्र-के सात अक्षरोको मुखके सात छिद्रोमे गुरुके उपदेशानुसार स्थापित करके ध्यान करनेसे दूरसे सुनने, दूरसे देखने, दूरसे सूँघने और दूरसे रसास्वादनकी शक्ति प्राप्त होती है। सात छिद्रोमे दो कानोके, दो आँखोके, दो नाकके नथनोके और एक रसनालयका है। इन छिद्रोमेसे कौनसे छिद्रमें और उसके बहि-र्मुख या अन्तर्मुख किस प्रदेश या भागमे कौनसा अक्षर किस प्रकारसे स्थापित किया जाय, यह गुरु-उपदेश अभी तक प्राप्त नही हुआ। कुछ मुनियोसे पूछने पर भी कोई पता नही चल सका। अत यह सब अभी रहस्यमय है। जिन योगियो अथवा विद्वानोको इस गुप्त रहस्यका पता हो उन्हे उसको लोकहितकी दृष्टिसे प्रकट करनेकी कृपा करनी चाहिये।

जहाँ तक मैंने इस विषयमें विचार किया है, मुझे पद्यमे प्रयुक्त हुए 'इच्छन् दूरश्रवादिकम्' पदो परसे यह आभास होता है कि चूँकि इसमे श्रोत्रेन्द्रियके शक्ति-विकासकी बातको पहले लिया गया है तब 'आदि' शब्दसे पश्चात्आनुपूर्वीके क्रमानुसार नेत्र, नासिका और रसना इन्द्रियके विकासकी बात क्रमश आती है और इसलिए अक्षरोका विन्यास भी इसी क्रमसे होना चाहिये अर्थात् कानोके रन्ध्रोमे प्रथम दो अक्षर, नेत्रके रन्ध्रोमे द्वितीय दो अक्षर, नासिकाके रन्ध्रोमे तृतीय दो अक्षर स्थापित किये जाने चाहिये और उनकी स्थापनाका क्रम वामसे दक्षिणकी ओर रहना चाहिये—वामकर्ण-रन्ध्रमे यदि 'ण' तो दक्षिण कर्णरन्ध्रमे 'मो' होना चाहिये, क्योकि वर्णो की दक्षिण-गति है। शेष सातवें 'ण' अक्षरकी स्थापना रसना इन्द्रियके रन्ध्रमार्गमे की जानी चाहिये, ऐसा प्रतीत होता है। निश्चित रूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि यह कल्पना ठीक हो तो चूँकि इन चारो इन्द्रियोके रन्ध्र बहिर्मुख और अन्तर्मुख

दोनो प्रकारके हैं तब रन्ध्रके किस भागपर और कैसे अक्षरका विन्यास किया जाय, यह समस्या फिर भी हल होनेके लिये रह जाती है। अत इस विषयमे सम्यक्गुरूपदेश प्राप्त होना ही चाहिये।

हृदयेऽष्टदलं पद्मं वर्गैः पूरितमष्टभि.।
दलेषु कर्णिकायां च नाम्नाऽधिष्ठितमर्हताम् ॥१०५
गणभृद्वलयोपेत त्रि.परीतं च मायया।
क्षौणी-मण्डल-मध्यस्थ ध्यायेदभ्यर्चयेच्च तत् ॥१०६

'(ध्याता) हृदयमे पृथ्वीमण्डलके मध्यस्थित आठ दलके कमलको दलोके आठ वर्गोसे—स्वर, क, च, ट, त, प, य, श, वर्गके अक्षरोसे—पूरित, और कर्णिकामे 'अर्हं' नामसे अधिष्ठित, गणधर-वलयसे युक्त और मायासे त्रि परीत—ह्रीं बीजाक्षरको तीन परिक्रमाओसे वेष्टित—रूपमे ध्यावे और उसकी पूजा करे।

व्याख्या—यहाँ सारे मन्त्राक्षरोसे पूरित जिस अष्टदल कमलके हृदयमे ध्यान तथा पूजनका विधान किया गया है उसके विषयमें तीन बातें और जाननेकी हैं—एक तो यह कि वह जिस गणधरवलयसे युक्त है उसका रूप क्या है, दूसरे 'ह्रीं' की तीन परिक्रमाओका अभिप्राय क्या है, और तीसरे उस पृथ्वी-मण्डलका रूप क्या है जिसके मध्यमे वह गणधरवलयादिसहित स्थित हुआ ध्यानका विषय होता है। पृथ्वीमण्डल चतुरस्र, मध्यमें दो वज्रोसे परस्पर विद्ध, मध्यमे अथवा वज्रकोणोपर पूर्वादि चारो महादिशाओमें पृथ्वीबीज 'क्षि' अक्षरसे युक्त, मण्डलके चारो कोणो पर 'ल' अक्षरसे युक्त और पीतवर्ण होता है। जैसा कि विद्यानुशासनके निम्न पद्योसे प्रकट है :—

अन्योऽन्यवज्रविद्धं पीत चतुरस्रमवनि-बीजयुत ।
कोणेषु लान्तयुक्तं भूमण्डलसज्ञक ज्ञेयम् ॥३-१७७॥
मण्डलानां यदा मध्ये नामादिन्यास उच्यते ।
तदा मध्यस्थित बीज महादिक्षु निवेशयेत् ॥३-१८५॥

गणधरवलय नामका एक यत्र है, जिसका नामान्तर गणेश-यन्त्र है, प्रतिष्ठापाठोमें भी जिसका उल्लेख है और जिन-बिम्बादि-प्रतिष्ठाओके समय जिसका पूजन होता है। इसका प्रारम्भ षट्कोणयन्त्र (चक्र) से विहित है, जिसके ऊपर क्रमश तीन वलय रहते है जिन्हे गणधरवलय कहा जाता है। प्रथम वलयमें आठ, दूसरेमे सोलह और तीसरेमें चौबीस कोष्ठक होते हैं, जिनमे ऋद्धिप्राप्त जिनोकें नमस्काररूप क्रमश ये मन्त्रपद रहते हैं —

(प्रथम वलयमें) १ णमो जिणाण, २ णमो ओहिजिणाण, ३ णमो परमोहिजिणाण, ४ णमो सव्वोहिजिणाण, ५ णमो अणतोहिजिणाण, ६ णमो कोट्ठबुद्धीण, ७ णमो बीजबुद्धीण, ८ णमो पदाणुसारीण।

(द्वितीय वलयमे) ९ णमो सभिण्णसोदाराण, १० णमो पत्तेयबुद्धाण, ११ णमो सयबुद्धाण, १२ णमो बोहियबुद्धाण १३ णमो उजुमदीण, १४ णमो विउलमदीण, १५ णमो दस-पुव्विया (व्वी)ण, १६ णमो चउदसपुव्विया (व्वी)ण, १७ णमो अट्ठ गमहाणिमित्तकुसलाण, १८ णमो विउव्वणइड्ढि-पत्ताण, १९ णमो विज्जाहराण, २० णमो चारणाण, २१ णमो पण्णसमणाण, २२ णमो आगासगामीण, २३ णमो आसीविसाण, २४ णमो दिट्ठिविसाण।

(तृतीय वलयमे) २५ णमो उग्गतवाण, २६ णमो दित्तत-वाण, २७ णमो तत्ततवाण, २८ णमो महातवाण, २९ णमो

घोरतवाण, ३० णमो घोरपरक्कमाण, ३१ णमो घोरगुणाण, ३२ णमो घोरगुणबभचारीण, ३३ णमो आमोसहिपत्ताण, ३४ णमो खेलोसहिपत्ताण, ३५ णमो जल्लोसहिपत्ताण, ३६ णमो विट्ठोसहिपत्ताण, ३७ णमो सव्वोसहिपत्ताण, ३८ णमो मणबलीण, ३९ णमो वचिबलीण, ४० णमो कायबलीण, ४१ णमो खीर-सवीण, ४२ णमो सप्पिसवीण, ४३ णमो महुसवीण, ४४ णमो अमियसवीण, ४५ णमो अक्खीणमहाणसाण, ४६ णमो वड्ढमा-णाण, ४७ णमो लोए सव्वसिद्धायदणाण, ४८ णमो भयवदो महदो महावीरवड्ढमाणबुद्धरिसिस्स ।

ये हो तीनो वलय उक्त मन्त्रो-सहित यहाँ **'गणभृद्वलयोपेत'** पदके द्वारा परिगृहीत अथवा विवक्षित जान पडते हैं[१] ।

गणधरवलय-यन्त्रमे तृतीय वलयकी ऊपरी वृत्तरेखा पर पूर्वकी ओर मध्यमे 'ह्रीं' बीजमन्त्र विराजता है, इसकी ईकार मात्रासे वलयको त्रिगुणवेष्टित करके अन्तमे उसे 'क्रौं' बीजसे निरुद्ध किया जाता है, जैसा कि आशाधरप्रतिष्ठापाठके "चतुर्वि-शतिपदान्यालिख्य ह्रीकार-मात्रया त्रिगुण वेष्टयित्वा क्रौकारेण निरुद्ध्य वहि पृथ्वीमडल" इस वाक्यसे प्रकट है। इस प्रकार

---

१. इन ४८ मन्त्रोमे ११, १२, १३, और ४६ न० के मन्त्रोको छोड कर शेष ४४ मन्त्र वे ही है जो षट्खण्डागम-गत वेदनाखण्डके प्रारम्भमे महाकम्मपयडिपाहुडसे उद्धृत हैं और इसलिये गौतम-गणधरकृत कहे जाते हैं। कुछ प्रतिष्ठापाठोमे इनके तथा अन्य चार मन्त्रोंके भी पूर्व मे 'ॐ ह्रीं ह्र्ं' जैसे बीजपद जोडे गये है, परन्तु श्रीआशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धारमे ऐसा नही किया गया—इन्हे मूलरूपमे ही रहने दिया गया है, जो ठीक जान पडता है ।

ह्रीकारके वेष्टन अथवा परिक्रमणका जो रूप बनता है, वही 'त्रि परीत्य च मायया' इस वाक्यका यहाँ अभिप्राय है।

विवक्षित कमलादिके रूपमे ध्यानका यह विषय बहुत ही गहन-गम्भीर तथा अर्थ-गौरवको लिये हुए है और आत्मविकास-मे बहुत बडा सहायक जान पडता है। इसी ध्यानका उल्लेख मुनि श्रीपद्मसिंहने अपने 'ज्ञानसार' ग्रन्थ (वि० १०८६) की निम्न दो गाथाओमे किया है और उसका फल इच्छित कार्यकी तत्क्षण सिद्धि बतलाया है —

> अट्ठदलकमलमज्झे अरुह वंढेइ परमवीयेहिं।
> पत्तेसु तह य वग्गा दलतरे सत्त वण्णा (?) य ॥२६॥
> गणहरवलयेण पुणो मायावीएण घरयलक्कतं।
> ज ज इच्छइ कम्म सिज्झइ त त खणद्धेण ॥२७॥

[1]अकारादि-हकारान्ता मंत्राः परमशक्तय.।
स्वमण्डल-गता ध्येया लोकद्वय-फलप्रदाः ॥१०७॥

'अकारसे लेकर हकार पर्यन्त जो मत्ररूप अक्षर हैं वे अपने अपने मण्डलको प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय हैं और दोनो लोकके फलोको देनेवाले हैं।'

व्याख्या—यहाँ मत्ररूपमे जिन अक्षरोकी सूचना की गई है उनमे वर्णमालाके सभी अक्षर आजाते हैं, क्योकि वर्णमालाके आदिमे 'अ' और अन्तमे 'ह' अक्षर है। सब अक्षरोंके नाम इस प्रकार है—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः, ये १६ अक्षर स्वरवर्ण कहलाते हैं, क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ,

---

१ अकारादि-हकारान्ता वर्णा मन्त्रा प्रकीर्तिता।
सर्वज्ञैरसहाया वा सयुक्ता वा परस्परम् ॥
—विद्यानुशासन २-३ तथा मन्त्रसारसमुच्चय २-५

ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व (अन्तस्थ), श ष स ह (ऊष्माण), ये ३३ अक्षर व्यजन कहे जाते है, और ये क च ट त प य श ऐसे सात वर्गोमे विभाजित है। स्वरोका एक वर्ग मिलाकर वर्गोकी पूरी सख्या आठ होजाती है, जिसको सूचना पिछले एक पद्य (१०५) मे 'वर्गैः पूरितमष्टभिः' इस वाक्यके द्वारा की गई है। इन अक्षरोके अलग अलग मडल है—स्वर तथा ऊष्मवर्ण जलमडलके, कवर्गी तथा अन्तस्थवर्ण अग्निमडलके, च-प-वर्गीवर्ण पृथ्वीमडलके और ट-त-वर्गीवर्ण वायु-मडलके हैं। इन मडलगत अक्षरोकी जाति क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र है तथा रग क्रमश श्वेत, रक्त, पीत और श्याम है[1]। इनमे जलमडल कलश या अर्धचन्द्रके आकार, अग्निमडल त्रिकोण, पृथ्वीमडल चतुरस्र और वायुमडल गोलाकार होता है। इन मूलाक्षरोकी शक्तियोका वर्णन विद्यानु-शासन ग्रन्थमे पाया जाता है। यहाँ इन सब अक्षरोको मत्र कहा गया है सो ठीक है, 'अमत्रमक्षर नास्ति नास्ति मूलमनौषध' इस प्रसिद्ध सिद्धान्तोक्तिके अनुसार जिस प्रकार ऐसी कोई मूल (जड) नही जो औषधिके काममे न आती हो, उसी प्रकार ऐसा कोई अक्षर नही जो मत्रके काममे न आता हो, परन्तु प्रत्येक मूलसे औषधिका काम लेनेवाला जिस प्रकार दुर्लभ है उसी प्रकार प्रत्येक अक्षरकी मत्रके रूपमे योजना करनेवाला भी दुर्लभ है। इसीसे 'योजकस्तत्र दुर्लभ' यह वाक्य भी उक्त सिद्धान्तोक्ति-के साथ कहा गया है।

---

१ स्वरोष्माणो द्विजा श्वेता अम्बुमडलसस्थिता ।
कवन्तस्था भूभुजो रक्तास्तेजोमडलमध्यगा ॥४॥
चु-पू वैश्यान्वयौ पीता पृथ्वीमडलभागिनौ
टु-तू कृष्णत्विषौ शूद्रौ वायुमडलसभवौ ॥५॥
—विद्यानुशासन परि० २

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि आठो वर्गों-के उक्त अलग-अलग अक्षर ही मन्त्र नही है किन्तु उनके परस्पर सयोगसे बने हुए सयुक्ताक्षर भी मन्त्र होते है, जैसे ॐ, ह्रीं, श्री, क्लीं अर्हं आदि। ऐसे मन्त्रोकी सख्या मूलाक्षर मन्त्रोंसे, जो अनादि-सिद्धान्तप्रसिद्ध-वर्णमात्रिकाके रूपमे स्थित है, बहुत अधिक है। अनादिसिद्धान्त-प्रसिद्ध वर्णमातृकाके ध्यानकी प्रेरणा करते हुए उसे नि शेष शब्द-विन्यासकी जन्मभूमि कहा गया है—

ध्यायेदनादिसिद्धान्त-प्रसिद्ध-वर्णमातृकाम् ।
नि शेषशब्दविन्यास-जन्मभूमिं जगन्नुताम् ॥

—ज्ञानार्णव ३८-२ । मन्त्रसारसमुच्चय अ०२

नामध्येयका उपसहार

इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रानर्हन्मंत्र-पुरस्सरान् ।
ध्यायन्ति यदिह स्पष्टं नामध्येयमवैहि तत् ॥१०८॥

'इन 'अर्हं' मन्त्रपुरस्सर मन्त्रोको आदि लेकर और भी मंत्र हैं जिन्हे नामध्येयरूपसे मांत्रिक ध्याते हैं, उन सबको भी स्पष्टरूपसे नाम-ध्येय समझो ।'

व्याख्या—नाम-ध्येयके रूपमे कुछ मन्त्रोका उल्लेख करनेके अनन्तर यहाँ उसी प्रकारके दूसरे मन्त्रोको भी नाम-ध्येयके रूपमे समझनेकी प्रेरणा की गई है। ऐसे बहुतसे मन्त्र है, जो आर्ष (महापुराण), ज्ञानार्णव, योगशास्त्र तथा विद्यानुशासनादि ग्रन्थोंसे जाने जा सकते हैं। द्रव्यसग्रहमें ऐसे कुछ मन्त्रोकी सूचना निम्न गाथा-द्वारा की गई है—

पण तीस सोल छप्पण चदु दुगमेग च जवह झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाण अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥

इसमे पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर-वाले प्रसिद्ध मन्त्रोकी सूचना की गई है, साथ ही परमेष्ठिवाचक दूसरे मन्त्रोको भी गुरु-उपदेशानुसार जपने तथा ध्यानेकी प्रेरणा की गई है। पैंतीस अक्षरोका प्रसिद्ध मन्त्र 'णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' है, जिसे णमोकारमन्त्र, मूलमन्त्र तथा अपराजितमन्त्र भी कहते हैं, सोलह अक्षरका मन्त्र 'अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू' तथा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः; छह अक्षरोके मन्त्र 'अरहंत सिद्ध, अर्हद्भ्यः नमोस्तु, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः'; पंचाक्षर-मन्त्र 'णमो सिद्धाणं, असिआउसा, नमः सिद्धेभ्य'; चतुरक्षर मन्त्र 'अरहंत'; दो अक्षरो के मन्त्र 'सिद्ध, अर्हं' तथा एक अक्षरके मन्त्र 'ॐ, ह्रीं, ह्रं तथा अकारादि' हैं। दूसरे मन्त्रोमे पापभक्षिणी विद्याका मन्त्र सुप्रसिद्ध है और वह इस प्रकार हैं —

ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयकरि श्रुतज्ञानज्वाला-सहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पाप हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा।

स्थापना-ध्येय

जिनेन्द्र-प्रतिबिम्बानि कृत्रिमाण्यकृतानि च।
यथोक्तान्यागमे तानि तथा ध्यायेदशंकितम् ॥१०६॥

'जिनेन्द्रकी जो प्रतिमाएँ कृत्रिम और अकृत्रिम हैं तथा आगममे जिस रूपमे कही गई है उन्हे उसी रूपमे ध्याता निःशंक होकर अपने ध्यानका विषय बनावे—यह स्थापना-ध्येय है।'

व्याख्या—यहाँ जिनेन्द्र-प्रतिबिम्बोको स्थापना-ध्येयमे परि-गणित किया गया है और उसके दो भेदोकी सूचना की गई है—

एक कृत्रिम और दूसरा अकृत्रिम। शिल्पियोके द्वारा रचित कृत्रिम जिन-विम्ब जगह-जगह उपलब्ध है, जिनमे वाहुवली तथा महावीरजी जैसे कुछ प्रतिविम्ब सातिशय कोटिमें स्थित हैं, अकृत्रिम जिनविम्ब कहा-कहा पाये जाते है और उनका क्या कुछ स्वरूप है, यह जैनागममे जिस प्रकार से वर्णित है उसी प्रकारसे उनको अपने ध्यानका विपय वनाना चाहिये। यह सव स्थापना-ध्येयका विवक्षित-रूप है।

द्रव्य-ध्येय

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्।
तथैव सर्वदा सर्वमिति तत्त्वं[1] विचिन्तयेत् ॥११०॥

'जिस प्रकार एक द्रव्य एक समयमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होता है उसी प्रकार सर्वद्रव्य सदा काल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होते रहते हैं, इस तत्त्वको ध्याता चिन्तन करे।'

व्याख्या—द्रव्यध्येयका निरूपण करते हुए, यहाँ सवसे पहले द्रव्य-सामान्यको ध्यानका विपय वनानेकी प्रेरणा की गई है। द्रव्य-का सामान्य स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, वह जैसे एक द्रव्य-का स्वरूप है वैसे ही सव द्रव्योका स्वरूप है और जैसे वह एक समयवर्ती है वैसे ही सर्वसमयवर्ती है अर्थात् प्रत्येक द्रव्यमे उक्त सामान्य स्वरूप प्रतिक्षण रहता है और उसीसे द्रव्यका द्रव्यत्व वना रहता है। इस तत्त्वको ध्यानका विषय वनाना चाहिये।

तत्त्वार्थसूत्रके 'सद्द्रव्यलक्षणम्' तथा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्' इन दो सूत्रोमे जो वात द्रव्यके स्वरूप-विपयमे कही गई है और जो स्वामी समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनमे 'प्रतिक्षणं स्थित्यु-दय-व्ययात्म-तत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम्' इस रूपसे व्यवस्थित

१. सि जु तथ्य।

हुई है उसीको यहाँ दूसरे स्पष्ट शब्दोमे द्रव्य-ध्येयका विषय बनाते हुए निर्दिष्ट किया गया है।

याथात्म्य-तत्त्व-स्वरूप

चेतनोऽचेतनो वाऽर्थो यो यथैव व्यवस्थितः।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥१११॥

'जो चेतन या अचेतन पदार्थ जिस प्रकारसे व्यवस्थित है उसका उसी प्रकारसे जो भाव है उसको 'याथात्म्य' तथा 'तत्त्व' कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'अर्थ' शब्द द्रव्यका वाचक है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वह स्वामी समन्तभद्रके 'सदिहार्थरूपम्' इस वाक्यमे उसका वाचक है। उस द्रव्यके मूल दो भेद हैं—एक चेतन, दूसरा अचेतन। कोई भी द्रव्य, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, जिस रूपसे व्यवस्थित है उस रूपसे ही उसका जो भाव है—परिणाम है—उसको 'याथात्म्य' कहते हैं और उसीका नाम 'तत्त्व' है। जो कि 'तस्य भावस्तत्त्व'[1] इस निरुक्तिको चरितार्थ करता है।

अनादि-निधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥११२॥

'द्रव्य, जो कि अनादिनिधन है—आदि-अन्तसे रहित है—उसमे प्रतिक्षण स्वपर्यायें जलमे जल-कल्लोलोकी तरह उपजती तथा विनशती रहती हैं।'

व्याख्या—यहाँ द्रव्यका 'अनादिनिधन' विशेषण अपनी खास-विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि कोई द्रव्य

१. तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्य कस्य ? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। (सर्वार्थ० १-२)

कभी उत्पन्न नही हुआ और न कभी नाशको प्राप्त होगा। हाँ, द्रव्योमे जो स्वपर्यायें हैं वे जलमें जलकल्लोलोकी तरह प्रतिक्षण ऊपरको उठती तथा नीचेको बैठती रहती हैं, यही द्रव्यका प्रति-क्षण स्वाश्रित उत्पाद-व्यय है, जो उसके लक्षणका अंग बना हुआ है।

'स्वपर्याया' पद भी यहाँ अपनी खास विशेषता रखता है और वह पराश्रित-पर्यायोके व्यवच्छेदका सूचक है। जो पर्यायें परके निमित्तसे अथवा परके मिश्रणसे उत्पन्न होती हैं उनका स्वपर्यायों-मे ग्रहण नही है, क्योकि स्वपर्यायें द्रव्यमे सदा अवस्थित और इसलिए नित्य होती हैं, भले ही उन्हे उदय, अनुदय तथा उदीर्ण-की दृष्टिसे भूत, भावी तथा वर्तमान क्यो न कहा जाय[1]।

यद्विवृत यथापूर्वं[2] यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति।
विवर्तते यदत्राऽद्य तदेवेदमिदं च तत् ॥११३॥

'जो यथापूर्व—पूर्वक्रमानुसार—पहले (गुण-पर्यायोके साथ) **विवर्तित हुआ, जो पीछे विवर्तित होगा और जो इस समय यहाँ विवर्तित हो रहा है वही सब यह (द्रव्य) है और यही उन सब-रूप है।'**

व्याख्या—यहाँ द्रव्यका अपने त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायोके साथ और गुण-पर्यायोका अपने सदा ध्रौव्यरूपसे स्थित रहनेवाले द्रव्यके साथ अभेद प्रदर्शित किया गया है—कहा गया है कि जो वे हैं वही यह द्रव्य है और जो यह है वही वे गुण-पर्यायें हैं।

---

१. अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥ (तत्त्वानु० १९२)

२. ज तथापूर्वं।

सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः ।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ।।११४।।

'द्रव्यमे गुण सहवर्ती—एक साथ युगपत् प्रवृत्त होनेवाले—और पर्यायें क्रमवर्ती—क्रमश· प्रवृत्त होनेवाली—है। द्रव्य इन गुण-पर्यायात्मक है और ये गुण-पर्याय द्रव्यात्मक है—द्रव्यसे गुण-पर्याय जुदे नही और न गुण-पर्यायोसे द्रव्य कोई जुदी वस्तु है।'

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१००) मे 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इस वाक्यके द्वारा द्रव्य उसे बतलाया है जो गुणो तथा पर्यायोको आत्मसात् किये हुए हो। इस पद्यमे गुणो तथा पर्यायोका स्वरूप बतलानेके साथ-साथ इस बातको स्पष्ट किया गया है कि कैसे द्रव्य गुण-पर्यायवान् है। जो द्रव्यमे सदा सहभावी हैं और एकसाथ प्रवृत्त होते हैं उन्हे गुण कहते है, जो द्रव्यमे क्रमभावी है और क्रमश प्रवृत्ति करते हैं उन्हे पर्याय कहते है। ये गुण और पर्याय द्रव्यात्मक है और द्रव्य इन गुण-पर्यायात्मक है—एकसे दूसरा जुदा नही, इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् कहा गया है।

एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकम्।
प्रतिक्षणमनाद्यन्त सर्वं ध्येयं यथास्थितम् ।।११५।।

'इस प्रकार यह द्रव्य नामकी वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्यय रूप है तथा अनादि-निधन है वह सब यथास्थितरूपमे ध्येय है—ध्यानका विषय है।'

व्याख्या—यहाँ, द्रव्य-ध्येयके कथनका उपसंहार करते हुए, यह सार निकाला है कि प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययरूप है, आदि-अन्तसे रहित है और जिस रूपमे अवस्थित है उसी रूपमे ध्यानका विषय है—अन्य रूपमें नही।

भाव-ध्येय

अर्थ-व्यंजन-पर्याया: मूर्ताऽमूर्ता गुणाश्च ये ।
यत्र द्रव्ये यथाऽवस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत्[1] ॥११६॥

'जो अर्थ तथा व्यजनपर्यायें और मूर्तिक तथा अमूर्तिक गुण जिस द्रव्यमें जैसे अवस्थित है उनको वहाँ उसी रूपमे ध्याता चिन्तन करे—यह भावध्येयका स्वरूप है।'

व्याख्या—पिछले जिस पद्य (१००) मे गुणपर्यायवान्को द्रव्यध्येय बतलाया है उसीमे मुख्यत गुण तथा पर्यायके ध्यानको भावध्येय सूचित किया है। यहाँ भावध्येयको स्पष्ट करते हुए पर्यायोके दो भेद किये हैं—एक अर्थपर्याय और दूसरी व्यजनपर्याय ये पर्यायें और गुण, जो सामान्य तथा विशेषको दृष्टिसे अनेक प्रकारके होते है, जिस द्रव्यमे जहाँ जिस प्रकारसे अवस्थित हो उस द्रव्यमे वहाँ उसी प्रकारसे उनका जो ध्यान है वह सब भावध्येय है।

अर्थपर्यायें छहो द्रव्योमे होती है, जब कि व्यजनपर्यायें केवल जीव तथा पुद्गल द्रव्योसे ही सम्बन्ध रखती है[2]। ये व्यजन-पर्यायें स्थूल, वाग्गम्य, प्रतिक्षण विनाश-रहित तथा कालान्तर-स्थायी होती है, जब कि अर्थपर्याय सब सूक्ष्म तथा प्रतिक्षणक्षयी होती है।[3]

द्रव्यके छह भेद और उनमें ध्येयतम आत्मा

पुरुष. पुद्गल. कालो धर्माऽधर्मौ तथाऽम्बरम् ।
षड्विधं द्रव्यमाख्यात[4] तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥११७॥

---

१. मे स्मरे ।
२. व्यजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीव-पुद्गलौ ॥ (आलापपद्धति)
३. मूर्तो व्यजनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वर स्थिर. ।
   सूक्ष्म प्रतिक्षणध्वसी पर्यायश्चार्थगोचर ॥ ज्ञानार्णव ६-४५
४. मु मे माम्नात ।

'पुरुष (जीवात्मा), पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश ऐसे छह भेदरूप द्रव्य कहा गया है। उन द्रव्य-भेदोमे सबसे अधिक ध्यानके योग्य पुरुषरूप आत्मा है।'

व्याख्या—द्रव्यके जीव, पुद्गल, धर्म, अधम, आकाश और काल ऐसे मूल छह भेद जैनागममे प्रसिद्ध है। यहाँ जीवद्रव्यको 'पुरुष' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया गया है। इसके दो कारण जान पडते है। एक तो जीव और उसका पर्याय नाम आत्मा दोनो शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे पुल्लिग है। दूसरे आगे पुरुषविशेषो-पंचपरमेष्ठियोको मुख्यत भिन्न-ध्यानका विषय बनाना है। अत. प्रकृतमे सहजबोधकी दृष्टिसे जीवके स्थान पर पुरुषशब्दका प्रयोग किया गया है। अगले पद्यमे इसी पुरुषको 'आत्मा' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया ही है।

इन छहो द्रव्योमे जीवद्रव्य चेतनामय चेतन और शेष चेतना-रहित अचेतन है, पुद्गलद्रव्य मूर्तिक और शेष अमूर्तिक है, काल-द्रव्य प्रदेश-प्रचयसे रहित होनेके कारण अकाय है और शेष प्रदेश-प्रचयसे युक्त होनेके कारण अस्तिकाय कहे जाते है। परमाणुरूप पुद्गलद्रव्य यद्यपि एकप्रदेशी है, परन्तु नानास्कन्धोका कारण तथा उनसे मिलकर स्कन्धरूप हो जानेके कारण उपचारसे 'सकाय' कहा जाता है[1]। जीव और पुद्गल सक्रिय है, शेष सब निष्क्रिय हैं, ये ही दोनो द्रव्य कथचित् विभावरूप भी परिणमते है, शेष सब सदा स्वाभाविक परिणमनको ही लिये रहते है। धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य सख्यामे एक-एक ही है, कालद्रव्य असख्यात हैं, जीवद्रव्य अनन्त हैं और पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त है। जीव, पुद्गल दोनो द्रव्योमे सकोच-विस्तार सभव है, शेष द्रव्योमे वह

---

१. एय-पदेसो वि अणू णाणा-खधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणति सव्वण्हू ॥ (द्रव्यस० २६)

नही होता अथवा उसकी सभावना नही। आकाश अखण्ड एक-द्रव्य होते हुए भी उसके दो भेद कहे जाते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाशके जिस बहुमध्यप्रदेशमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पॉच द्रव्य अवलोकित होते है उसे 'लोकाकाश' और शेषको 'अलोकाकाश' कहते है। धर्म और अधर्म दो द्रव्य सदा सारे लोकाकाशको व्याप्त कर स्थिर रहते है, जब कि दूसरे द्रव्योकी स्थिति वैसी नही। कालाणुरूप काल-द्रव्य तो लोकाकाशके एक-एक प्रदेशमे स्थिर है और इसलिये लोकाकाशके जितने प्रदेश है उतने ही कालद्रव्य है। एक जीवकी अपेक्षा जीव लोकके एक असख्यातवें भागसे लेकर दो आदि असख्येय भागोमे व्याप्त होता है और लोकपूर्ण-समुद्घातके समय सारे लोकाकाशको व्याप्त कर तिष्ठता है। नाना जीवोकी अपेक्षा सारा लोकाकाश जीवोसे भरा है। पुद्गल द्रव्यके अणु और स्कन्ध दो भेद हैं। अणुका अवगाहन-क्षेत्र आकाशका एक प्रदेश है, द्व्यणुकादिरूप स्कन्धोका अवगाह्य-क्षेत्र लोकाकाशके द्विप्रदेशादिकोमे है।

द्रव्यका लक्षण सत् है और सत् उसे कहते है जो प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक हो अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त हो। जीवद्रव्यका लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान-दर्शनके भेदसे दो प्रकार-का है और इसलिये जीवद्रव्यको 'ज्ञान-दर्शनलक्षण' भी कहा जाता है। जीवोंके ससारी और मुक्त ऐसे दो भेद हैं, ससारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो भेदोमे विभक्त हैं, जिनमे पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पतिकायके एकेन्द्रियजीव स्थावर कहलाते और शेष द्वीन्द्रियादि जीव 'त्रस' कहे जाते है। त्रसजीवोका निवासस्थान लोकके मध्यवर्तिनी त्रसनाडी है और स्थावरजीव त्रसनाडो और उससे बाहर सारे ही लोकमे निवास करते है।

जो स्पर्श-रस-गन्ध वर्ण-गुणवाले होते है उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं; स्पर्शके कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे आठ, रसके तिक्त (चरपरा), कटुक, अम्ल, मधुर और कषायला ऐसे पाँच, गंधके सुगन्ध, दुर्गन्ध ऐसे दो, और वर्णके नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ऐसे पाँच मूलभेद हैं। शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योतवालोको भी पुद्गल कहा जाता है, अथवा यो कहिये कि पुद्गलके इन दस विशेषो अथवा पर्यायोमेसे जिस किसीसे भी कोई विशिष्ट अथवा युक्त है वह पुद्गल है।

गतिरूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलोंको जो उनके गमनमे उस प्रकार सहायक–उपकारक होता है जिस प्रकार जलमछलियोके चलनेमे, परन्तु गमन न करनेवालोको उनके गमनमे प्रेरक नही है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं[1]। अधर्मद्रव्य[2] उसका नाम है जो स्थितिरूप परिणत हुए जीवो तथा पुद्गलोको उनके ठहरनेमे उस प्रकार सहकारी-उपकारी होता है जिस प्रकार पथिकोको ठहरनेमे वृक्षादिककी छाया, परन्तु चलते हुओको ठहरनेको प्रेरणा नही करता और न उन्हे बलपूर्वक ठहराता है। जो जीवादिक द्रव्योको अपनेमे अवगाह–अवकाश-दान देनेकी योग्यता रखता है उसे आकाशद्रव्य[3] कहते हैं, जिसके लोक-अलोकके विभागसे दो भेद ऊपर बतलाये जा चुके हैं। जो द्रव्योके परिवर्तनरूप है—

---

१. गइ-परिणयाण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमण-सहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१७॥ (द्रव्यसंग्रह)

२ ठाण-जु दाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाण-सहयारी।
छाया जह पहियाण गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥ (द्रव्यसंग्रह)

३. अवगास-दाण-जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ॥१९॥ (द्रव्यस०)

उनके परिवर्तनमे सहकारी है—उसे कालद्रव्य[1] कहते हैं। काल-द्रव्यके भी दो भेद है—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहार-काल। लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमे जो अनादि-निधन एक-एक कालाणु स्थित है और जिसका वर्तना लक्षण है-जो जीव-पुद्गलादि सभी द्रव्योको उनके प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्रूप वर्तनमे सहायक अथवा स्वसत्तानुभूतिमे कारण है—उसे निश्चय-कालद्रव्य कहते हैं। यह कालद्रव्य असख्य है और रत्नोकी राशिकी तरह माना गया है। व्यवहारकालद्रव्य उसका नाम है जो समय (क्षण), पल, घडी, घटा, मुहूर्त, पहर, दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदिके भेदको लिये हुए आदि-अन्त-सहित है। निश्चयकाल द्रव्यके पर्यायरूप है और जिसके परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये चार लक्षण हैं। द्रव्यमे अपनी जातिको न छोडते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक स्थूल परिवर्तन—पर्यायसे पर्यायान्तर-होता है उसे 'परिणाम' कहते है। बाह्य तथा आभ्य-न्तर कारणोसे द्रव्यमे जो परिस्पन्दात्मक परिणाम होता है उसका नाम 'क्रिया' है। कालकृत बडापनको 'परत्व' और छोटापनको 'अपरत्व' कहते है।

इस प्रकार छहो द्रव्योका यह सक्षिप्त-सार' है, विशेष तथा विस्तृत परिचयके लिये तत्त्वार्थसूत्रकी तत्त्वार्थराजवार्तिकादि टीकाओ तथा दूसरे आगमग्रन्थोको देखना चाहिये।

इन सब द्रव्योमे सबसे अधिक ध्यानके योग्य आत्मद्रव्य है।

आत्मद्रव्य सर्वाधिक ध्येय क्यो ?

सति हि ज्ञातरि ज्ञेय ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृत. ॥११८॥

---

१ दव्व-परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ, ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥ (द्रव्यस०)

'ज्ञाताके होने पर ही ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है। इसलिये ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम—सर्वाधिक ध्येय है।'

व्याख्या--आत्मा सबसे अधिक ध्येय क्यो है ? इस प्रश्नके उत्तरके लिये ही प्रस्तुत पद्यकी सृष्टि हुई जान पडती है । उत्तर बहुत साफ दिया गया है, जिसका स्पष्ट आशय यह है कि जब कोई भी ज्ञेय-वस्तु ज्ञाताके विना ध्येयताको प्राप्त नही होती तब यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही सबसे अधिक महत्त्वका ध्येय ठहरता है।

आत्मद्रव्यके ध्यानमे पचपरमेष्ठिके ध्यानकी प्रधानता।

तत्राऽपि तत्त्वतः पच ध्यातव्या परमेष्ठिनः ।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्ध स्वामी तु[1] निष्कलः ॥११९॥

'आत्माके ध्यानोमें भी वस्तुत. (व्यवहार ध्यानकी दृष्टिसे) पंच परमेष्ठी ध्यान किये जानेके योग्य है, जिसमे चार—अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सकल हैं—शरीर सहित हैं—और सिद्ध-परमेष्ठी निष्कल—शरीर-रहित—है तथा स्वामी हैं।'

व्याख्या—पिछले दो पद्योमे जिस पुरुषात्माको ध्येयतम बतलाया गया है उसके भेदोमे यहाँ मुख्यतः पच परमेष्ठियोंके ध्यानकी प्रेरणा की गई है, जिनमे चार सशरीर और सिद्ध अशरीर है। सिद्धका 'स्वामी' विशेषण अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातका स्पष्ट सूचक है कि वस्तुत सिद्धात्मा ही स्वात्मसम्पत्तिका पूर्णत. स्वामी होता है—दूसरा कोई नही।

सिद्धात्मक-ध्येयका स्वरूप

अनन्त-दर्शन-ज्ञान-सम्यक्त्वादि-गुणात्मकम् ।
स्वोपात्ताऽनन्तर-त्यक्त-शरीराऽऽकार-धारिणम्[2] ॥१२०॥

---

१ मु मे स्वामीति। सि जु सिद्धस्वामी तु।

२ मु धारिणः।

साकारं च निराकारममूर्तमजराऽमरम् ।
जिन-बिम्बमिव स्वच्छ-स्फटिक-प्रतिबिम्बितम् ॥१२१॥
लोकाऽग्र-शिखराऽऽरूढमुदूढ-सुखसम्पदम् ।
सिद्धात्मान निराबाधं ध्यायेन्निर्धूत-कल्मषम् ॥१२२॥

'जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और सम्यक्त्वादि गुणमय है, स्वगृहीत और पश्चात् परित्यक्त ऐसे (चरम) शरीरके आकार-का धारक है, साकार और निराकार दोनो रूप है, अमूर्त है, अजर है, अमर है, स्वच्छ-स्फटिकमे प्रतिबिम्बित जिनबिम्बके समान है, लोकके अग्रशिखर पर आरूढ है, सुख सम्पदासे परिपूर्ण है, बाधाओसे रहित और कर्मकलंकसे विमुक्त है उस सिद्धात्मा-को ध्याता ध्यावे—अपने ध्यानका विषय बनावे ।'

व्याख्या—यहाँ सिद्धात्माके स्वरूपका निरूपण करते हुए उसके ध्यानकी प्रेरणा की गई है अथवा यो कहिये कि सिद्धात्माको निर्दिष्ट-रूपमे ध्यानेकी व्यवस्था की गई है । इस स्वरूप-निर्देशमे 'आदि' शब्दके द्वारा सिद्धोके प्रसिद्ध अष्टगुणोमेसे, जो आठ कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत होते हैं, शेष पाँच गुणो—अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु और अव्याबाधकी सूचना की गई है । सिद्धोको साकार और निराकार दोनो रूपमे जो प्रतिपादित किया है उसका आशय इतना ही है कि जिस पर्यायसे उन्हे मुक्तिकी प्राप्ति हुई है उसमे जो शरीर उन्हें प्राप्त था और जिसे त्याग करके वे मुक्तिको प्राप्त हुए है उस शरीराकार आत्माके प्रदेश बने रहते हैं इसलिये वे साकार हैं; परन्तु वह आकार त्यक्तशरीरसदृश पौद्गलिक नही होता और न इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है इसलिये निराकार है । इन दोनो बातोको स्पष्ट करनेके लिये जिनबिम्ब

और निर्मल स्फटिकका जो उदाहरण दिया है वह बड़ा ही सुन्दर तथा हृदयग्राही है—निर्मल स्फटिकमे प्रतिबिम्बित हुए जिन-बिम्बका आकार तो है परन्तु उसका पौद्गलिक शरीर नही है। 'लोकाग्रशिखरारूढ' विशेषणमे 'लोकाग्रशिखर' लोकके मध्यमे स्थित त्रसनाड़ीका वह सर्वोपरि भाग है जिसके नीचे अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला रहती है। कर्म-बन्धनसे छूटते ही सिद्धात्मा ऊर्ध्व-गमन-स्वभावसे एक क्षणभरमे वहाँ पहुँच जाता है। सिद्धात्मा-के इस ध्यानमे उसे प्राय: वही स्थित ध्याया जाता है।

अर्हदात्मक-ध्येयका स्वरूप

तथाऽऽद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतम्[1] ।
प्रक्षीण-घातिकर्माणं प्राप्ताऽनन्त-चतुष्टयम् ॥१२३॥
दूरमुत्सृज्य भू-भागं नभस्तलमधिष्ठितम् ।
परमौदारिक-स्वाऽङ्ग-प्रभा-भर्त्सित-भास्करम् ॥१२४॥
चतुस्त्रिशन्महाऽऽश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितम् ।
मुनि-तिर्यङ्-नर-स्वर्गि-सभाभि. सन्निषेवितम् ॥१२५॥
जन्माऽभिषेक-प्रमुख-प्राप्त-पूजाऽतिशायिनम्[2] ।
केवलज्ञान-निर्णीत-विश्वतत्त्वोपदेशिनम् ॥१२६॥
प्रशस्त-लक्षणाकीर्ण[3]-सम्पूर्णोदग्र-विग्रहम् ।
आकाश-स्फटिकान्तस्थ-ज्वलज्ज्वालानलोज्ज्वलम् ॥१२७
तेजसामुत्तम तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ।
परमात्मानमर्हन्त ध्यायेन्निश्रेयसाऽऽप्तये ॥१२८॥

१. मा मधिदेवता । २. मा ज ऽतिशायन । ३ मु नमा. . गाकीर

'तथा जो आप्तोंका प्रमुख आप्त है, देवोका अधिदेवता है, घातिकर्मोंको अत्यन्त क्षीण किये हुए है, अनन्त-चतुष्टयको प्राप्त है, भूतलको दूर छोडकर नभस्तलमे अधिष्ठित है, अपने परम औदारिक शरीरकी प्रभासे भास्करको तिरस्कृत कर रहा है, चौंतीस महान् आश्चर्यो-अतिशयो और (आठ) प्रातिहार्योंसे सुशोभित है, मुनियो-तिर्यंचो-मनुष्यों और स्वर्गादिके देवोकी सभाओंसे भले प्रकार सेवित है, जन्माभिषेक आदिके अवसरो पर सातिशय पूजाको प्राप्त हुआ है, केवलज्ञान-द्वारा निर्णीत सकल-तत्त्वोका उपदेशक है, प्रशस्त-लक्षणोसे परिपूर्ण उच्च शरीरका धारक है, आकाश-स्फटिकके अन्तमे स्थित जाज्वल्यमान ज्वालावाली अग्निके समान उज्ज्वल है, तेजोमें उत्तम तेज और ज्योतियोंमें उत्तम ज्योति है, उस अर्हन्त परमात्माको ध्याता नि.श्रेयसको—जन्म-जरा-मरणादिके दु खोसे रहित शुद्ध सुखस्वरूप निर्वाणको[1]—प्राप्तिके लिये ध्यावे—अपने ध्यानमे उतारे।'

व्याख्या—इन पद्योमे अर्हत्परमात्माको जिस रूपमे ध्याना चाहिये उसकी व्यवस्था दी गई है और उसका उद्देश्य नि श्रेयस (मोक्ष)-सुखकी प्राप्ति बतलाया है । अर्थात् मोक्ष-सुखकी साक्षात् प्राप्ति तथा प्राप्तिकी योग्यता सम्पादन करनेके लक्ष्यको लेकर यह ध्यान किया जाना चाहिये। इस ध्यानकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे अर्हत्परमात्माको भूतलसे दूर आकाश-मे स्थित ध्यान किया जाता है और इस रूपमे देखा जाता है कि उनके परम औदारिकशरीरकी प्रभाके आगे सूर्यकी ज्योति फीकी पड रही है। वे ज्योतियोमे उत्तमज्योति और तेजोमें उत्तमतेज-युक्त हैं, चौंतीस अतिशयो (महान् आश्चर्यो) तथा आठ प्रातिहार्यो से विभूषित हैं और मुनियो, देवो, मानवो तथा

तिर्यंचोकी सभाओंसे निषेवित हुए उन्हे उन सब तत्त्वोका उपदेश देरहे हैं जो केवलज्ञान-द्वारा निर्णीत हुए हैं। उनका शरीर प्रशस्त लक्षणोसे पूर्ण पूरी ऊँचाईको लिये हुए, अतीव उज्वल है। जन्माभिषेकादि कल्याणकोके अवसर पर वे जिस पूजातिशय-को प्राप्त हुए हैं उसे भी ध्यानमे लिया जाता है। सक्षेपमे जिन जिन विशेषणोका उनके लिये प्रयोग हुआ है उन उनरूपसे उन्हे ध्यानमे देखा जाता है।

यहाँ अतिशयो तथा प्रातिहार्यो के नामादिकका निर्देश न करके एकका सख्या-सहित और दूसरेका विना सख्याके ही वहु-वचनमे उल्लेख करके प्रकारान्तरसे उनके नाम तथा स्वरूपको अनुभवमे लेनेकी प्रेरणा की गई है। ये अतिशय और प्रातिहार्य सुप्रसिद्ध हैं, अनेकाऽनेक जैनग्रन्थोमे इनके नामादिकका उल्लेख पाया जाता है। अत ये अन्यत्रसे सहज ही जाने जासकते हैं।

अर्हन्तदेवके ध्यानका फल

[1]वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षिभि.।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलद. शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥१२६॥

'मुमुक्षुओके द्वारा ध्यान किया गया यह अर्हन्तदेव वीतराग होते हुए भी उन्हे स्वर्ग तथा अपवर्ग–मोक्षरूप फलका देनेवाला है। उसकी वैसी शक्ति सुनिश्चित है।'

व्याख्या—जिस अर्हन्त परमात्माके ध्येयरूपका वर्णन इससे पूर्व पद्योमे किया गया है उसके ध्यानका फल इस पद्यमे बतलाया है और वह फल है स्वर्ग तथा मोक्षको प्राप्ति। इस फलका दाता उस अर्हन्तदेवको ही लिखा है जो कि वीतराग है। वीतरागके

१. वीतरागोऽप्यसौ ध्येयो भव्याना भवच्छिदे।
विच्छिन्नबन्धनस्याऽस्य तादृग्नैसर्गिको गुण ॥(आर्ष २१-१२९)

रागमात्रका अभाव होजानेसे किसीको कुछ देने-दिलानेकी इच्छा-दिक नही होती तब वह स्वर्ग-मोक्ष-फलका दाता कैसे ? यह प्रश्न पैदा होता है। इस प्रश्नके उत्तर-रूपमे ही **'शक्तिस्तस्य हि तादृशी'** इस वाक्यकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। और इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि भले ही वीतरागके इच्छाका अभाव होजानेसे देने-दिलानेका कोई प्रयत्न न भी बनता हो, फिर भी उसमे ऐसी शक्ति है जिसके निमित्तसे विना इच्छाके ही उस फल-की प्राप्ति स्वत होजाती है। वह शक्ति है कर्म-कलकके विनाश-द्वारा स्वदोषोकी शान्ति होजानेसे आत्मामे शान्तिकी पूर्णप्रतिष्ठा रूप। जिसकी आत्मामे शान्तिकी पूर्णप्रतिष्ठा होजाती है वह विना इच्छा तथा विना किसी प्रयत्नके ही शरणागतको शान्ति-का विधाता होता है[1], उसी प्रकार जिस प्रकार कि शीतप्रधान-प्रदेश, जहाँ हिमपात होरहा हो, विना इच्छादिकके ही अपने शरणागतको शीतलता प्रदान करता है। अर्हत्परमात्माने घातिया-कर्मोंका नाश कर अपने भव-बन्धनोका छेदन किया है, इसलिये उनके ध्यानसे दूसरोके भव-बन्धनोका सहज ही छेदन होता है; जैसा कि कल्याणमन्दिरके निम्नवाक्यसे जाना जाता है :—

> **हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति**
> **जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ।**
> **सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-**
> **मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥**

प्रस्तुत ग्रन्थमे ही आगे बतलाया है कि अर्हत्सिद्धके ध्यानसे चरमशरीरीको तो मुक्तिकी प्राप्ति होती है, जो चरमशरीरी नही उसको ध्यानके पुण्य-प्रतापसे भोगोकी प्राप्ति होती है। इससे

---

१. स्वदोष शान्त्या विहितात्मशान्तिः—शान्तेर्विधाता शरण गताना। स्वयभूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

स्पष्ट है कि अर्हत्सिद्धके ध्यानका स्वाभाविक फल तो मोक्ष ही है, उसीके लिए वह ध्यान किया जाता है, जैसाकि **'नि श्रेयसाप्तये'** (१२८) इस पदके द्वारा व्यक्त किया गया है। परन्तु उसकी प्राप्तिमे दूसरा कारण जो चरमशरीर है वह यदि नही है तो फिर स्वर्गोंमे जाना होता है, जहाँ अनुपम भोगोकी प्राप्ति होती है; और इस तरह दोनो फल बनते हैं।

आचार्य-उपाध्याय-साधु-ध्येयका स्वरूप

सम्यग्ज्ञानादि-सम्पन्नाः प्राप्तसप्तमहर्द्धयः[1] ।
[2]यथोक्त-लक्षणा ध्येया सूर्युपाध्याय-साधव. ॥१३०॥

'जो सम्यग्ज्ञानादिसे सम्पन्न है—सम्यग्ज्ञान, सम्यक्श्रद्धान और सम्यक्चारित्र जैसे सद्गुणोसे समृद्ध है—, **जिन्हें सात महा-ऋद्धियाँ–लब्धियाँ** (समस्त अथवा व्यस्त-रूपमे) **प्राप्त हुई हैं और जो यथोक्त**—आगमोक्त—**लक्षणके धारक है, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यानके योग्य हैं।'**

व्याख्या—सिद्ध और अर्हन्त इन दो परमेष्ठियोके ध्येयरूपका निरूपण करनेके अनन्तर अब इस पद्यमें शेष आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन परमेष्ठियोकी ध्येयरूपताका निर्देश किया गया है। इस निर्देशमे 'सम्यग्ज्ञानादि सम्पन्ना' यह विशेषणपद तो सबके लिये सामान्य है—आचार्यादि तीनो परमेष्ठी सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भले प्रकार युक्त होने ही चाहिये। **'यथ क्तलक्षणा'** पद प्रत्येकके अलग-अलग आगमोक्त-लक्षणो-गुणोका सूचक है, जैसे आचार्यके ३६, उपाध्यायके २५

---

१ वुद्धि तवो वि य लद्धी विकुव्वणलद्धी तहेव ओसहिया ।
रस-वल-अक्खीणा वि य लद्धीओ सत्त पण्णत्ता। (वसु० श्रा० ५१२)

२. मु तथोक्तलक्षणा ।

और साधुके २८ मूलगुण। 'प्राप्तसप्तमहर्द्धय' विशेषण सात महाऋद्धियो (लब्धियो) की प्राप्तिका सूचक है, जिनके नाम हैं—१ बुद्धि, २ तप, ३ विक्रिया, ४ औषधि, ५ रस, ६ बल, ७ अक्षीण, और जो सब अनेक भेदोमें विभक्त हैं। ये सब ऋद्धियाँ, जिनका भेद-प्रभेदो-सहित स्वरूप आगममें वर्णित है, सभी आचार्यो, उपाध्यायो तथा साधुओको प्राप्त नही होती—किसीको कोई ऋद्धि प्राप्त होती है तो किसीको दूसरी, किसीको एक ऋद्धि प्राप्त होती है तो किसीको अनेक और किसीको एक भी ऋद्धिकी प्राप्ति नहीं होती है। फिर भी चूँकि यहाँ आचार्यों आदिमेसे किसी व्यक्ति-विशेषका ध्यान विवक्षित नही है, आचार्यादि किसी भी पद-विशिष्टको उसके ऊँचेसे ऊँचे आदर्श-रूपमे, ग्रहणकी विवक्षा है, इसलिये पदविशिष्टके ध्यानके समय सभी ऋद्धियोका सचिन्तन उसके साथमे आजाता है।

प्रकारान्तरसे ध्येयके द्रव्य-भावरूप दो ही भेद

एवं नामादि-भेदेन ध्येयमुक्त चतुर्विधम्।
अथवा द्रव्य-भावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितम्॥१३१॥

'इस प्रकार नाम आदिके भेदसे ध्येय चार प्रकारका कहा गया है। अथवा द्रव्य और भावके भेदसे वह दो प्रकारका ही अवस्थित है।'

व्याख्या—यहाँ नामादि चतुर्विध ध्येयके कथनकी समाप्तिको सूचित करते हुए प्रकारान्तरसे ध्येयको द्रव्य और भाव ऐसे दो रूपमे ही अवस्थित बतलाया है। अगले पद्योमे इन दो भेदोकी दृष्टिसे ध्यानके विषयभूत ध्येयका निरूपण किया गया है।

द्रव्यध्येय और भाव-ध्येयका स्वरूप

द्रव्य-ध्येय बहिर्वस्तु चेतनाऽचेतनात्मकम् ।
भाव-ध्येयं पुनर्ध्येय[1]-सन्निभ-ध्यानपर्ययः ॥१३२॥

'चेतन-अचेतनरूप जो बाह्य वस्तु है वह सब द्रव्य ध्येयके रूपमें अवस्थित है और जो ध्येयके सदृश ध्यानका पर्याय है—ध्यानारूढ आत्माका ध्येय-सदृश परिणमन है—वह भाव-ध्येय-के रूपमे परिगृहीत है।'

व्याख्या—इस द्विविध-ध्येय-प्ररूपणमे स्वात्मासे भिन्न जितने भी बाह्य पदार्थ हैं, चाहे वे चेतन हो या अचेतन, सब द्रव्यध्येय-की कोटिमे स्थित है, और भावध्येयमे उन सब ध्यान-पर्यायोका ग्रहण है जिनमे ध्याता ध्येयसदृश परिणमन करता है—ध्येय-रूप धारण करके तद्वत् क्रिया करनेमे समर्थ होता है।

द्रव्यध्येयके स्वरूपका स्पष्टीकरण

ध्याने हि बिभ्रति[2] स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटम् ।
आलेखितमिवाऽऽभाति ध्येयस्याऽसन्निधावपि ॥१३३॥

'ध्यानमें स्थिरताके परिपुष्ट हो जाने पर ध्येयका स्वरूप, ध्येयके सनिकट न होते हुए भी, स्पष्टरूपसे आलेखित-जैसा प्रतिभासित होता है—ऐसा मालूम होता है कि वह ध्याता आत्मामे अंकित है अथवा चित्रित हो रहा है।'

व्याख्या—यहाँ, द्रव्यध्येयके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए, यह बतलाया है कि जब द्रव्यध्येयका रूप ध्यानमे पूरी तरह स्थिरता-को प्राप्त होता है तब वह ध्येयके वहाँ मौजूद न होते हुए भी आत्मामे उत्कीर्ण-कीलित अथवा प्रतिबिम्बित-जैसा प्रतीत होता है।

---

१. मु पुनर्ध्येय । २. मु बिभ्रते ।

[1]ध्यातुः पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।
[2]ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन[3] ॥१३४॥

'ध्येयपदार्थ चूँकि ध्याताके शरीरमें स्थितरूपसे ही ध्यान-का विषय किया जाता है इसलिये कुछ आचार्य उसे 'पिण्डस्थ-ध्येय' कहते हैं।'

व्याख्या—इस द्रव्यध्येयको कुछ आचार्योंके मतानुसार-'पिण्डस्थध्येय' भी कहते हैं और उसका कारण यह है कि वह द्रव्यध्येय ध्याताके शरीरसे बाहर नही किन्तु उसके शरीरमे स्थित-जैसा ध्यानका विषय बनाया जाता है। किन पूर्ववर्ती आचार्योंका ऐसा युक्तिपुरस्सर मत है यह बात अनुसधान-द्वारा स्पष्ट किये जानेके योग्य है। हाँ, श्रीपद्मसिंह मुनिने अपने 'ज्ञानसार' ग्रन्थ (स० १०८६) मे ऐसे ध्यानके विषयभूत ध्येयको पिण्डस्थध्येयके रूपमे उल्लेखित ज़रूर किया है, जैसा कि उसकी निम्न दो गाथाओसे प्रकट है —

णिय-णाहि-कमलमज्झे परिट्ठिय विप्फुरत-रवितेय ।
झाएह अरुहरूवं झाणं त मुणह पिण्डत्थ ॥१९॥
झायह णिय-कुरमज्झे भालयलेहिय-कठ-देसम्मि ।
जिणरूव रवितेय पिंडत्थ मुणह झाणमिण ॥२०॥

ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थोमे पिण्डस्थध्यानको पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसी पाच धारणाओके रूपमे ही वर्णित किया है।[4]

---

१. मु धातुपिण्डे स्थितेश्चैव । २. मु ध्येयपिण्डस्थ । ३. मु केवल ।
४. "पिण्डस्थ पच विज्ञेया धारणा वीर-वर्णिता ।
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना चाऽथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥" (ज्ञाना० ३७-२-३)
"पार्थिवी स्यादाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।
तत्र(त्त्व)भू पचमी चेति पिण्डस्थे पच धारणा ॥" (योगशा० ७-९)

भावध्येयका स्पष्टीकरण

यदा ध्यान-बलाद्ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहम् ।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् सम्पद्यते स्वयम् ॥१३५॥
तदा तथाविध-ध्यान-संवित्ति-ध्वस्त-कल्पनः ।
[1]स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः ॥१३६॥

'जिस समय ध्याता ध्यानके बलसे अपने शरीरको शून्य बनाकर ध्येयस्वरूपमे आविष्ट-प्रविष्ट होजानेसे अपनेको तत्सदृश बना लेता है उस समय उस प्रकारकी ध्यान-संवित्तिसे भेद-विकल्पको नष्ट करता हुआ वह ही परमात्मा, गरुड़ अथवा काम देव हो जाता है—परमात्मस्वरूपको ध्यानाविष्ट करनेसे परमात्मा, गरुडरूपको ध्यानाविष्ट करनेसे गरुड और कामदेवके स्वरूपको ध्यानाविष्ट करनेसे कामदेव बन जाता है।

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१३२)मे भाव-ध्येयका जो स्वरूप ध्यानारूढ आत्माका ध्येय-सदृश परिणमन बतलाया गया है उसीके स्पष्टीकरणको लिये हुए ये दोनो पद्य हैं। इनमे यह दर्शाया है कि जिस समय ध्याता ध्यानाऽभ्यासके सामर्थ्यसे अपने शरीरको शून्य (सुन्न) बना लेता है—उस पर बाह्य पदार्थका असर नही होता—और ध्येयके स्वरूपको अपनेमे आविष्ट कर लेनेसे तत्सदृश हो जाता है उस समय वह उस प्रकारके तद्रूप ध्यानकी अनुभूतिसे ध्याता और ध्येयके भेद-भावको मिटा देता है और इस तरह जिसका ध्यान करता है भावसे उस रूप हो जाता तथा उस रूप क्रिया करने लगता है। यहाँ ध्येयमे उदाहरण-रूप परमात्मा, गरुड़ और कामदेवको रक्खा गया है, इनमेसे जिस ध्येयका भी ध्यान हो ध्याता उसी रूप बन जाता और क्रिया करने लगता है, यही भावध्येयका सार है।

---

१. जं परमप्पय तच्चं तमेव विप-काम-तत्तमिह भणिय ॥४८॥
—ज्ञानसारे—पद्मसिंहः

इस विषयका दूसरा कितना ही वर्णन एव संसूचन समरसी-भावकी सफलताको प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थमे कुछ पद्योंके बाद आगे दिया है[१]।

यहाँ 'स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथ' यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इसके द्वारा उन शिव, गरुड, तथा काम नामके तीन तत्त्वोकी सूचना की गई है जिन्हे जैनेतर योगीजन अपने ध्यानका मुख्य विषय बनाते हैं और जिनके विषय-का स्पष्टीकरण एव महत्वपूर्ण वर्णन 'ज्ञानार्णव' के 'त्रितत्व-प्ररूपण' नामक २१ वें प्रकरणमे, आत्माकी अचिन्त्यशक्ति-सामर्थ्यका ख्यापन करते हुए, गद्य-द्वारा किया गया है। साथ ही यह बतलाया गया है कि तीनो तत्त्व आत्मासे भिन्न कोई जुदे पदार्थ नही है—ससारस्थ आत्माके ही शक्ति-विशेष हैं, जैसा कि उसके निम्न पद्य तथा गद्यसे स्पष्ट है —

"शिवोऽय वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तित ।
अणिमादि-गुणाऽनर्घ्यरत्नवार्धिवुं धैर्मत " ॥६॥

"तदेव यदिह जगति शरीरविशेषसमवेत किमपि साम-र्थ्यमुपलभामहे तत्सकलात्मन एवेति विनिश्चयः। आत्मप्रवृत्ति-परपरोत्पादितत्वाद्विग्रह-ग्रहणमस्येति ।"

समरसीभाव और समाधिका स्वरूप

[२]सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम् ।
एतदेव समाधि. स्याल्लोक-द्वय-फल-प्रद ॥१३७॥

---

१ देखो, पद्य १६७ से २१२।

२. "सोऽय समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥ (ज्ञाना० ३१-३८)
"सोऽय समरसीभावस्तदेकीकरण मत ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥ (योगशास्त्र १०-४)
"ध्यातृ-ध्यानोभयाऽभावे ध्येयेनैक्य यदा व्रजेत् ।
सोऽय समरसीभावस्तदेकीकरण मत ॥ (योगप्रदीप ६५)

'उन दोनो ध्येय और ध्याताका जो यह एकीकरण है वह समरसीभाव, माना गया है, यही एकीकरण समाधिरूप ध्यान है, जो इन दोनों लोकके फलको प्रदान करनेवाला है।'

व्याख्या—यह भावध्येय, जिसमे ध्याता अपना पृथक् अस्तित्व भुला कर ध्येयमें ऐसा लीन हो जाता है कि तद्रूप-क्रिया करने लगता है, समरसीभाव कहलाता है। इसीका नाम वह समाधि है जिससे इस लोकसम्बन्धी तथा परलोकसम्बन्धी दोनो प्रकारके फलोंकी प्राप्ति होती है।

द्विविध-ध्येयके कथनका उपसहार

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता ॥१३८॥

'इस विषयमे बहुत कहनेसे क्या ? इस समस्त ध्येयका स्वरूप वस्तुत जानकर तथा श्रद्धानकर उसमे मध्यस्थता-वीतरागता धारण करनेवालेको उसे अपने ध्यानका विषय बनाना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ प्रकारान्तरसे निर्दिष्ट हुए द्विविधध्येयके कथनका उपसहार करते हुए साररूपमे इतना ही कहा गया है कि वह सब वस्तु इस ध्येयकी कोटिमें स्थित है जिसे यथार्थरूपसे जानकर और श्रद्धान करके उसमे राग-द्वेषादिके अभावरूप मध्यस्थ-भावको धारण किया गया हो। इस कथन-द्वारा प्रस्तुत ध्येयके मौलिक सिद्धान्तका निरूपण किया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार कोई भी बाह्य वस्तु ध्यानका विषय बनाई जा सकती है बशर्ते कि उसके यथार्थ स्वरूपके परिज्ञान और श्रद्धानके साथ काम-क्रोध-लोभादिकी निवृत्तिरूप समताभाव, उपेक्षाभाव या वीतरागभाव जुडा हो। इसी आशयको लिये हुए कुछ पुरातन आचार्योंके निम्न वाक्य भी ध्यानमे लेने योग्य हैं.—

[1]ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्ववर्त्यर्थसंचयम् ।
तद्धर्मव्यत्ययाभावान्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ॥
[2]वीतरागो भवद्योगी यत्किंचिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थ-विस्तरः ॥
[3]जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूण य एयत्तं तदा हु तस्स तं णिच्छयं झाणं ॥

इनमेसे प्रथम वाक्य (पद्य)मे यह वतलाया है कि विश्ववर्ती सारा पदार्थसमूह उस वीतराग-साधुके ध्यानका विषय है जो ध्येयके स्वरूपमे विपरीतताके अभावसे उसमे मध्यस्थताको धारण किये हुए है। दूसरेमे यह प्रतिपादित किया है कि योगी वीतराग होता हुआ जो कुछ भी चिन्तन करता है वह सब ध्यान है। इस संक्षिप्त कथनसे भिन्न अन्य सब ग्रन्थका विस्तार है। और तीसरेमे यह दर्शाया है कि चाहे जिस पदार्थका चिन्तन करता हुआ साधु जब एकाग्र होकर निरीहवृत्ति (वीतराग या मध्यस्थ) हो जाता है तब उसके निश्चयध्यान बनता है।

माध्यस्थ्यके पर्यायनाम

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा[4] ।
वैतृष्ण्य प्रशम.[5] शान्तिरित्येकार्थोऽभिधीयते ॥१३६॥

'माध्यस्थ्य (मध्यस्थता), समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा (निःस्पृहता), वैतृष्ण्य (तृष्णाका अभाव), प्रशम और शान्ति ये सब एक ही अर्थको लिये हुए हैं।'

---

१ २ ये दोनो पद्य ज्ञानार्णवके ३८ वें प्रकरणमे ११३ वें पद्यके अनन्तर 'उक्तं च' 'पुनः उक्तं च' रूपसे उद्धृत हैं।

३. यह द्रव्यसंग्रहका ५५ वा पद्य है।

४. मु मस्पृह । ५. मु परमः ।

व्याख्या—यहाँ माध्यस्थ्यके पर्याय नाम दिये गये हैं। इससे पूर्व पद्यमे ध्याताको ध्येयके प्रति माध्यस्थ्य धारणकी जो बात कही गई है वह इन सब शब्दोके आशयको लिये हुए समझनी चाहिये। इन उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, नि स्पृहता, वितृष्णा, प्रशम और शान्ति शब्दोके द्वारा माध्यस्थ्यका विषय बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। ये सब शब्द सज्ञाकी दृष्टिसे भिन्न होते हुए भी अर्थकी दृष्टिसे वस्तुत. एक ही मूल आशयको लिये हुए हैं। अतः इनमेंसे किसीका भी कही प्रयोग होने पर, प्रकरणको ध्यानमें रखते हुए, दूसरे किसी शब्दके द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

जो सज्ञा-शब्द होते हैं वे अपने-अपने बाह्य अर्थको साथ लिये रहते है[1]। जिन सज्ञा-शब्दोके बाह्यार्थ परस्परमें एक दूसरेके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखते है वे सब एकार्थ कहे जाते हैं। अथवा यो कहिये कि प्रत्येक वस्तुमे अनेक गुण, धर्म, शक्ति, विशेष या अश होते हैं, उन सबको एक ही शब्दके द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता—शब्दमें उतनी शक्ति ही नही है। इसीसे विवक्षित गुण-धर्मादिको यथावसर व्यक्त करनेके लिये तत्तत् शक्तिविशिष्ट शब्दोका प्रयोग किया जाता है, यही एक वस्तुके अनेक नाम होनेका प्रधान कारण है। इसीसे उक्त नौ नाम भिन्न होते हुए भी सर्वथा भिन्न नही हैं—वास्तविक अर्थकी दृष्टिसे एक ही हैं[2]। विशेष व्याख्याके द्वारा इन सबके एकार्थको भले प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ समानार्थक सज्ञा शब्द

---

१. जीवशब्द सबाह्यार्थ. सज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्। —देवागमे, समन्तभद्रः

२. सज्ञा-सख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषत।
प्रयोजनादि-भेदाच्च तन्नानात्व न सर्वथा॥
—देवागमे, समन्तभद्रः

इनके साथ और भी जोड़े जा सकते हैं जैसे उदासीनता, वीत-रागता, राग-द्वेष-विहीनता, लालसा-विमुक्ति, अनासक्ति आदि। श्रीपद्मनन्दिआचार्यने 'एकत्वसप्तति' मे 'साम्य' के साथ स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोगको भी एकार्थक बतलाया है[१]।

परमेष्ठियोंके ध्याए जाने पर सब कुछ ध्यात

संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तरात्परमागमे।
तत्सर्वं ध्यातमेव[२] स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिषु ॥१४०॥

'यहाँ—इस शास्त्रमे—जो कुछ संक्षेपरूपसे कहा गया है उसे परमागममे विस्ताररूपसे बतलाया है। पचपरमेष्ठियोंके ध्याये जाने पर वह सब ही ध्यातरूपमे परिणत हो जाता है—उसके पृथक्रूपसे ध्यानकी जरूरत नहीं रहती अथवा पंचपरमेष्ठियोंका ध्यान कर लिए जानेपर सभी श्रेष्ठ व्यक्तियो एव वस्तुओंका ध्यान उसमें समाविष्ट हो जाता है।'

व्याख्या—इस पद्यमे यह सूचना की गई है कि व्यवहारनयकी दृष्टिसे ध्येयके विषयमे जो कुछ कथन संक्षेपरूपसे ऊपर कहा गया है उसका विस्तारसे कथन परमागममे है, विस्तारसे जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको उसके लिये आगमग्रन्थोंको देखना चाहिये। साथ ही यह भी सूचित किया है कि अर्हन्तादि पचपरमेष्ठियोके ध्यानमे इस प्रकारके ध्यानका सब कुछ विषय आजाता है और यह सब ठीक ही है, क्योंकि पाँचो परमेष्ठियोके वास्तविक ध्यानके बाद ऐसा कोई विषय ध्यानके लिए अवशिष्ट नही रहता, जो आत्म-विकासमे विशेष सहायक हो।

---

१. साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥६४॥

२. मु मे ध्यानमेव।

निश्चय-ध्यानका निरूपण

व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयम् ।
निश्चयादधुना स्वात्मालम्बनं तन्निरूप्यते ॥१४१॥

'इस प्रकार व्यवहारनयकी दृष्टिसे यह पराश्रितध्यान कहा गया है। अब निश्चयनयकी दृष्टिसे जो स्वात्मालम्बनरूप ध्यान है उसका निरूपण किया जाता है।'

व्याख्या—यहाँ व्यवहारनयाश्रित उस परालम्बनरूप भिन्न-ध्यानके कथनकी समाप्तिको सूचित किया है जिसका प्रारम्भ 'आज्ञापायौ' इत्यादि पद्य (९८) से किया गया था। साथ ही आगेके लिये निश्चयनयाश्रित स्वात्मालम्बन-रूप ध्यानके कथनकी प्रतिज्ञा की है, जिसका उद्देश्यरूपमे निर्देश पहले (प० ९६ मे) आ चुका है।

ब्रुवता ध्यान-शब्दार्थं यद्रहस्यमवादि तत्[1] ।
तथापि स्पष्टमाख्यातु पुनरप्यभिधीयते ॥१४२॥

'यद्यपि ध्यानशब्दके अर्थको बतलाते हुए (इस विषयमे) रहस्यकी जो बात थी वह कही जा चुकी है तो भी स्पष्टरूप व्याख्याकी दृष्टिसे उसे (यहाँ) फिरसे कहा जाता है।'

व्याख्या—ध्यानके जिस पूर्वकथनको यहाँ सूचना की गई है वह ग्रन्थमे 'ध्यायते येन तद्ध्यान' इस ६७वे पद्यसे प्रारम्भ होकर 'स्वात्मान स्वात्मनि स्वेन' नामक ७४ वें पद्य तक दिया हुआ है। वह सब कथन निश्चयनयकी दृष्टिको लिये हुए है, यहाँ भी उसी दृष्टिसे कुछ विशेष एव स्पष्ट कथन करनेकी विज्ञापना की गई है।

---

१. मु मे मवादि सत्।

दिध्यासु[1] स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थित[2]।
विहायाऽन्यदनर्थित्वात् स्वमेवाऽवैतु पश्यतु ॥१४३॥

'जो स्वावलम्बी निश्चयध्यान करनेका इच्छुक है वह स्वको और परको यथावस्थित-रूपमे जान कर तथा श्रद्धान कर और फिर परको निरर्थक होनेसे छोड़कर स्वको (अपने आत्माको) ही जानो और देखो।'

व्याख्या—यहाँ स्वके साथ परके यथार्थज्ञान-श्रद्धानकी जो वात कही गई है वह अपना खास महत्त्व रखती है। जब तक परका यथार्थ-बोधादिक नही होता तब तक उसको स्वसे भिन्न एव अनर्थक समझकर छोड़ा नही जाता और जब तक परसे छुटकारा नही मिलता तब तक स्वात्मालम्बन-रूप निश्चय-ध्यानमे यथार्थ-प्रवृत्ति नही वनती।

पूर्वं श्रुतेन सस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः।
तत्रैकाग्र्यं समासाद्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥१४४॥

'अतः पहले श्रुत (आगम) के द्वारा अपने आत्मामें आत्म-संस्कारको आरोपित करे—आगममे आत्माको जिस यथार्थरूपमे वर्णित किया है उस प्रकारकी भावनाओ-द्वारा उसे सस्कारित करे—तदनन्तर उस संस्कारित स्वात्मामें एकाग्रता (तल्लीनता) प्राप्त करके और कुछ भी चिन्तन न करे।'

व्याख्या—यहाँ निश्चयध्यानकी यथार्थसिद्धिके लिये पहले आत्माको श्रुतकी भावनाओसे सस्कारित करनेकी वात कही गई है, जिससे आत्माको अपने स्वरूपके विषयमे सुदृढताकी

---

१. मु दिघासु। २. मु यथास्थिति।
३. मु मे तत्रैकाग्र।

प्राप्ति हो और वह अन्य चिन्ता छोडकर अपनेमे ही लीन हो सके। और यह बात बडे ही महत्वकी है, जिसे अगले दो पद्योमे स्पष्ट किया गया है।

श्रौती-भावनाका अवलम्वन न लेनेसे हानि

[1]यस्तु नालम्बते[2] श्रौतीं भावनां कल्पना-भयात्।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वस्मिन्बहिश्चिन्तां विभर्ति च ॥१४५

'जो ध्याता कल्पनाके भयसे श्रौती (श्रुतात्मक) भावनाका आलम्बन नहीं लेता वह अवश्य अपने आत्म-विषयमें मोहको प्राप्त होता है और बाह्य चिन्ताको धारण करता है।'

व्याख्या—जो ध्याता निर्विकल्प-ध्यान न बन सकनेके भयसे पूर्वावस्थामे भी श्रौती भावनाको, जो कि सविकल्प होती है, नही अपनाता वह मोहसे अभिभूत अथवा दृष्टिविकारको प्राप्त होता है[3] और बाह्य-पदार्थोंकी चिन्तामे भी पडता है। इससे उसे सबसे पहले श्रौती-भावनाके सस्कार-द्वारा अपने आत्माको उसके स्वरूप-विषयमे सुनिश्चित और सुदृढ बनाना चाहिये, तभी निर्विकल्प-ध्यान अथवा समाधिकी बात बन सकेगी।

श्रौती-भावनाकी दृष्टि

तस्मान्मोह-प्रहाणाय बहिश्चिन्ता-निवृत्तये।
स्वात्मान भावयेत्पूर्वमेकाग्र्यस्य[4] च सिद्धये॥१४६॥

---

१ सि जु प्रतियोमे यह पद्य १४८ वें पद्यके बाद दिया है, जो ठीक नही है।

२ मु० नालम्व्यते।

३ गहिय त सुअणाणा पच्छा सवेयणेण भाविज्ज।
जो ण हु सुयमवलम्वइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे॥
—अन० टी० ३-१ तथा इष्टो० टी० मे उद्धृत

४. मु मेकाग्रस्य

'अतः मोहका विनाश करने, बाह्यचिन्तासे निवृत्त होने और एकाग्रताकी सिद्धिके लिये ध्याता पहले स्वात्माको श्रौती-भावनासे भावे—संस्कारित करे।'

व्याख्या—जब श्रौती-भावना का आलम्बन न लेनेसे मोह-को प्राप्त होना तथा बाह्य चिन्तामे पडना अवश्यभावी है तव मोहके विनाश तथा बाह्य-चिन्ताकी निवृत्तिके लिये और एका-ग्रताकी सिद्धिके लिये अपने आत्माको पहले श्रौती-भावनासे भावित अथवा सस्कारित करना चाहिए। ऐसी यहाँ सातिशय प्रेरणा की गई है और इससे श्रौती-भावनाकी दृष्टि तथा उसका महत्व स्पष्ट होजाता है।

श्रौती-भावनाका रूप

तथा हिचेतनोऽसंख्य-प्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्ध-रूपोऽस्मि ज्ञान-दर्शन-लक्षण[1] ॥१४७॥

'वह श्रौतीभावना इस प्रकार है :—

'मै चेतन हूँ, असंख्यप्रदेशी हूँ, मूर्तिरहित-अमूर्तिक हूँ सिद्धसदृश शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान-दर्शन लक्षणसे युक्त हूँ।

व्याख्या—यहाँ आत्मा अपने वास्तविक रूपको भावना कर रहा है, जोकि चेतनामय है, असंख्यातप्रदेशी है, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप मूर्तिसे रहित अमूर्तिक है, सिद्धोके समान शुद्ध है और ज्ञान-दर्शन-लक्षणसे लक्षित है। ज्ञान और दर्शन गुणोको जो लक्षण कहा गया है वह इसलिये कि ये उसके व्यावर्तक गुण है—अन्य सब पदार्थोसे आत्माका स्पष्ट भिन्नबोध कराने वाले हैं। तत्त्वार्थसूत्रमे 'उपयोगो लक्षणं' सूत्रके द्वारा जीवात्माका जो उपयोग लक्षण दिया है वह भो इन दोनोका सूचक है। क्योकि

---

१. एगो मे सस्सदो आदा णाण-दसण-लक्खणो
नियमसारे, कुन्दकुन्दः

उपयोगके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ऐसे दो मूलभेद किये गये हैं, जिनमे ज्ञानोपयोगके आठ और दर्शनोपयोगके चार उत्तर-भेद हैं, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रके 'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः' इत्यादि अगले सूत्रोंसे जाना जाता है।

[1]नाऽन्योऽस्मि नाऽहमस्त्यन्यो नाऽन्यस्याऽहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाऽहमन्योऽन्यस्याऽहमेव मे ॥१४८॥

'मैं अन्य नहीं हूँ, अन्य मैं (आत्मा) नहीं है। मैं अन्यका नहीं न अन्य मेरा है। वस्तुत अन्य अन्य है, मै ही मै हूँ, अन्य अन्यका है और मै ही मेरा हूँ।'

व्याख्या—यहाँ, स्व-परके भेद-भावको दृढ करते हुए, आत्मा भावना करता है—'मैं किसी भी पर-पदार्थरूप नही हूँ; कोई परपदार्थ मुझ-रूप नहीं है; मैं पर-पदार्थका कोई सम्बन्धी नही हूँ, न पर-पदार्थ मेरा कोई सम्बन्धी है। वस्तुत पर-पदार्थ पर ही है, मैं मैं ही हूँ, पर-पदार्थ परका सम्बन्धी है, मैं ही मेरा सम्बन्धी हूँ।'

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनम्।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥१४९॥

'शरीर अन्य है, मै अन्य हूँ, (क्योंकि) मै चेतन हूँ, शरीर अचेतन है, यह शरीर अनेकरूप है, मै एकरूप हूँ, यह क्षयी (नाशवान्) है, मै अक्षय (अविनाशी) हूं।'

---

१. मामन्यमन्यं मा मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नाऽन्योऽहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥ (आत्मानु० २४३

व्याख्या—यहाँ शरीरसे आत्माके भिन्नत्वकी भावना की गई है और उसके मुख्य तीन रूपोको लिया गया है—१ चेतन-अचेतन-का भेद, २ एक-अनेकका भेद, ३ और क्षयी-अक्षयीका भेद। इन तीनो भेदोको अनेक प्रकारसे अनुभवमे लाया जाता है। आत्मा चेतन है—ज्ञान-स्वरूप है, शरीर अचेतन है—ज्ञान-रहित जडरूप है, शरीर अनेकरूप है—अनेक ऐसे पदार्थों तथा अगोके सयोगसे बना है, जिन्हे भिन्न किया जा सकता है, आत्मा वस्तुत. अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे एक है, जिसमे किसी पदार्थका मिश्रण नही और न जिसका कोई भेद अथवा खण्ड किया जा सकता है, शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है—यदि एक दो दिन भी भोजनादिक न मिले तो स्पष्ट क्षीण दिखाई पड़ता है, जबकि आत्मा क्षयरहित है—अविनाशी है, कोई भी प्रदेश उसका कभी उससे जुदा नही होता, भले ही भवान्तर-ग्रहणादिके समय उसमें संकोच-विस्तार होता रहे और ज्ञानादिक गुणो पर आवरण भी आता रहे, परन्तु वे गुण कभी आत्मासे भिन्न नही होते।

अचेतनं [1]भवेन्नाऽहं नाऽहमप्यस्म्यचेतनम्[2] ।
ज्ञानात्माऽहं न मे कश्चिन्नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ॥१५०

'अचेतन मै (आत्मा) नहीं होता; न मै अचेतन होता हूँ; मै ज्ञानस्वरूप हूं; मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी दूसरे का हूँ।'

व्याख्या—यहाँ आत्मा यह भावना करता है कि कोई भी अचेतन पदार्थ कभी आत्मा (मैं) नही बनता और न आत्मा (मैं) कभी किसी अचेतन पदार्थके रूपमे परिणमन करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दूसरा कोई भी पदार्थ उसका अपना नही और न वह किसी दूसरे पदार्थका कोई अग अथवा सम्बन्धी है।

---

१. मु भवे नाह। २. मु आ मप्यस्त्यचेतन।

यहाँ तथा आगे पीछे जहाँ भी 'अहं' (मैं) शब्दका प्रयोग हुआ है वह सब आत्माका वाचक है।

योऽत्र स्व-स्वामि-सम्बन्धो ममाऽभूद्वपुषा सह।
यस्त्वेकत्व-भ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः ॥१५१॥

'इस संसारमें मेरा शरीरके साथ जो स्व-स्वामि-सम्बन्ध हुआ है—शरीर मेरा स्व और मैं उसका स्वामी बना हूँ—तथा दोनोंमे एकत्वका जो भ्रम है वह सब भी परके निमित्तसे है, स्वरूपसे नहीं।'

व्याख्या—यहाँ 'परस्मात्' पदके द्वारा जिस पर-निमित्तका उल्लेख है वह नामकर्मादिकके रूपमे अवस्थित है, जिससे शरीर तथा उसके अगोपागादिकी रचना होकर आत्माके साथ उसका सम्बन्ध जुडता है और जिससे शरीर तथा आत्मामे एकत्वका भ्रम होता है वह दृष्टि-विकारोत्पादक दर्शनमोहनीय कर्म है। इस पर-निमित्तकी दृष्टिसे ही व्यवहारनय-द्वारा यह कहनेमे आता है कि 'शरीर मेरा है'। अन्यथा आत्माके स्वरूपकी दृष्टि-से शरीर आत्माका कोई नही और न वस्तुत. उसके साथ एक-मेकरूप तादात्म्य-सम्बन्धको ही प्राप्त है—मात्र कर्मोंके निमित्त-से सयोग-सम्बन्धको लिये हुए है, जिसका वियोग अवश्यभावी है। यह सब इस श्रौती-भावनामे आत्मा चिन्तन करता है और इसके द्वारा शरीरके साथ स्व-स्वामि-सम्बन्ध तथा एकत्वके भ्रमको दूर भगाता है।

जीवादि-द्रव्य-याथात्म्य [1]ज्ञानात्मकमिहाऽत्मना।
पश्यन्नात्मन्यथाऽत्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु ॥१५२॥

---

१. मु ज्ञातात्मक।

'मैं इस संसारमें जीवादि-द्रव्योकी यथार्थताके ज्ञानस्वरूप आत्माको आत्माके द्वारा आत्मामें देखता हुआ (अन्य) वस्तुओमें उदासीन रहता हूं—उनमे मेरा कोई प्रकारका रागादिक भाव नही है।'

व्याख्या—इस श्रौती-भावनामे आत्मा अपनेमे स्थित हुआ अपने द्वारा अपने आपको इस रूपमे देखता है कि वह जीवादि-द्रव्योके यथार्थ-ज्ञानको लिये हुए है, और इस प्रकार देखता हुआ वह अन्य पदार्थों से स्वत विरक्तिको प्राप्त होता है—उनमे उसकी रुचि नही रहती।

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता दृष्टा सदाऽप्युदासीनः।
स्वोपात्त-देहमात्रस्ततः पर[1] गगनवदमूर्त्तः ॥१५३॥

'मैं सदा सत् द्रव्य हूं; चिद्रूप हूं, ज्ञाता-दृष्टा हूं, उदासीन हूं, स्वग्रहीत देह परिमाण हूं और शरीर-त्यागके पश्चात् आकाशके समान अमूर्तिक हूं।'

व्याख्या—इस श्रौतीभावनामे आत्मा अपनेको सद्द्रव्य, चिद्द्रव्य और उदासीनरूप कैसे अनुभव करता है, इसका स्पष्टी-करण अगले पद्योमे किया गया है। ज्ञाता-दृष्टा पदोका वाच्य स्पष्ट है। 'स्वोपात्तदेहमात्र' इस पदके द्वारा आत्माके आकारकी सूचना की गई है। ससार-अवस्थामे आत्मा जिस शरीरको ग्रहण करता है उस शरीरके आकार-प्रमाण आत्माका आकार रहता है। शरीरका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाने पर मुक्ति-अवस्थामे यद्यपि आत्मा आकाशके समान अमूर्तिक हो जाता है परन्तु आकाशके समान अनन्तप्रदेशी नही हो जाता, उसके प्रदेशोकी सख्या असख्यात ही रहती है और वे असख्यातप्रदेश भी सारे

---

१ सि जु देहमात्रः स्मृत पृथग्।

लोकाकाशमे व्याप्त होकर लोकाकाशरूप आकार नही बनाते। किन्तु आकार आत्माका प्राय अन्तिम शरीरके आकार-जितना ही रहता है, क्योकि आत्म-प्रदेशोमे सकोच और विस्तार कर्म-के निमित्तसे होता था, जब कर्मोंका अस्तित्व नही रहता तब आत्माके प्रदेशोका सकोच और विस्तार सदाके लिये रुक जाता है। इसी बातको ग्रन्थमे आगे '**पुंसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म-निर्मितौ**' इत्यादि पद्यो (२३२, २३३) के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

[1]सन्नेवाऽहं सदाऽप्यस्मि स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असन्नेवाऽस्मि चात्यन्तं पररूपाद्यपेक्षया ॥१५४॥

'**स्वरूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे**—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावकी अपेक्षासे—**मै सदा सत्‌रूप ही हूँ और पर-स्वरूपा-दिकी दृष्टिसे**—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे—**अत्यन्त असत्‌रूप ही हूँ।**'

व्याख्या—पिछले पद्यमे '**सद्द्रव्यमस्मि**' यह जो भावना-वाक्य दिया है उसीके स्पष्टीकरणरूपमे इस पद्यका अवतार हुआ है। यहाँ आत्मद्रव्य सत्‌रूप ही नही किन्तु असत्‌रूप भी है, इस-का सहेतुक प्रतिपादन किया है, लिखा है कि—आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा सत्‌रूप ही है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा असत्‌रूप ही है। इस कथनका पूर्वकथनके साथ कोई विरोध नही है, क्योकि आत्माको सत् और असत् दोनो रूप बतलाना अपेक्षा-भेदको लिए हुए है—एक ही अपेक्षासे सत् तथा असत्-रूप नही कहा गया है। वास्तवमे इस सत् (अस्ति) और असत् (नास्ति) का परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है—एकके विना

---

१. सन्नेवाऽहं मया वेद्यं स्वद्रव्यादि-चतुष्टयात्।
स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मत्वादसन्नेव विपर्ययात् ॥—अध्यात्मरहस्य ३१

दूसरेका अस्तित्व बनता[1] नही। इसीसे सत्के स्पष्टीकरणमे उसके सत्-असत् दोनो रूपोको दिखाया गया है।

यहाँ सत्के विषयमे स्वामी समन्तभद्रकी प्रतिक्षण-ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक-दृष्टिसे भिन्न उन्हीकी दूसरी स्वद्रव्यादि-चतुष्टयकी दृष्टिको अपनाया गया है, जैसा कि उनके देवागम-गत निम्न-वाक्यसे स्पष्ट जाना जाता है :—

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

इसमें बतलाया है कि सर्वद्रव्य स्वरूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे—सत्रूप ही हैं और पर-रूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षासे—असत्रूप ही हैं। यदि ऐसा नही माना जायगा तो सत्-असत् दोनोमे किसीकी भी व्यवस्था नही बन सकेगी; क्योकि दोनो पर-स्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिए हुए हैं—एकके विना दूसरेका अस्तित्व नही बनता। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप सत्द्रव्य यदि पर-द्रव्यादि-चतुष्टयके अभावको अपनेमे लिये हुए नही है तो उसके स्वरूपकी कोई प्रतिष्ठा ही नही बनती और न नब ससारमे किसी वस्तुकी व्यवस्था ही बन सकती है।

यन्न चेतयते किंचिन्नाऽचेतयत् किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नाऽस्म्यहम् ॥१५५॥

'जो कुछ चेतता-जानता नहीं, जिसने कुछ चेता-जाना नहीं और जो कुछ चेतेगा-जानेगा नहीं वह शरीरादिक मै नहीं हूँ।'

---

१. जैसा कि स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत देवागमके निम्नवाक्योसे विदित है-
'अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद-विवक्षया ॥१७॥
नास्तित्व प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया ॥१८॥

व्याख्या—पिछले पद्य (१५३) मे 'चिदहं' और उससे कुछ पूर्ववर्ती पद्य (१४९) मे 'चिदह तदचेतनम्' इन पदोका जो प्रयोग हुआ है, उन्हीके स्पष्टीकरणको लिये हुए यह पद्य है। इसमे शरीरको लक्ष्य करके कहा गया है कि वर्तमानमे वह कुछ जानता नही, भूतकालमे उसने कभी कुछ जाना नही और भविष्यमे वह कभी कुछ जानेगा नही, ऐसी जिसकी वस्तुस्थिति है वह शरीर मैं (आत्मा) नही हूँ। 'आदि' शब्दसे तत्सदृश और भी जितने अचेतन (जड) पदार्थ हैं उनरूप भी मैं (आत्मा) नही हूँ।

[1]यदचेतत्तथा[2]पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा[3] ।
चेततीत्थं[4]यदत्राऽद्य तच्चिचद्द्रव्यं समस्म्यहम् ॥१५६॥

'जिसने पहले उस प्रकारसे चेता–जाना है, जो (भविष्यमें) अन्य प्रकारसे चेतेगा–जानेगा और जो आज यहाँ इस प्रकारसे चेतता–जानता है वह सम्यक् चेतनात्मक द्रव्य मै हूँ।'

व्याख्या—यहाँ चिद्द्रव्यकी सत्दृष्टिको प्रधान कर कहा गया है कि जिसने भूतकालमे उस प्रकार जाना, जो भविष्यमे अन्य प्रकार जानेगा और जो वर्तमानमे इस प्रकार जान रहा है वह चेतनद्रव्य मैं (आत्मा) हूँ। चेतनाकी धारा आत्मामे शाश्वत चलती है, भले ही आवरणोके कारण वह कही और कभी अल्पाधिक रूपमे दब जाय, परन्तु उसका अभाव किसी समय भी नही होता। कुछ प्रदेश तो उसमे ऐसे हैं जो सदा अनावरण ही बने रहते है और इसलिये आत्मा चित्स्वरूपकी दृष्टिसे सदा चिद्रूप ही है, इसी आशयको लेकर यहाँ उक्त प्रकारकी भावना की गई है।

---

१ यदचेतत्तथाऽनादि चेततीत्यमिहाऽद्य यत् ।
चेतयिष्यत्यन्यथाऽनन्तं यच्च चिद्द्रव्यमस्मि तत् ॥ (अध्यात्मरहस्य ३३)

२. सि जु यदा। ३ सि जु अन्यदा। ४. मु चेतनीय।

स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
[1]नाऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥१५७॥

'यह दृश्य जगत् न तो स्वयं—स्वभावसे—इष्ट है—इच्छा तथा रागका विषय है—, न द्विष्ट है—अनिष्ट अथवा द्वेषका विषय है—, किन्तु उपेक्ष्य है—उपेक्षाका विषय है। मैं स्वय-स्वभावसे एष्टा—इच्छा तथा राग करनेवाला—नहीं हूं, न द्वेष्टा—द्वेष तथा अप्रीति करनेवाला—हूं, किन्तु उपेक्षिता हूं—उपेक्षा करनेवाला समवृत्ति हूँ।'

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१५२) में आत्माने अपने ज्ञानात्मक-स्वरूपको देखते हुए जो परद्रव्योंसे उदासीन होनेकी भावना की है उसीके स्पष्टीकरणको लिये हुए यह भावना-पद्य है। इसमे वस्तु-स्वभावकी दृष्टिको लेकर यह भावना की गई है कि यह दृश्य जगत्-जगत्का प्रत्येक पदार्थ—न तो स्वय स्वभावसे इष्ट है और न अनिष्ट। यदि कोई भी पदार्थ स्वभावसे सर्वथा इष्ट या अनिष्ट हो तो वह सबके लिये और सदाके लिये इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए; परन्तु ऐसा नही है। एक ही पदार्थ जो एक प्राणीके लिए इष्ट है वह दूसरेके लिए अनिष्ट है; एक रूपमे जो इष्ट है दूसरे रूपमे वह अनिष्ट है, एक कालमे जो इष्ट होता है दूसरे कालमे वही अनिष्ट होजाता है; एक क्षेत्रमे जिसे अच्छा समझा जाता है दूसरे क्षेत्रमे वही बुरा माना जाता है, एक भावसे जिसे इष्ट किया जाता है दूसरे भावसे उसीको अनिष्ट कर दिया जाता है। ऐसी स्थितिमें कोई भी वस्तु स्वरूपसे इष्ट या अनिष्ट नही ठहरती। इष्टता और अनिष्टताकी यह सब कल्पना प्राणियोंके अपने-अपने तात्कालिक राग-द्वेष अथवा लौकिक प्रयोजनादिके

१. मु नो।

आधीन है। यदि ये जगतके क्षणभगुर पदार्थ किसीके राग-द्वेषके विषय न बनें तो स्वय उपेक्षाके विषय ही रह जाते हैं।

इसी तरह आत्मा भी स्वभावसे राग करनेवाला (एष्टा) अथवा द्वेष करनेवाला (द्वेष्टा) नही है। उसमे राग-द्वेषकी यह कल्पना तथा विभाव-परिणति परके निमित्तसे अथवा कर्माश्रित है। उसके दूर होते ही आत्मा स्वय उपेक्षित अथवा वीतरागी के रूपमे स्थित होता है। उसी रूपमे स्थित होने की यहाँ भावना की गई है।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाऽप्येते न किंचन ॥१५८

'वस्तुतः ये शरीरादिक मुझसे भिन्न हैं, मै भी इनसे भिन्न हूं, मै इन शरीरादिकका कुछ भी (सम्बन्धी) नहीं हूं और न ये मेरे कुछ होते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'कायादय.' पदमे प्रयुक्त 'आदि' शब्द शरीरसे सम्बन्धित तथा असम्बन्धित सभी बाह्य-पदार्थोंका वाचक है और इसलिए उसमे माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र, दूसरे सगे-सम्बन्धी, जमीन, मकान, दुकान, घर-गृहस्थी का सामान, बाग-बगीचे, धन-धान्य, वस्त्र-आभूषण, बर्तन-भाण्डे, पालतू अपालतू जन्तु और जगतके दूसरे सभी पदार्थ शामिल हैं। सभी पर-पदार्थोंसे ममत्वको हटानेकी इस भावनामे यह कहकर व्यवस्था की गई है कि यथार्थता अथवा वस्तु-स्वरूपकी दृष्टिसे शरीर-सहित ये सब पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ, मैं इनका कुछ नही लगता और न ये मेरे कुछ लगते हैं।

श्रौती-भावनाका उपसंहार

एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मान भिन्नमन्यतः ।
विधाय तन्मय भाव न किंचिदपि चिंतयेत्[1] ॥१५६॥

---

१. मु चिन्तये।

'इस प्रकार (भावना-कार) अपने आत्माको अन्य शरीरादिकसे वस्तुतः भिन्न निश्चित करके और उसमें तन्मय होकर अन्य कुछ भी चिन्तन नहीं करे।'

व्याख्या—यहाँ, श्रौती-भावनाका उपसहार करते हुए, बतलाया गया है कि इस प्रकार भावना-द्वारा स्वात्माको अन्य सब पदार्थोंसे वस्तुत भिन्न निश्चित करके और उसीमे लीन होकर दूसरे किसी भी पदार्थकी चिन्ता न करके चिन्ताके अभावको प्राप्त होवे।

चिन्ताका अभाव तुच्छ न होकर स्वसवेदन-रूप है

चिन्ताऽभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव।
दृग्बोध-साम्य-रूपस्य स्वस्य[1] सवेदन हि सः ॥१६०॥

'(यह) चिन्ताका अभाव जैनियोके (मतमे) मिथ्यादृष्टियों (वैशेषिकों) के समान तुच्छ अभाव नहीं है; क्योंकि वह चिन्ताका अभाव वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और समतारूप आत्माके संवेदनरूप है।'

व्याख्या—जैनदर्शनमें अभावको भी वस्तुधर्म माना है, जो कि वस्तु-व्यवस्थाके अगरूप है[2]। एक वस्तुमे यदि दूसरी वस्तुका अभाव स्वीकार न किया जाय तो किसी भी वस्तुकी कोई व्यवस्था नही बनती। इस दृष्टिसे अभाव सर्वथा असत्रूप तुच्छ नही है, जिससे चिन्ताके अभावरूप होनेसे ध्यानको ही असत् कह दिया जाय। वह अन्य चिन्ताओके अभावकी दृष्टिसे असत् होते हुए भी स्वात्मचिन्तात्मक-स्वसवेदनकी दृष्टिसे असत् नही है, और इसलिये

---

१. मु यत्स्व।
२ भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तर भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तु-व्यवस्थाङ्गममेयमन्यत् ॥
—युक्त्यनुशासने, समन्तभद्रः

तुच्छ नही है। ध्यानके लक्षणमे प्रयुक्त 'निरोध' अथवा 'रोध' शब्दका अभाव अर्थ करने पर उसका यही आशय लिया जाना चाहिये, न कि सर्वथा चिन्ताके अभावरूप, जिससे ध्यानका ही अभाव ठहरे। अन्य सब चिन्ताओके अभावके विना एकचिन्तात्मक जो आत्मध्यान है वह नही बनता।

स्वसवेदनका लक्षण

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्व-संवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभव दृशम् ॥१६१॥

'योगीके अपने आत्माका जो अपने द्वारा वद्यपना और वेदकपना है उसको स्व-संवेदन कहते हैं; जो कि आत्माका दर्शनरूप अनुभव है।'

व्याख्या—स्वसवेदन आत्माके उस साक्षात् दर्शनरूप अनुभवका नाम है जिसमे योगी आत्मा स्वय ही ज्ञेय तथा ज्ञायकभावको प्राप्त होता है—अपनेको स्वय ही जानता, देखता अथवा अनुभव करता है। इससे स्वसवेदन, आत्मानुभवन और आत्मदर्शन ये तीनो वस्तुत॰ एक ही अर्थके वाचक हैं, जिनका यहाँ स्पष्टीकरणकी दृष्टिसे एकत्र सग्रह किया गया है।

स्वसवेदनका कोई करणान्तर नही होता

स्व-पर-ज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य करणान्तरम्[1]।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसवित्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥

'स्व-परकी जानकारीरूप होनेसे उस स्वसवेदन अथवा स्वानुभवका आत्मासे भिन्न कोई दूसरा करण—ज्ञप्तिक्रियाकी निष्पत्तिमे साधकतम—नहीं होता। अतः चिन्ताका परित्याग-

१. मु मे कारणान्तरम्।

कर स्वसंवित्तिके द्वारा ही उसे जानना चाहिये ।'

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया है कि स्वसवेदनमे ज्ञप्ति-क्रिया-को निष्पत्तिके लिये दूसरा कोई करण अथवा साधकतम नही होता। क्योकि वह स्वय स्व-पर-ज्ञप्तिरूप है। अत. करणान्तर-की चिन्ताको छोडकर स्वज्ञप्तिके द्वारा ही उसे जानना चाहिये।

स्वात्माके द्वारा सवेद्य आत्मस्वरूप

दृग्बोध-साम्यरूपत्वाज्जानन्पश्यन्नुदासिता ।
चित्सामान्य-विशेषात्मा स्वात्मनैवाऽनुभूयताम् ॥१६३॥

'दर्शन, ज्ञान और समतारूप होनेसे देखता, जानता और वीतरागताको धारण करता हुआ जो सामान्य-विशेष ज्ञानरूप अथवा ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोगरूप आत्मा है उसे स्वात्माके द्वारा ही अनुभव करना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ जिस आत्माको अपने आत्माके द्वारा ही अनुभव करनेकी बात कही गई है उसके स्वरूप-विषयमे यह सूचना की गई है कि वह दर्शन, ज्ञान और समतारूप होनेसे ज्ञाता, दृष्टा तथा उपेक्षिता (वीतराग) के रूपमे स्थित है और चैतन्यके सामान्य तथा विशेष दोनो रूपोको—दर्शन-ज्ञानको—लिए हुए है।

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम् ।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥१६४॥

'समस्त कर्मज भावोसे सदा भिन्न ऐसे ज्ञानस्वभाव एव उदा-सीन (वीतराग) आत्माको आत्माके द्वारा देखना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ भी स्वसवेदनके विषयभूत आत्माके स्वरूपकी कुछ सूचना करते हुए उसे जिस रूपमे देखनेकी प्रेरणा की गई है वह स्वरूप यह है कि आत्मा सदा कर्मजनित समस्त विभाव-

भावोसे भिन्न है—कभी उनसे तादात्म्यको प्राप्त नही होता है—ज्ञानस्वभाव है और उदासोन है—वीतरागतामय उपेक्षाभाव-को लिए हुए है।'

यस्मिन् मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितम् ।
तन्मध्यस्थं निज रूपं स्वस्मिन्सवेद्यतां स्वयम् ॥१६५॥

'जो मिथ्याश्रद्धान तथा मिथ्याज्ञानसे रहित है और रागद्वेषसे रहित मध्यस्थ है उस निजरूपको स्वय अपने आत्मामें अनुभव करना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ भी स्वसवेद्य आत्माके स्वरूपकी कुछ सूचना की गई है और यह बतलाया गया है कि वह मिथ्यादर्शन तथा मिथ्याज्ञानसे रहित है और अपने मध्यस्थरूपको लिये हुए है, जो कि समता, उपेक्षा अथवा वीतरागतामय है। साथ ही इस रूप आत्माको स्वय स्वात्माये देखने-जाननेकी प्रेरणा की गई है।

इन्द्रियज्ञान तथा मनके द्वारा आत्मा दृश्य नही

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वत ।
वितर्कास्तन्न[1] पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्ट-तर्कणा. ॥१६६॥

'रूपादिसे रहित होनेके कारण वह आत्मरूप इन्द्रिय-ज्ञानसे दिखाई देनेवाला नहीं है, तर्क करनेवाले उसे देखते नहीं। वे अपनी तर्कणामे विशेषरूपसे स्पष्ट नहीं हो पाते—उनके तर्क अस्पष्ट बने रहते है।'

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१६४) मे आत्माको आत्माके द्वारा देखनेकी जो प्रेरणा की गई है, उसे यहाँ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वह इन्द्रियज्ञानके द्वारा दृश्य नही है, क्योकि

---

१. मे स्त न।

इन्द्रियाँ वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श-विशिष्ट पदार्थको ही देखती हैं और आत्मा इन वर्णादिगुणोसे रहित है। अनुमानादि-द्वारा तर्क करनेवाले भी उसे देख नही पाते, क्योकि (पराश्रित होनेसे) अपनी तर्कणामे वे सदा अस्पष्ट बने रहते हैं। वितर्क श्रुतको कहते है[1] और श्रुत अनिन्द्रिय (मन) का विषय है[2]। इससे मन भी आत्माको देख नही पाता, यह यहाँ फलितार्थ हुआ।

इन्द्रिय-मनका व्यापार रुकनेपर स्वसंवित्ति-द्वारा आत्मदर्शन

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियम्।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्यैव दृश्यताम् ॥१६७॥

'इन्द्रिय और मन दोनोके निरुद्ध होने पर अतीन्द्रियज्ञान विशेषरूपसे स्पष्ट होता है (अतः) अपना वह रूप जो स्वसंवेदन-के गोचर हैं उसे स्वसंवेदनके द्वारा ही देखना चाहिये।'

व्याख्या—जब इन्द्रिय और मन दोनोके द्वारा आत्मा दृश्य नही है तब उसे किसके द्वारा देखा जाय? इस प्रश्नको लक्ष्यमे लेकर ही प्रस्तुत पद्यका अवतार हुआ जान पडता है। इसमे बतलाया है कि जब इन्द्रिय और मन दोनोका व्यापार निरुद्ध होता है—रोक लिया जाता है—तब अतीन्द्रिय-ज्ञान प्रकट होता है, जो कि अपनेमे विशेषत स्पष्टता अथवा विशदताको लिए रहता है। उस ज्ञानरूप स्वसंवित्तिके द्वारा ही उस आत्मस्वरूप-को देखना चाहिये जो कि स्वसंवेद्य है—अन्य किसीके द्वारा वह जाना नही जाता। इससे आत्म-दर्शनके लिये इन्द्रिय और मनके

---

१. वितर्क श्रुतम् (त० सू० ९-४३)।

२. श्रुतमनिन्द्रियस्य (त० सू० २-२१)।

व्यापारको रोकनेकी बडी जरूरत है और वह तभी रुक सकता है जब कि इन्द्रियो तथा मनको जीतकर उन्हें अपने आधीन किया जाय।

स्वसंवित्तिका स्पष्टीकरण

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येन चकासती[1]।
चेतना ज्ञानरूपेयं[2] स्वयं दृश्यत एव[3] हि ॥१६८॥

'स्वतन्त्रतासे चमकती हुई यह ज्ञानरूपा चेतना शरीररूपसे प्रतिभासित न होने पर भी स्वयं ही दिखाई पड़ती है।'

व्याख्या—यहाँ, पूर्वपद्यमे उल्लिखित स्वसंवित्तिको स्पष्ट करते हुए, बतलाया गया है कि यह संवित्ति ज्ञानरूपा चेतना है जो कि परकी अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्रताके साथ चमकती हुई स्वय ही दिखाई पडती है, शरीररूपसे उसका कोई प्रतिभास नही होता।

समाधिमे आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव न करनेवाला योगी आत्मध्यानी नही

[4]समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यान [5]मूर्च्छावन्मोह एव स ॥१६९॥

'समाधिमें स्थित योगी यदि आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं करता तो समझना चाहिये उस समय उसक आत्मध्यान नहीं किन्तु मूर्च्छावाला मोह ही है।'

---

१ मु चकासते, सि जु चकास्ति च। २ मु रूपेऽय।

३ सि जु आत्मना दृश्यतेव।

४ समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नाऽवभासते।
न तद्ध्यान त्वया देव ! गीत मोहस्वभावकम् ॥५॥
—ध्यानस्तवे, भास्करनन्दी

५. मु मे मूर्च्छावान्।

व्याख्या—यहाँ उस योगीके ध्यानको आत्मध्यान न बतलाकर मूर्छारूप मोह बतलाया है जो समाधिमे स्थित होकर भी आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव नही करता। और इससे यह साफ फलित होता है कि जो योगी वस्तुत' समाधिमे स्थित होगा वह आत्माको ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करेगा, जिसे ऐसा अनुभव नही होगा उसकी समाधिको समाधि न समझ कर मूर्छावान् मोह समझना होगा।

आत्मानुभवका फल

[1]तमेवानुभवश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति[2]।
[3]तथाऽऽत्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्[4]॥१७०॥

'उस ज्ञान-स्वरूप आत्माको अनुभवमे लाता हुआ यह समाधिस्थ योगी परम-एकाग्रताको प्राप्त होता है तथा उस स्वाधीन आनन्दका अनुभव करता है जो कि वचनके अगोचर है।'

व्याख्या—यहाँ, आत्मानुभवके फलको बतलाते हुए, लिखा है, कि जो समाधिस्थ योगी उस ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करता है वह परम एकाग्रताको और उस स्वाधीन सुखको प्राप्त होता है जिसे वाणीके द्वारा नही कह सकते। इससे स्पष्ट है कि आत्माका दर्शन होने पर ध्यानकी एकाग्रता बढ जाती है और उससे जिस स्वाभाविक आत्मीय आनन्दकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन नही किया जा सकता।

---

१. मु तदेवा। २. सि मात्मैकाग्र्यमृच्छति। ३. सि जु तदा।
४. मामेवाऽहं तथा पश्यन्नैकाग्र्य परमश्नुवे।
भजे मत्कन्दमानन्द निर्जरा-सवरावहम्॥ (अध्या०र० ४७)

स्वरूपनिष्ठ योगी एकाग्रताको नही छोडता

यथा निर्वात-देशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥१७१॥

'जिस प्रकार पवनरहित स्थानमे स्थित दीपक नहीं काँपता उसी प्रकार अपने स्वरूपमे स्थित योगी एकाग्रताको नहीं छोड़ता ।'

व्याख्या—जहाँ वायुका सचार नही हो ऐसे स्थान पर रखे हुए दीपककी शिखा जिस प्रकार काँपती नही—अडोल बनी रहती है—उसी प्रकार आत्मा जब बाह्यद्रव्योके ससर्गसे रहित हुआ अपने स्वरूपमे स्थित होता है तब वह एकाग्र बना रहता है—सहसा अपनी एकाग्रताको छोडता नही—बाह्य-पदार्थोंके ससर्गरूप वायुके सचारसे ही उसकी एकाग्रता भग होती है।

स्वात्मलीन योगीको बाह्य पदार्थोंका कुछ भी प्रतिभास नही होता

[1]तदा च [2]परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यत्र किंचनाऽऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥१७२॥

'उस समाधिकालमे स्वात्मामे देखनेवाले योगीको परम-एकाग्रताके कारण बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी उसे आत्माके अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता ।'

व्याख्या—जिस समय योगी परम-एकाग्रताको प्राप्त हुआ अपनेको अपने आत्मामे देखता है उस समय बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी उसे उनका कुछ भी भान नही होता । यह सब परमैकाग्रताकी महिमा है । और यही कुछ भी न चिन्तन-

---

१ यह पद्य सि जु प्रतियोमे नही है । २. मु परमे ।

का वह रूप है जिसकी सूचना पहले 'पूर्वं श्रुतेन संस्कारं' इत्यादि पद्य (१४४) मे की गई है।

अन्यशून्य भी आत्मा स्वरूपसे शून्य नही होता

[1]अत एवाऽन्य-शून्योऽपि नाऽऽत्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याऽशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥१७३॥

'इसीलिये अन्य बाह्यपदार्थोंसे शून्य होता हुआ भी आत्मा स्वरूपसे शून्य नहीं होता—अपने निजरूपको साथमे लिये रहता है। आत्माका यह शून्यता और अशून्यतामय स्वभाव आत्माके द्वारा ही उपलब्ध होता है—दूसरे किसी बाह्य-पदार्थके द्वारा नही।'

व्याख्या—पिछले पद्यमे जो यह बात कही गई है कि स्वात्मलीन योगीको बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए अन्य कुछ भी प्रतिभासित नही होता उसका फलितार्थ इतना ही है कि वह उस समय अन्यसे—दूसरे किसी भी पदार्थके सम्पर्कसे—शून्य होता है; परन्तु अन्यसे शून्य होता हुआ भी वह स्वरूपसे शून्य नही होता—स्वरूपको तो वह तल्लीनताके साथ देख ही रहा है। इस तरह आत्मा उस समय शून्याऽशून्य स्वभावको प्राप्त होता है—परद्रव्यादि-चतुष्टयके अभावकी अपेक्षा शून्य और स्वद्रव्यादि-चतुष्टयके सद्भावकी अपेक्षा अशून्य होता है, और यह शून्याऽशून्य स्वभाव भी आत्माके द्वारा ही उपलक्षित होता है—स्वसंवेद्य है।

मुक्तिके लिये नैरात्म्याद्वैतदर्शनकी उक्तिका स्पष्टीकरण

ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याऽद्वैत-दर्शनम्।
तदेतदेव यत्सम्यगन्याऽपोढाऽऽत्मदर्शनम् ॥१७४॥

---

१. ध्वस्ते मोहतमस्यन्तर्दृशाऽस्तेऽक्षमनोऽनिले।
शून्योऽप्यन्यैः स्वतोऽशून्यो मया दृश्येयमप्यहम्—अध्या० २० ४६

'और इसलिये मुक्तिकी प्राप्तिके अर्थ जो नैरात्म्य-अद्वैत-दर्शनकी बात कही गई है वह यही है, जो कि अन्यके आभाससे रहित सम्यक् आत्मदर्शनके रूप है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिकी प्राप्तिके लिये 'नैरात्म्याद्वैत-दर्शन'के कथनकी जिस उक्तिका निर्देश है वह किस आगम-ग्रन्थमें कही गई है यह अभी तक मालूम नही हो सका। परन्तु वह कही भी कही गई हो, उसका स्पष्ट आशय यहाँ यह व्यक्त किया गया है कि वह अन्यके आभाससे रहित केवल आत्मदर्शनके रूपमें है—उस आत्मदर्शनके समय दूसरी किसी भी वस्तुका कोई प्रतिभास नही होता, यदि दूसरी कोई वस्तु साथमें दिखाई पड रही है तो समझ लेना चाहिये कि वह अद्वैतदर्शन नही है।

[1]परस्पर-परावृत्ता सर्वे भावाः कथचन।
[2]नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्य तथाऽऽत्मनः ॥१७५॥

'सर्व पदार्थ कथंचित् परस्पर परावृत्त हैं—एक दूसरेसे पृथक्त्व (भिन्न स्वभाव)को लिए हुए हैं। जिस प्रकार देहादिरूप जगतके नैरात्मता—आत्म-रहितता—है उसी प्रकार आत्माके नैर्जगतता—जगतसे रहितता—है। कोई भी एक दूसरेके स्वरूपमे प्रविष्ट होकर तद्रूप नही हो जाता।'

व्याख्या—यहाँ 'नैरात्म्याद्वैतदर्शन'के विषयको स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि सर्वपदार्थ कथचित्–किसी एक दृष्टिसे–परस्पर परावृत्त हैं, सर्वथा नही। देहादिकके जिस प्रकार आत्मता नही उसी प्रकार आत्माके देहादिकता नही। परस्पर व्यावृत्त होते हुए भी कोई भी पदाथ एक दूसरेके स्वभावमें प्रविष्ट होकर तादात्म्यको प्राप्त नही होता।

---

१. सि जु परस्पर परावृत्ता, ज परस्पर पराहक्षा।

२. यथा जातु जगन्नाऽह तथाऽह न जगत् क्वचित् (अध्या० २०)

अन्यात्माऽभावो[1] नैरात्म्यं स्वात्म-सत्तात्मकश्च सः ।
स्वात्म-दर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्य-दर्शनम् ॥१७६॥

'अन्य आत्मरूपके अभावका नाम नैरात्म्य है और वह स्वात्मा-की सत्ताको लिये हुए है। अतः स्वात्माके दर्शनका नाम ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है।'

व्याख्या—यहाँ, 'नैरात्म्य' को उसकी निरुक्ति-द्वारा अन्यात्मा-के अभावरूप बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया है कि वह नैरात्म्य स्वात्माके अभाव-रूप नहीं, किन्तु स्वात्माकी सत्ताको लिये हुए है, और इसलिये आत्मदर्शन ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है।

आत्मानमन्य-सपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।
पश्यन्विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयम् ॥१७७॥

'जो आत्माको अन्यसे सपृक्त देखता है वह द्वैतको देखता है और जो अन्य सब पदार्थोंसे आत्माको विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है।'

व्याख्या—यहाँ, नैरात्म्यके साथ अद्वैतदर्शनकी बातको और स्पष्ट करते हुए, बतलाया गया है कि जो आत्माको अन्य देहादिक-से सयुक्त देखता है वह द्वैतको देखता है और जो आत्माको दूसरो-से विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है।

इस तरह 'नैरात्म्याद्वैतदर्शन' का अभिप्राय केवल शुद्धात्मा-के दर्शनसे ही है।

एकाग्रतासे आत्मदर्शनका फल

पश्यन्नात्मानमेकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान् ।
निरस्ताऽहं-ममीभावः[2] सवृणोत्यप्यनागतान् ॥१७८॥

---

१ मे अनात्माभावो।

२. ज निरस्ताहंममीभावात्।

'अहंकार-ममकारके भावसे रहित योगी एकाग्रतासे आत्माको देखता हुआ (आत्मा मे) संचित हुए कर्ममलोका जहाँ विनाश करता है वहाँ आनेवाले कर्ममलोंको भी रोकता है—इस तरह विना किसी विशेषप्रयत्नके सवर और निर्जरारूप प्रवृत्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ एकाग्रतासे आत्म-दर्शनके फलका निर्देश करते हुए उसके दो फल वतलाये हैं—एक आत्मासे सचित कर्ममलोकी निर्जरा (निकासी) और दूसरा आत्मामे नये कर्ममलोके प्रवेशको रोकनेरूप सवर। ये दोनो फल एक ही शुद्धात्मभावकी दो शक्तियोंके कारण उसी प्रकार घटित होते हैं, जिस प्रकार सचिक्कणताका अभाव हो जाने पर पहलेसे चिपटी हुई धूलि स्वय झड जाती है और नई धूलिको आकर चिपटनेका कोई अवसर नही रहता। यही बात 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' के निम्न दो पद्योमे एक ही शुद्धभाव भावसवर तथा भावनिर्जरा ऐसे दो कार्यरूप कैसे परिणमता है, इस शकाका समाधान करते हुए, स्पष्ट की गई है —

एकः शुद्धो हि भावो ननु कथमिति जीवस्य शुद्धात्मबोधाद्
भावाख्य. सवर स्यात्स इति खलु तथा निर्जरा भावसंज्ञा।
भावस्यैकत्वतस्ते मतिरिति यन्नैव शक्तिद्वयात्स्यात्
पूर्वोपात्तं हि कर्म स्वयमिह विगलेन्नैव बध्येत नव्यम् ॥४-१०॥
स्नेहाभ्यगाभावे गलति रज पूर्वबद्धमिह नूनम्।
नाऽप्यागच्छति नव्य यथा तथा शुद्धभावतस्तौ द्वौ ॥४-११॥

स्वात्मामे स्थिरताकी वृद्धिके साथ समाधि-प्रत्ययोका प्रस्फुटन

[1]यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिम्।
समाधिप्रत्ययाश्चाऽस्य स्फुटिष्यन्ति तथा[2] तथा ॥१७९॥

---

१. सि जु यदा। २. सि जु तदा।

'समाधिमें प्रवृत्त होनेवाला योगी जैसे-जैसे स्वात्मामे स्थिरताको प्राप्त होता जायगा तैसे-तैसे समाधिके प्रत्यय भी उसके प्रस्फुटित होते जायेंगे।'

व्याख्या—'सम्यग्गुरूपदेशेन' इत्यादि पद्य (८७) मे ध्यानके प्रत्ययो-चमत्कारोका जो आश्वासन दिया गया था उसीको पूर्ववर्ती इतने गुरूपदेशके बाद, स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि समाधिमे स्थित ध्याता जैसे-जैसे अपने आत्मामे स्थिरताको प्राप्त होता जायगा समाधिके अतिशय अथवा चमत्कार भी वैसे-वैसे प्रस्फुटित होते जायेंगे। इससे समाधि-प्रत्ययोका प्रस्फुटन स्वात्मामे उस अधिकाधिक लीनता एव स्थिरता पर निर्भर है जिसका ग्रन्थमे इससे पहले निरूपण किया गया है। और इसलिये जो ध्याता उस प्रकारकी स्वात्मस्थिति प्राप्त किये बिना ही साधारण जप-जाप्य अथवा ध्यान सामायिकादिके बल पर चमत्कारोकी आशा रखता है वह उसकी भूल है। उसे अहकार-ममकारके त्याग और इन्द्रिय-मनके निग्रहपूर्वक ध्यानका दृढताके साथ सम्यक् अभ्यास कर स्वात्म-ध्यानमे स्थिरताको उत्तरोत्तर बढाना चाहिये। जैसे जैसे यह स्थिरता बढेगी वैसे-वैसे ही ध्यान अथवा समाधिके अतिशय-चमत्कारोको प्रकट होनेका अवसर मिलेगा।

स्वात्मदर्शन धर्म्य-शुक्ल दोनो ध्यानोका ध्येय है

[1]एतद्द्वयोरपि[2] ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धि-स्वामि-भेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यताम् ॥१८०॥

---

१. साधारणमिद ध्येय ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयो.।
विशुद्धि-स्वामि-भेदात्तु तद्विशेषोऽवधार्यताम् ॥ (आर्ष २१-१३१)
इस आर्ष-वाक्यमे प्रयुक्त 'ध्येय' पद अर्हत्सिद्धरूप परमात्माका वाचक है।

२. ज एव द्वयोरपि, सि जु एतयोरपि।

'यह स्वात्मदर्शन अथवा नैरात्म्याद्वैतदर्शन धर्म्य और शुक्ल दोनो ही ध्यानोका ध्येय है। विशुद्धि और स्वामीके भेदसे दोनों ध्यानोंका भेद निश्चित किया जाना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ इस स्वात्मरूपके दर्शनको धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान दोनोका ही लक्ष्यभूत विषय बतलाया है और यह सूचना की है कि इन दोनो ध्यानोमे परस्पर विशुद्धि और स्वामि-भेदकी अपेक्षासे जो भेद है, उसे अवधारण करना चाहिये। धर्म्य-ध्यानसे शुक्लध्यानमे परिणामोकी विशुद्धि अधिकाधिक-असख्या-तगुणी तथा अनन्तगुणी है। शुक्लध्यानके चार भेदोमेसे प्रथम दो भेदोके स्वामी पूर्ववेद-श्रुतकेवली है, जो कि श्रेण्यारोहणके पूर्व धर्म्यध्यानके भी स्वामी है, और शेष दो भेदो अथवा परमशुक्ल-ध्यानके[1] स्वामी केवली भगवान् है। धर्म्यध्यानके स्वामी अवि-रत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, प्रमत्तसयत-अप्रमत्तसयत-मुनि तथा श्रेण्यारोहणसे पूर्ववर्ती दूसरे मुनि भी हैं।

प्रस्तुत ध्येयके ध्यानकी दुःशक्यता और उसके अभ्यासकी प्रेरणा

इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानाऽवलम्बनात्।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागेव[2] लक्ष्यते ॥१८१॥

---

१ शुक्लध्यानके शुक्ल और परमशुक्ल ऐसे दो भेद भी आगममे प्रतिपादित हुए हैं जिनमेसे प्रथमके स्वामी छद्मस्थ और दूसरेके स्वामी केवली भगवान् होते हैं, जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

शुक्ल परमशुक्ल चेत्याम्नाये तद् द्विधोदितम्।
छद्मस्थस्वामिक पूर्वं पर केवलिना मत ॥
—आर्ष २१-१६७

२ मु द्रागवलक्ष्यते।

तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टाऽदृष्टफलं[1] च यत् ।
स्थूलं वितर्कमालम्ब्य तदभ्यस्यन्तु धीधनाः ॥१८२॥

'यह आत्माका अद्वैतदर्शन सूक्ष्म-ज्ञान पर अवलम्बित होनेसे ध्यानके लिये बड़ा ही कठिन विषय है और विशिष्ट ज्ञानियोंके द्वारा समझाया जाने पर भी शीघ्र ही लक्षित नही होता। अतः जो बुद्धिधनके धनी ज्ञानीजन हैं वे लक्ष्यको, शक्य (संभाव्य) को, दृष्ट और अदृष्टफलको स्थूल वितर्कका विषय बनाकर उसका अभ्यास करें।'

व्याख्या—यहाँ प्रस्तुत ध्येयके ध्यानकी दु शक्यताका सहेतुक उल्लेख करते हुए बुद्धिमानोको स्थूल वितर्कका आश्रय लेकर उसके ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा की गई है । स्थूलवितर्कके विषय लक्ष्य, शक्य, दृष्टफल और अदृष्टफल ये चार हैं।

अभ्यासका क्रमनिर्देश

[2]तत्राऽऽदौ पिण्डसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च ।
मारुतीं तैजसीमाप्यां[3] विदध्याद्धारणां क्रमात् ॥१८३॥

'उस अभ्यासमें पहले पिण्ड (देह) की सिद्धि और शुद्धि (निर्मलीकरण) के लिये क्रमश. मारुती, तैजसी और आप्या (वारुणी) धारणाका अनुष्ठान करना चाहिये।'

व्याख्या—जिस अभ्यासकी पूर्वपद्यमे प्रेरणा की गई है उसकी अति सक्षिप्त सूचनामात्र विधि इस पद्य तथा अगले चार पद्योमे दी गई है। इस पद्यमे सबसे पहले शरीरकी सिद्धि—स्ववशमे स्थिति—और शुद्धिके लिये क्रमश मारुती, आग्नेयी और जलमयी

---

१. आ दृष्ट दृष्टफल ।

२ इसे मु मे प्रतियोमे १८५वें पद्यके रूपमे दिया है। इससे अगले दो पद्योंके क्रमाङ्क भी उनमे बदले हुए हैं। ३. मु माया।

धारणा (वारुणी) के विधानकी सूचना है। यहाँ जिन तीन धारणाओका विधान है वे ज्ञानार्णव तथा योगशास्त्रमे वर्णित पार्थिवी आदि पाच धारणाओंके अन्तर्गत प्राय इन्ही नामोकी तीन धारणाओसे कुछ भिन्नक्रम तथा भिन्नस्वरूपको लिये हुए हैं, जैसा कि अगले कुछ पद्यो और उनकी व्याख्यासे प्रकट है।

[1]अकारं मरुता पूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च ॥१८४॥
ह-मंत्रो नभसि ध्येय. क्षरन्नमृतमात्मनि।
तेनाऽन्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम् ॥१८५॥
ततः पचनमस्कारैः पंचपिंडाक्षराऽन्वितैः।
पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलीक्रियाम्[2] ॥१८६॥
पश्चादात्मानमर्हन्त ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम्।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्तं ज्ञान-भास्वरम्[3] ॥१८७॥

'(नाभिकमलकी कर्णिकामे स्थित) अर्हं मंत्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और (कुम्भकपवनके द्वारा) कुम्भित करके, रेफ (ॅ) की अग्निसे (हृदयस्थ) कर्मचक्रको अपने शरीर-सहित भस्म करके और फिर भस्मको (रेचकपवन-द्वारा) स्वयं विरेचित करके 'ह' मंत्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिये कि उससे आत्मामे अमृत झर रहा है और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है। तत्पश्चात् पंच पिण्डाक्षरो (ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः) से (यथाक्रम) युक्त और शरीरके पांच स्थानोमें विन्यस्त हुए पंच-नमस्कारमन्त्रोसे—णमो अरहंताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरि-

---

१. मु मे आकार। २ मु सकला। ३ मु मे भासुर।

याणं, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण, इन मूल णमोकारमन्त्रके पाँच पदोसे—सकलीक्रिया करके तदनन्तर आत्माको निर्दिष्टलक्षण अर्हन्तरूप ध्यावे अथवा सकल-कर्म-रहित अमूर्तिक और ज्ञानभास्कर ऐसे सिद्धस्वरूप ध्यावे ।'

व्याख्या—इन पद्योमेसे प्रथम दो पद्योमे मारुती, आग्नेयी और पीयूषमयी जलधारणाकी विधि-व्यवस्थाको साकेतिक रूपमे सूचित किया है, जिसमे अन्तिम धारणा-द्वारा अमृतमय नवशरीरके निर्माणकी भी सूचना शामिल है। तीसरे पद्यमे नव-निर्मित शरीरको सकलीकरण-क्रियासे सुसज्जित करनेका विधान है, जो विघ्नबाधाओसे अपनेको सुरक्षित करनेकी क्रिया कही जाती है[1]। चौथे पद्यमे सकलीकरण-क्रियाके अनन्तर अर्हन्त अथवा सिद्धको निर्दिष्ट लक्षणके रूपमे ध्यानेकी प्रेरणा की गई है। अर्हन्तका यह ध्यानके योग्य निर्दिष्ट लक्षण ग्रन्थके १२३ से १२८ तक छह पद्योमे वर्णित है और सिद्धोका निर्दिष्ट लक्षण प्राय. पद्य १२० से १२२ मे दिया जा चुका है—उसके विवक्षित शेष रूपका सकलन यहाँ १८७ वें पद्यमे किया गया है, जो कि 'ध्वस्तकर्माण' और 'ज्ञानभास्वर' के रूपमे है।

जिस नाभि-कमलकी कर्णिकामे 'अर्हं' या 'अ'-पूर्वक 'हं' मंत्रकी स्थितिकी बात कही गई है वह अतिमनोहर सोलह उन्नत पत्रोका होता है, जिनपर १६ स्वरोको अकित करके चिन्तन किया जाता है[2]। जिस कर्मचक्रको रेफकी अग्निसे जलानेकी बात कही

---

१. सिसाधयिषुणा विद्यामविघ्नेनेष्टसिद्धये ।
यत्स्वस्य क्रियते रक्षा सा भवेत्सकलीक्रिया ।। (विद्यानु० परि०३)

२. "ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात् कमल नाभिमण्डल । स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ।। प्रतिपत्रसमासीनस्वरमालाविराजितम् ।
कर्णिकाया महामन्त्र विस्फुरन्त विचिन्तयेत् ।। (ज्ञाना० ३८-१०,११)
"नाभौ षोडश विद्यात्तदग्रचष्टासु दलमध्यग ।

गई है वह हृदयस्थ आठ पत्रोका मुकुलित अधोमुख कमल होता है, जिसके आठो पत्रो पर ज्ञानावरणादि आठ कर्म आत्माको घेरे हुए स्थित होते हैं। इस कमलके आठो दलोको कुम्भक-पवनके बलसे खोलकर–फैलाकर उक्त 'हँ' बीजाक्षरके रेफसे उत्पन्न हुई प्रबलाग्निसे भस्म किया जाता है[1]। कर्मकमलके दहनानन्तर त्रिकोणाकार अग्निमण्डलके द्वारा स्वशरीरके दहन-का भी चिन्तन किया जाता है, जिसकी सूचना 'कर्म' के साथ 'स्ववपुषा' पदके प्रयोग-द्वारा की गई है और जिसका स्पष्टीकरण ज्ञानार्णवके निम्न पद्योसे होता है:—

ततो वह्नि॰ शरीरस्य त्रिकोण वह्निमंडलम् ।
स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ॥१६॥
वह्निबीज-समाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाऽङ्कितम् ।
ऊर्ध्ववायुपुरोद्भूत निर्धूमं कांचनप्रभम् ॥१७॥
अन्तर्दहति मंत्रार्चिर्बहिर्वह्निपुर पुरम् ।
धगद्धगिति विस्फूर्जज्ज्वाला-प्रचय-भासुरम् ॥१८॥
भस्मभावमसौ नीत्वा शरीर तच्च पकज ।
दाह्याभावात्स्वय शान्ति याति वह्नि॰ शनै॰ शनै ॥१६॥

अष्टकर्मदल कमल और शरीरके भस्मीभूत हो जाने पर उस भस्मके विरेचनका—उत्सर्गका—चिन्तन किया जाता है, जो

---

१ "हृद्यष्टकर्मनिर्माण द्विचतु पत्रमम्बुज ।
मुकुलीभूतमात्मानमावृत्यावस्थित स्मरेत् ।
कुंभकेन तदम्भोजपत्राणि विकचय्य च ।
निर्दहेन्नाभिपकेज बीजविन्दु-शिखाग्निना ।
(विद्यानु॰ ३-७६,८०)

"तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम् ।
दहत्येव महामन्त्र-ध्यानोत्थप्रबलोऽनल ॥ (ज्ञाना॰ ३८-१५)

विरेचक पवनके द्वारा होता है[1]। इसके पश्चात् नभ स्थित 'ह' मन्त्रसे झरते हुए अमृतसे जिस अमृतमय एव उज्ज्वल नव शरीर-का निर्माण होता है उसकी रक्षाके लिए जिस सकलीक्रिया-की व्यवस्थाका विधान किया गया है, वह नमस्कारमन्त्रके पाँच पदोको क्रमश. 'ह्राँ ह्री ह्रूँ ह्रौ ह्र' इन पाँच पिंडाक्षरोंसे (जिन्हे शून्यवीज भी कहते है) युक्त करके शरीरके पाँच स्थानो पर विन्यस्त करनेसे वनती है। शरीरके वे पाँच स्थान कौनसे है? यह मूलपद्यसे कुछ स्पष्ट नही होता। मल्लिपेणाचार्यकृत भैरव-पद्मावती-कल्पके 'सकलीकरण' नामक द्वितीय परिच्छेदमे शिर, मुख, हृदय, नाभि और पादद्वय इन पाँच स्थानोका उल्लेख है और इनमे 'णमो अरिहताण' आदि पाँच मन्त्र-पदोका क्रमश. 'ह्राँ' आदि एक-एक वीज पदके साथ न्यासका विधान है—भले ही पूर्वमे ॐ और अन्तमे 'स्वाहा' शब्द भी वहाँ जोडा गया है[2], जो यहाँ विवक्षित नही है, परन्तु विद्यानुशासनके तृतीय परिच्छेदगत सकलीकरण-विधानमे 'ॐ ह्राँ णमो अरिहताण' का हृदयमे 'ॐ ह्री णमो सिद्धाण' का शिरके पूर्व भागमे, 'ॐ ह्रूँ णमो आइरियाण' का शिरके दक्षिण भागमे, 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाण' का शिरके पश्चिम भागमे और 'ॐ ह्र णमो लोए सव्वसाहूण' पदका शिरके वामभागमे न्यासका विधान है। साथ ही, इन पाँचो नमस्कारमत्रोको अपने-अपने वीजपदके

---

१. दहन कुंभकेन स्याद् भस्मोत्सर्गश्च रेचकैः। (विद्यानु० परि० ३)

२. पञ्चनमस्कारपदैः प्रत्येक प्रणवपूर्व-होमान्त्यैः।
पूर्वोक्तपचशून्यैः परमेष्ठिपदाग्रविन्यस्तैः ॥३॥
शीर्षं वदन हृदय नाभि पादौ च रक्ष रक्षेति।
कुर्यादेतैर्मंत्री प्रतिदिवस स्वागविन्यासम् ॥४॥
—भैरवपद्मा०

साथ द्वितीयवार शिर पर ही क्रमश भाल, मस्तक, दक्षिण, पश्चिम, और उत्तर भागमे न्यस्त करनेका विधान किया है[1]।

इन विभिन्न उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि सकलीकरण-विषयक-मन्त्रादि-पदोके विन्यासका कोई एक ही क्रम निर्दिष्ट नही है। जहाँ जिस-जिस कार्यके साथ जैसी व्यवस्था है वहाँ उस-उस कार्यको उसी व्यवस्थाके साथ ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार मूल पद्योमे सांकेतिकरूपसे स्थित गूढ अर्थका यह यत्किंचित् स्पष्टीकरण है, जो यथाशक्ति ग्रन्थान्तरोके आधार पर किया गया है। विशेष जानकारी इस विषयके विशेषज्ञो अथवा अनुभवी विद्वानोसे ही प्राप्त हो सकेगी।

स्वात्माके अर्हद्रूपसे ध्यानमे भ्रान्तिकी आशंका

नन्वनर्हन्तमात्मानमर्हन्तं ध्यायतां सताम्।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो[2] भ्रान्तिर्भवतां भवतीति चेत् ॥१८८॥

'यहाँ कोई शिष्य शका करता है कि जो आत्मा अर्हन्त नहीं उसको अर्हन्तरूपसे ध्यान करनेवाले आप सत्पुरुषोंके क्या जो वस्तु जिस रूपमे नहीं उसे उस रूपमे ग्रहणरूप भ्रान्ति नहीं होती है ?'

---

१ हृदि न्यसेन्नमस्कारमो ह्रां पूर्वकमर्हताम्।
पूर्वे शिरसि सिद्धानामो ह्रीं पूर्वा स्तुतिं न्यसेत् ॥७२॥
ॐ ह्रूं पूर्वक्रमाचार्यस्तोत्रं शीर्षस्य दक्षिणे।
ॐ ह्रौं पूर्वमुपाध्यायस्तव पश्चिमतो न्यसेत् ॥७३॥
वामे पार्श्वे न्यसेद् ॐ ह्र पूर्वां साधुनमस्कृतिम्।
तत पचाप्यमून् मन्त्रान् शिरस्येव पुनर्न्यसेत् ॥७४॥
प्राग्भागे शिरसो मूर्ध्नि दक्षिणे पश्चिमे तथा।
वामे चेत्येष विन्यासक्रमो वारे द्वितीयके ॥७५॥ —विद्यानु०

२ ज तद्ग्रहे।

व्याख्या—जो वस्तु जिस रूपमे स्थित है उसे उस रूपमे ग्रहण न करके विपरीतरूपमे ग्रहण करना भ्रान्तिका सूचक होता है। अत' अपना आत्मा जो अर्हन्त नही उसे अर्हन्तरूपमे ध्यान करनेवाले आप जैसे सत्पुरुषोके क्या भ्रान्तिका होना नही कहा जायगा ? ऐसा शिष्यने गुरुसे यहाँ प्रश्न किया है अथवा उनके सामने अपनी शकाको उपस्थित किया है। इस शकाका समाधान आगे (२१२ वे पद्य तक) किया गया है।

भ्रान्तिकी शकाका समाधान

तन्न चोद्य यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः।
स चाऽर्हद्ध्यान-निष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ॥१८९॥

'उक्त शका ठीक नहीं है; क्योकि हमारे द्वारा यह भाव-अर्हन्त विवक्षित है और वह भाव-अर्हन्त अर्हन्तके ध्यानमें लीन आत्मा है, अतः उस अर्हद्ध्यान-लीन आत्मामे ही अर्हन्तका ग्रहण है—और इसलिये भ्रान्तिकी कोई वात नही है।'

व्याख्या—यहाँ शकाको ठीक न वतलाते हुए जो मुख्य वात कही गई है वह यह है कि हमारे उक्त ध्यानकथनमे 'भाव-अर्हन्त' विवक्षित है—द्रव्य-अर्हन्त नही। जो आत्मा अर्हद्ध्यानाविष्ट होता है—अर्हन्तका ध्यान करते हुए उसमे पूर्णत लीन होजाता है—वह उस समय भावसे अर्हन्त होता है, उस भाव-अर्हन्तमें ही अर्हन्तका ग्रहण है।अत. 'अतस्मिंस्तद्ग्रह' का—जो जिस रूपमे नही उसे उस रूपमे ग्रहणका—दोष नही आता।

परिणमते येनाऽऽत्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाऽऽविष्टो भावार्हन्[2] स्यात्स्वयं तस्मात् ॥१९०

---

१. सि जु भावार्हद्ध्यान। २ मु सि जु भावार्ह ।

'जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भावके साथ तन्मय होता है अतः अर्हद्ध्यानसे व्याप्त आत्मा स्वयं भाव-अर्हन्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ अर्हद्ध्यानाविष्ट आत्मा भावार्हन्त कैसे होता है, इस विषयके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है और वह यह है कि 'जो आत्मा जिस समय जिस भावसे परिणमन करता है वह उस समय उस भावके साथ तन्मय होता है और तन्मय होनेसे ही तद्रूप कहा जाता है'। इसीसे अर्हन्तके ध्यानमे तद्रूप परिणत हुआ आत्मा स्वय भाव-अर्हन्त होजाता है। इस तद्रूप-परिणमनके सिद्धान्तका निरूपण श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचन-सारके निम्नवाक्यमे भी किया है, जिसमे 'धर्म-परिणत आत्माको धर्म' बतलाया है —

> परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मयत्ति पण्णत्त ।
> तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ।।८।।

'येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ।।१९१।।

'आत्मज्ञानी आत्माको जिस भावसे जिस रूप ध्याता है उस-के साथ वह उसी प्रकार तन्मय होजाता है जिस प्रकार कि उपा-धिके साथ स्फटिक।'

---

१. जेण सरुवि झाइयइ अप्पा एहु अणतु ।
तेण सरुवि परिणवइ जह फलिहउ-मणिमतु ।। (परमात्मप्र० २-१७३)
येन येनैव भावेन युज्यते यत्रवाहक ।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ।। (अमितगतियोगसार ९-५१)
येन येन हि भावेन युज्यते यत्रवाहकः ।
तेन तन्मयता याति विश्वरूपो मणिर्यथा ।। (ज्ञानार्णव, योगशास्त्र

व्याख्या—यहाँ, सोपाधि-स्फटिकके उदाहरण-द्वारा तन्मयता-की बातको स्पष्ट करते हुए, यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार स्फटिकमणि, जिसे विश्वरूपमणि भी कहते हैं, जिस-जिस रूप-की उपाधिके साथ सम्बन्ध करता है उस-उस रूपकी उपाधिके साथ तन्मयता (तद्रूपता) को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्म-ज्ञानी आत्माको जिस भावके साथ जिस रूप ध्याता है उसके साथ वह उसी रूप तन्मयताको प्राप्त होता है।

अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मका. ।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥१९२॥
ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा ।
भव्येष्वास्ते सतश्चाऽस्य ध्याने को नाम विभ्रमः ॥१९३

'**अथवा सर्वद्रव्योंमें भूत और भावी स्वपर्यायें तदात्मक हुई द्रव्यरूपसे सदा विद्यमान रहती हैं। अत. यह भावी अर्हत्पर्याय भव्यजीवोमे सदा विद्यमान है, तब इस सत्रूपसे स्थित अर्हत्प-र्यायके ध्यानमे विभ्रमका क्या काम ?**—अपने आत्माको अर्हन्त-रूपसे ध्यानेमे विभ्रमकी कोई बात नही है। यही भ्रान्तिके अभावकी बात अपने आत्माको सिद्धरूप ध्यानेके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ शकाका समाधान एक दूसरी सैद्धान्तिकदृष्टि-से किया गया है और वह यह कि सर्वद्रव्योमे उनकी भूत और भावी स्वपर्यायें द्रव्यरूपसे तदात्मक हुई सदा स्थिर रहती हैं—द्रव्यसे उसको स्वपर्यायें कभी जुदा नही होती और न द्रव्य ही स्वपर्यायोसे कभी जुदा होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार भव्य-जीवोमे यह भावी अर्हत्पर्याय द्रव्यरूपसे तदात्मक हुई सदा विद्य-मान है। अत भव्यात्मामे सदा स्थित इस सत्रूप अर्हत्पर्यायके ध्यानमे विभ्रमकी कौनसी बात है ? कोई भी नही।

यहाँ द्रव्यकी जिन स्वपर्यायोका उल्लेख है वे द्रव्यान्तरके सयोगके विना ही स्वभावसे होनेवाली वस्तु-प्रदेशपिण्डके रूपमे स्वाभाविक द्रव्यज-पर्याये हैं। इनके विपरीत जो द्रव्यान्तरके सयोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रदेशपिण्डरूप पर्याये होती हैं उन्हे वैभाविक द्रव्यज पर्याये कहते हैं और वे जीव तथा पुद्गल इन दो द्रव्योमे ही होती हैं—शेषमे नही, जैसा कि अध्यात्मकमलमार्तण्डके द्वितीय परिच्छेदके निम्न दो पद्योसे प्रकट है .—

यो द्रव्यान्तर-समिति विनैव वस्तुप्रदेशसपिण्डः।
नैसर्गिकपर्यायो द्रव्यज इति शेषमेव गदित स्यात् ॥११॥
द्रव्यान्तर-सयोगादुत्पन्नो देशसचयो द्रव्यज ।
वैभाविकपर्यायो द्रव्यज इति जीव-पुद्गलयो. ॥१२॥

जो सयोगज पर्याये होती हैं उनका द्रव्यमे सदा अस्तित्व नही बनता, जिसके लिये मूलमे 'सर्वदा' 'सत.' जैसे पदोका प्रयोग किया गया है, और इसलिए उनको परपर्याय तथा बाह्यभाव कहा जाता है [1]।

अर्हद्रूप ध्यानको भ्रान्त मानने पर ध्यान-फल नही बनता

[2]किं च भ्रान्त यदीद स्यात्तदा नाऽत्त फलोदयः।
नहि मिथ्याजलाज्जातु विच्छित्तिर्जायते तृषः ॥१९४॥
प्रादुर्भवन्ति चाऽमुष्मात्फलानि ध्यानवर्त्तिनाम्।
धारणा-वशतः शान्त-क्रूर-रूपाण्यनेकधा ॥१९५॥

'और यदि किसी तरह इस ध्यानको भ्रान्तरूप मान भी लिया जाय तो इससे फलका उदय नहीं बन सकेगा; क्योकि मिथ्याजलसे

---

१ एगो मे सस्सदो आदा णाणदसण-लक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे सजोग-लक्खणा (नियमसार)

२. मे किं विभ्रान्त । ३. आ ज मे धारणा वसत ।

कभी तृषाका नाश नही होता—प्यास नही बुझती। किन्तु इस ध्यानसे ध्यानवर्तियोके धारणाके अनुसार शान्तरूप और क्रूररूप अनेक प्रकारके फल उदयको प्राप्त होते हैं—ऐसा देखनेमे आता है।'

व्याख्या—यहाँ एक तीसरी दृष्टिसे शकाके समाधानकी बात-को लिया गया है और वह यह कि 'यदि इस अर्हद्रूपमे आत्म-ध्यानको भ्रान्त मान लिया जाय तो इससे किसी फलकी प्राप्ति नही बनती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिथ्याजलसे कभी प्यास नही बुझती। परन्तु ऐसा नही है, ध्यान करनेवालोके इस ध्यान-से धारणाके अनुसार अनेक प्रकारके शान्त तथा क्रूररूप फलोकी प्रादुर्भूति देखनेमे आती है और इसलिए इस ध्यानको भ्रान्त नही कहा जा सकता।

आगे इस ध्यानके फलोंको स्पष्ट किया गया है।

ध्यान-फलका स्पष्टीकरण

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमान. समाहितैः।
अनन्तशक्तिरात्माऽयं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥१९६॥

'सम्यक्गुरुके उपदेशको प्राप्त हुए एकाग्र-ध्यानियोंके द्वारा ध्यान किया जाता हुआ यह अनन्त शक्तियुक्त अर्हन् आत्मा मुक्ति तथा भुक्तिको प्रदान करता है।'

व्याख्या—यहाँ अर्हद्रूप आत्मध्यानके बलसे मुक्ति तथा भुक्ति-को प्राप्ति होती है, ऐसा सूचित किया गया है। किसको मुक्तिकी और किसको भुक्तिको प्राप्ति होती है, यह आगे बतलाया गया है।

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये।
तद्ध्यानोपात्त-पुण्यस्य स एवाऽन्यस्य भुक्तये ॥१९७॥

'अर्हद्रूप अथवा सिद्ध-रूपसे ध्यान किया गया (यह आत्मा) चरमशरीरी ध्याताके मुक्तिका और उससे भिन्न अन्य ध्याताके भुक्तिका कारण बनता है, जिसने उस ध्यानसे विशिष्ट पुण्यका उपार्जन किया है।'

व्याख्या—यहाँ, अर्हद्रूप अथवा सिद्धरूप दोनो प्रकारके आत्म-ध्यानसे मुक्ति तथा भुक्ति-प्राप्तिकी सूचना करते हुए, यह स्पष्ट किया गया है कि जो चरमशरीरी है—जिसको अपने वर्तमान शरीरके अनन्तर दूसरा शरीर धारण करना नही है—उसको तो मुक्तिकी प्राप्ति होती है और जो चरमशरीरी नही है—जिसे अभी ससारमे दूसरा जन्म लेना है—उसे भुक्तिकी—स्वर्गादिके सातिशय भोगोकी-प्राप्ति होती है।

ज्ञान श्रीरायुरारोग्य[1] तुष्टिः[2] पुष्टिर्वपुर्धृतिः ।
यत्प्रशस्तमिहाऽन्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते ॥१९८॥

'ज्ञान, श्री (लक्ष्मी, विभूति, वाणी, शोभा, प्रभा, उच्चस्थिति) आयु, आरोग्य, सन्तोष, पोष, शरीर, धैर्य तथा और भी जो कुछ इस लोकमे प्रशस्तरूप वस्तुएँ हैं वे सब ध्याताको (इस ध्यानके बलसे) प्राप्त होती हैं।'

व्याख्या—यहाँ आत्माके अर्हत्सिद्धरूप ध्यानसे होनेवाले लाभोकी सूचना की गई है और यह बतलाया गया है कि और भी जो कुछ अच्छी वस्तुओका लाभ है वह सब इस ध्यानसे प्राप्त होता है।

तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकम्पन्ते महाग्रहाः ।
नश्यन्ति भूत-शाकिन्यः क्रूराः शाम्यन्ति च क्षणात् ॥१९९॥

---

१. मे श्रीरारोग्य । २. मु तुष्टिपुष्टि ।

'उस अर्हत् अथवा सिद्धके ध्यानसे व्याप्त आत्माको देखकर महाग्रह—सूर्य-चन्द्रमादिक--प्रकम्पित होते हैं, भूत तथा शाकिनियाँ नाशको प्राप्त हो जाती हैं—अपना कोई प्रभाव जमाने नही पाती—और क्रूर जीव क्षणमात्रमे अपनी क्रूरता छोड़कर शान्त बन जाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ दूसरो पर इस ध्यानका क्या प्रभाव पडता है उसे यत्किंचित् सूचित किया गया है और उसमे महाग्रहोके प्रकम्पन, भूतो तथा शाकिनियोके पलायन और क्रूर-जन्तुओंके क्षणभरमे शमनकी बात कही गई है।

ध्यान-द्वारा कार्यसिद्धिका व्यापक सिद्धान्त

यो यत्कर्म-प्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्ट-मानसः[1]।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्म-वांछितम्॥२००

' जो जिस कर्मका स्वामी अथवा जिस कर्मके करनेमें समर्थ देव है उसके ध्यानसे व्याप्तचित्त हुआ ध्याता उस देवतारूप होकर अपना वांछित अर्थ सिद्ध करता है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके फलका व्यापक सिद्धान्त बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया गया है कि जो देवता (शक्ति या व्यक्ति-विशेष) जिस कर्मके करनेमे समर्थ अथवा उसका अधिष्ठाता-स्वामी है उसको ध्यानाविष्ट करनेवाला ध्याता तदात्मक होकर अपने वांछित कार्यको सिद्ध करता है।

वैसे कुछ ध्यानो और उनके फलका निर्देश

पार्श्वनाथ-भवन्मंत्री सकलीकृत-विग्रहः।
महामुद्रां महामंत्रं महामण्डलमाश्रितः॥२०१॥

---

१. मु मे मात्मन। २. मु सि ज़ु पार्श्वनाथो।

[1]तैजसी-प्रभृतीर्बिभ्रद्धारणाश्च यथोचितम् ।
निग्रहादीनुदग्राणां ग्रहाणां कुरुते द्रुतम् ॥२०२॥

'जो मन्त्री—मन्त्राराधक योगी—शरीरको सकलीक्रियासे सम्पन्न किए हुए है, महामुद्रा, महामन्त्र तथा महामण्डलका आश्रय लिए हुए है और तैजसी आदि धारणाओको यथोचितरूपमें धारण किए हुए है वह पार्श्वनाथ होता हुआ—अपनेको पार्श्वनाथरूपमे ध्याता हुआ—शीघ्र ही उग्रग्रहोंके निग्रहादिकको करता है।'

व्याख्या—यहाँ देवताविशेषके ध्यान करनेका निरूपण करते हुए प्रथम ही श्रीपार्श्वनाथके ध्यानको लिया है। इस ध्यान-द्वारा पार्श्वनाथ होता हुआ मन्त्री–योगी शीघ्र ही उग्रग्रहोका निग्रह आदिक करनेमे समर्थ होता है। पार्श्वनाथके ध्यान-द्वारा इस कर्मको करनेवाला योगी 'सकलीकृत-विग्रह' होना चाहिये, महामुद्रा, महामन्त्र और महामण्डलको आश्रित किये हुए होना चाहिए और साथ ही तैजसी (आग्नेयी) आदि धारणाओको यथोचित-रूपमे धारण किये हुए होना चाहिए।

यहाँ उल्लिखित सकलीकरण, महामुद्रा, महामन्त्र, महामण्डल, और तैजसी आदि धारणाओका क्या रूप है यह सब उस मन्त्राराधक योगीके जाननेका विषय है, जिसे यथावश्यक ग्रन्थान्तरोसे जानना चाहिये।

स्वयमाखण्डलो भूत्वा महीमण्डल[2]-मध्यगः ।
[3]किरीटी कुण्डली वज्री पीत-भूषा[4]ऽम्बरादिकः ।२०३।

---

१. मु तैजसी प्रभृतिर्विभ्रद्धाणाश्च। २. मु महामडल।
३. मु मे किरीटकुडली। ४. मु मूषा।

कुम्भकी स्तम्भ-मुद्राढ्य[1] स्तम्भन मंत्रमुच्चरन् ।
स्तम्भ-कार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्र-मानस. ॥२०४

'(उक्त विशेषण-विशिष्ट मन्त्री) स्वयं मुकुट-कुण्डल-वज्र-विशिष्ट और पीत-भूषण-वसनादिकको धारण किये हुए इन्द्र होकर पृथ्वीमण्डलके मध्यमे प्राप्त हुआ, कुम्भकपवनको साधे हुए, स्तम्भमुद्रासे युक्त और एकाग्रचित्त हुआ स्तम्भन-मन्त्रका उच्चारण करता हुआ सारे स्तम्भन-कार्यो को करता है ।'

व्याख्या—यहाँ दूसरे देवताविशेष इन्द्रके ध्यान-फलको लिया गया है। इस ध्यानमे इन्द्रको ध्यानाविष्ट करके स्वय इन्द्र होता हुआ वह एकाग्रचित्त मन्त्री मारे स्तम्भनकार्योको करनेसे समर्थ होता है। इन्द्रका रूप मुकुट, कुण्डल, वज्र और पीले वस्त्राभूषणो आदिसे युक्त है और वह स्वर्गसे महीमण्डलके मध्य प्राप्त होकर ही यहाँ स्वय कुछ कार्य करनेमे समर्थ होता है। तदनुरूप ही मन्त्री अपनेको उन विशेषणोसे विशिष्ट अनुभव करे। साथ ही कुम्भकीपवनको साधे हुए स्तम्भ-मुद्रासे युक्त होकर स्तम्भन-मन्त्रका उच्चारण करे, जो कि स्तम्भन-कार्यके लिये इन्द्रानुभूतिके साथ अतीव आवश्यक है। स्तम्भ-मुद्राका और स्तम्भन-मन्त्रका इस विषयमे क्या रूप है यह अन्वेषणीय है।

स स्वय गरुडीभूयक्ष्वेडं क्षपयति क्षणात् ।
कन्दर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यताम् ॥२०५॥

एवं वैश्वानरीभूय[2] ज्वलज्ज्वाला- शताकुलः ।
शीतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरम् ॥२०६॥

---

१. मु मे कुम्भकीस्तम्भमुद्राद्या (ब.)। २. मु वैश्वानरो भूय ।

स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे ।
[1]अथैनमात्मसात्कृत्य [2]दाहज्वरमपास्यति ॥२०७॥
क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत् ।
शान्तिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम् ॥२०८॥

'वह मन्त्री योगी ध्यान-द्वारा स्वय गरुडरूप होकर विषको क्षणभरमे दूर कर देता है और स्वय कामदेव होकर जगतको अपने वशमे कर लेता है। इसी प्रकार सैकड़ों ज्वालाओसे प्रज्वलित अग्निरूप होकर और ज्वालाओसे रोगीके शरीरको व्याप्त करके शीघ्र ही शीतज्वरको हरता है; तथा स्वयं अमृत-रूप होकर रोगीको आत्मसात् करके उसके शरीरमे अमृतकी वर्षा करता हुआ उसके दाहज्वरका विनाश करता है, और क्षीरोदधिरूप होकर सारे जगतको उसमे तिराता, बहाता अथवा स्नान कराता हुआ वह योगी शरीरधारियोके शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मको करता है।'

व्याख्या—यहाँ दूसरे कुछ पदार्थोंके ध्यान-फलको भी भावध्येयके उदाहरणके रूपमे लिया गया है, जैसे गरुड, कामदेव, अग्नि, अमृत और क्षीरोदधिका ध्यान। गरुड़के ध्यान-द्वारा स्वय गरुड हुआ योगी क्षणभरमे सर्पविषको दूर कर देता है। कामदेवके ध्यान-द्वारा स्वय कामदेव होकर योगी जगतको अपने वशमे कर लेता है। अग्निदेवताके ध्यान-द्वारा स्वय संकडो ज्वालाओसे जाज्वल्यमान अग्निदेवतारूप होकर योगी शीत-ज्वरसे पीडित रोगीको अपनी ज्वालाओसे व्याप्त करके शीघ्र ही उसके शीत-ज्वरको हरता है। अमृतके ध्यान-द्वारा स्वय अमृतरूप हुआ योगी रोगीको आत्मसात् करके शरीरमे अमृतकी वर्षा करता हुआ

---

१. मु मे अथंतमात्मसाक्(त्क)त्य। २. आ दाघ।

उसके दाहज्वरको दूर करता है। क्षीरोदधिके ध्यान-द्वारा स्वय क्षीरोदधिमय हुआ योगी सारे जगतको उसमे डुबाता-तिराता हुआ प्राणियोके शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोंको करता है और इस तरह उन्हे सुखी बनाता है।

इस प्रकार ये कुछ थोडे उदाहरण हैं जिनके द्वारा तद्देवता-मय-ध्यानके फल और सिद्धान्तको स्पष्ट करके बतलाया गया है।

तद्देवतामय-ध्यानके फलका उपसहार

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति ।
[1]तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम् ॥२०६॥

'इस विषयमे बहुत कहनेसे क्या? यह योगी जो भी काम करना चाहता है उस-उस कर्मके देवतारूप स्वय होकर उस-उस कार्यको सिद्ध कर लेता है।'

व्याख्या—यहाँ, प्रस्तुत कथनका उपसहार करते हुए, अधिक कहनेको व्यर्थ बताकर यह सार-सूचना की गई है कि योगी जिस-जिस कार्यको करना चाहता है उस-उस कार्यके अधिष्ठाता देवताके ध्यान-द्वारा उस-उस देवतामय होकर उस-उस कार्यको स्वय सम्पन्न करता है।

शान्ते कर्मणि शान्तात्मा क्रूरे क्रूरो भवन्नयम् ।
शान्त-क्रूराणि कर्माणि साधयत्येव साधकः ॥२१०॥

'यह साधक योगी शान्तिकमके करनेमे शान्तात्मा और क्रूर-कर्मके करनेमे क्रूरात्मा होता हुआ शान्त तथा क्रूरकर्मोंको सिद्ध करता है।'

---

१. तद्देवतन्मयो।

व्याख्या—पिछली सार-सूचनाका यह पद्य भी एक अंग है। इसमे यह बतलाया है कि ध्यान-द्वारा साधक योगी जिन कार्योंको सिद्ध करना चाहता है वे दो प्रकारके हैं—शान्तकर्म और क्रूरकर्म। शान्तकर्मकी साधनामे योगी शान्त और क्रूरकर्मकी साधनामे क्रूर होता हुआ दोनो प्रकारके कार्योंको सिद्ध करनेमें समर्थ होता है।

समरसीभावकी सफलतासे उक्त भ्रान्तिका निरसन

आकर्षणं वशीकारः स्तम्भनं मोहनं द्रुतिः।
निर्विषीकरण [1]शान्तिर्विद्वेषोच्चाट-निग्रहा ॥२११॥
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनाम्।
ततः समरसीभाव-सफलत्वान्न विभ्रम ॥२१२॥

'ध्यानका अनुष्ठान करनेवालोके आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्रावण, निर्विषीकरण, शान्तिकरण, विद्वेषन, उच्चाटन, निग्रह इत्यादि कार्य दिखाई पड़ते हैं। अत समरसीभावके सफल होनेसे विभ्रमकी कोई बात नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ, शका-समाधानका उपसहार करते हुए, जिन आकर्षणादि कार्योंका निर्देश तथा 'आदीनि' पदके द्वारा सूचन किया है उनके विषयमे कहा गया है कि ये सब कार्य ध्यान-निष्ठात्माओके द्वारा होते हुए देखे जाते हैं। अत ध्येय-सदृश-ध्यानके पर्यायरूप अथवा ध्येय-ध्याताके एकीकरणरूप जो यह समरसीभाव है उसके सफल होनेसे विभ्रमकी कोई बात नही रहती।

उक्त कथनमे 'दृश्यन्ते' पद अपना खास स्थान रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जिन आकर्पण-स्तम्भनादिक

१. मु शातिविद्धेपोच्चाट।

ध्यानविषयक कार्योंका यहाँ उल्लेख किया गया है वे सब ग्रन्थ-कारमहोदयके स्वत के अनुभूत अथवा दृश्य-विषय हैं और इस-लिये उनमे शकाके लिये स्थान नही है। इन आकर्षणादि विषयो-का विद्यानुशासन तथा भैरव-पद्मावती-कल्प आदि अनेक मत्र-शास्त्रोमे विधिविधानपूर्वक विस्तारके साथ वर्णन है।

यत्पुनः पूरणं कुम्भो रेचनं दहनं प्लवः।
सकलीकरणं मुद्रा-मन्त्र-मडल-धारणा ॥२१३॥
कर्माऽधिष्ठातृ-देवानां सस्थानं लिङ्गमासनम्।
प्रमाणं वाहनं वीर्यं जातिर्नाम-द्युतिर्दिशा ॥२१४॥
भुज-वक्त्र-नेत्र-सख्या[1] भावः क्रूरस्तथेतरः।
[2]वर्णः स्पर्शः स्वरोऽवस्था वस्त्र भूषणमायुधम् ॥२१५॥
एवमादि यदन्यच्च शान्त-क्रूराय कर्मणे[3]।
[4]मंत्रवादादिषु प्रोक्त तद्ध्यानस्य परिच्छदः ॥२१६॥

'इसके अलावा जो पूरण, कुम्भन, रेचन, दहन, प्लवन, सकलीकरण, मुद्रा, मत्र, मडल, धारणा, कर्माधिष्ठाता देवोका सस्थान-लिङ्ग- आसन-प्रमाण- वाहन- वीर्य-जाति- नाम-ज्योति-दिशा-मुखसंख्या-नेत्रसख्या-भुजासख्या-क्रूरभाव-शान्तभाव-वर्ण-स्पर्श-स्वर-अवस्था-वस्त्र-भूषण-आयुध इत्यादि और जो कुछ अन्य शान्त तथा क्रूरकर्मके लिये मत्रवाद आदि ग्रन्थोमें कहा गया है वह सब ध्यानका परिकर है—यथाविवक्षित ध्यानकी उपकारक सामग्री है।'

व्याख्या—इन चारो पद्योमे जिन बत्तीस विषयोका नामो-

---

१. आ वक्त्रनेत्रभुजासख्या, मु सख्या। २. मु वर्णस्पर्शस्वरोऽ।
३. ज कर्मणा। ४ सि जु मत्रवादिषु यत्प्रोक्तं।

ल्लेख है और 'आदि' शब्दके द्वारा तत्सदृश तथा तत्सम्बद्ध जिन दूसरे विषयोका सूचन है वे सब शान्त-क्रूरादिकर्म-विषयक विविध ध्यानोके यथायोग्य परिवार हैं अथवा उनकी सहायक सामग्रीके रूपमे स्थित हैं। उनके स्वरूपादिका वर्णन मन्त्रवादादि-विषयक ग्रन्थोमे—विद्यानुवादादि जैसे शास्त्रोमे—किया गया है, उन परसे उनको जानना चाहिये।

यहाँ थोडे शब्दोमे ध्यानके लिए जानने योग्य उपयोगी विषयोकी जो सूचना की गई है वह बडी महत्वपूर्ण है और उससे इस बातका पता चलता है कि ध्यानका विषय कितना गहन-गम्भीर है, कितना वडा उसका परिवार है और कितनी अधिक सतर्कता, सावधानी तथा जानकारीकी वह अपेक्षा रखता है। सब सामग्रीसे सुसज्जित होकर जब किसी सिद्धिके लिये ध्यान किया जाता है तभी उसमे यथेष्ट सफलताकी प्राप्ति होती है। जो अधूरे ज्ञान, अधूरे श्रद्धान और अधूरी साधन-सामग्रीके बल पर किसी प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त करना चाहता है तो यह उसकी भूल है, उसे ऐसी अवस्थामे यथेष्ट-सिद्धिको प्राप्ति नही हो सकती।

लौकिकादि सारी फल-प्राप्तिका प्रधान कारण ध्यान

यदात्रिक फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाऽग्रकारणम् ॥२१७॥

'इस लोकसम्बन्धी जो फल है उसका और परलोकसम्बन्धी जो फल है उसका भी ध्यान ही मुख्य कारण है—ध्यानसे दोनो लोकसम्बन्धी यथेच्छित फलोकी प्राप्ति होती है।'

व्याख्या—यहाँ, ध्यानके फल-कथनका उपसहार करते हुए, स्पष्ट घोषणा की गई है कि लौकिक और पारलौकिक जो कुछ भी फल है उसकी प्राप्तिका प्रधान कारण ध्यान ही है। इससे ध्यान-

का माहात्म्य स्पष्ट हो जाता है। इस विषयमे श्रीसोमदेवाचार्यने 'यशस्तिलक'के निम्न पद्यमे लिखा है कि ऐसा कोई गुण, ज्ञान, दृष्टि या सुख नही है जो ध्यानके प्रकाशमे अन्धकार-समूहके नाश हो जाने पर नही प्राप्त होता है—

न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम्।
यद्योगोद्योतिते न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ॥ कल्प ४० ॥

ध्यानका प्रधान कारण गुरूपदेशादि-चतुष्टय

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धान सदाऽभ्यासः स्थिरं मनः ॥२१८॥

'और उधर ध्यान-सिद्धिका मुख्य कारण यह चतुष्टय है, जो कि गुरु-उपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और स्थिरमनके रूपमे है।'

व्याख्या—जिस ध्यानका माहात्म्य ऊपर स्थापित किया गया है उसकी सिद्धिके प्रधान कारण ये चार हैं—१ सद्गुरुका वह उपदेश जो उस ध्यानके स्वरूपादिका यथार्थबोध करा सके, २ सद्गुरुके उपदेश-द्वारा प्राप्त ज्ञानका सम्यक्श्रद्धान, ३ ज्ञान और श्रद्धानके अनुरूप निरन्तर अभ्यास, ४ अभ्यास-द्वारा मनकी दृढताका सम्पादन। सद्गुरु वही हो सकता है जो उस ध्यान-विषयका यथार्थज्ञाता हो—चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष—अथवा जिसने अभ्यासादिके द्वारा उस विषयकी सिद्धिको प्राप्त किया हो।

यहाँ ध्यानके क्रमबद्ध चार मुख्य हेतुओका निर्देश किया गया है। यो ध्यानके और भी अनेक हेतु है, जिन्हे प्रस्तुतग्रन्थमे ध्यानकी सामग्री कहा गया है (७५) वह सब सामग्री भी ध्यानके हेतु-रूपमे ही स्थित है, क्योकि उसके बिना यथेष्ट ध्यान नही बनता।

वृहद्द्रव्यसग्रहकी संस्कृत-टीकामे उद्धृत निम्न पद्यमे वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थता (असगता), समचित्तता और परीषह-जय इन पाँचको ध्यानके हेतु बतलाया है, जो सब ठीक हैं —

[1]वैराग्यं तत्त्वविज्ञान नैर्ग्रन्थ्य समचित्तता।
परीषह-जयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः ॥ पृ० २०१॥

इसी तरह यशस्तिलकके अष्टमाश्वासगत 'ध्यानविधि' नामक ४०वें कल्पमे वैराग्य, ज्ञानसम्पत्ति, असगता, स्थिरचित्तता और ऊर्मिस्मय-सहनता इन पाँचको योग(ध्यान)के कारण बतलाया है —

वैराग्य ज्ञानसपत्तिरसंग स्थिरचित्तता।
ऊर्मि-स्मय-सहत्व च पच योगस्य हेतवः॥

'ऊर्मि' शब्द यहाँ भूख, प्यास, शोक, मोह, रोग और भवादिकी वेदनाजन्य लहरोका वाचक है और 'स्मय' शब्द मद तथा विस्मय दोनोके लिए प्रयुक्त हुआ जान पडता है। इन सबका सहन परीषह-जयमे आ जाता है।

प्रदर्शित-ध्यानफलसे ध्यानफलको ऐहिक ही माननेका निषेध

अत्रैव माऽऽग्रहं कार्षुर्यद्ध्यान-फलमैहिकम्।
इदं हि ध्यानमाहात्म्य-ख्यापनाय प्रदर्शितम् ॥२१६॥

'इस ध्यान-फलके विषयमे किसीको यह आग्रह नहीं करना चाहिये कि ध्यानका फल ऐहिक (लौकिक) ही होता है, क्योंकि यह ऐहिक फल तो यहाँ ध्यानके माहात्म्यकी प्रसिद्धिके लिए प्रदर्शित किया गया है।'

---

१ ज्ञानाकुशमे यही पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है —
वैराग्य तत्त्वविज्ञान नैर्ग्रन्थ्य समभावना।
जय परिषहाणा च पचैते ध्यानहेतव ॥४२॥

व्याख्या—पिछले पद्योमे समरसीभावरूप ध्यानका कुछ उदाहरणो-द्वारा जो फल निर्दिष्ट किया गया है उस परसे किसीको यह भ्रान्ति (गलतफहमी) न होनी चाहिये कि ध्यानका फल लौकिक ही होता है। लौकिक जन लौकिक फलकी अनुभूतिके विना पारमार्थिक फलको ठीक समभ नही पाते। अत जगज्जनोंके हृदयोमे ध्यानके माहात्म्यको ख्यापित करनेके लिये लौकिक फल-प्रदर्शनका आश्रय लिया गया है। यही इस पद्यका आशय है।

ऐहिक फलार्थियोका ध्यान आर्त्त या रौद्र

'तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिक-फलार्थिनाम्।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥२२०॥

'ऐहिक (लौकिक) फलके चाहनेवालोके जो ध्यान होता है वह या तो आर्त्त ध्यान है या रौद्रध्यान। अत इस आर्त्त तथा रौद्रध्यानका परित्याग कर (मुमुक्षुओंको) धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानकी उपासना करनी चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ उस ध्यानको (यथास्थिति) आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान वतलाया है जो लौकिक फल चाहनेवालोके द्वारा उस फलकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। इसलिये जो एकमात्र मुक्तिके अभिलाषी है उन्हे इन दोनो ध्यानोका त्यागकर धर्म्य-ध्यान तथा शुक्लध्यानका अवलम्बन लेना चाहिये, ऐसी प्रेरणा की गई है। धर्म्य तथा शुक्लध्यानके द्वारा लौकिक फलोकी स्वत. प्राप्ति होती है, यह वात पहले प्रदर्शित की जा चुकी है। और इसलिए किसीको यहाँ यह न समभ लेना चाहिये कि आर्त्तध्यान या रौद्रध्यानके विना लौकिक फलकी प्राप्ति होती ही नही।

आर्त्तध्यान छठे गुणस्थानवर्ती मुनियो तकके होता है। इसीसे अनेक मुनि अपने लिए, दूसरोके लिए अथवा धर्म-शासनकी

१. मु यद्ध्यान।

प्रभावनाके लिये ऐसे कार्य करते हुए देखे-सुने जाते हैं जो लौकिक विषयोंसे सम्बन्ध रखते हैं। आर्त्तध्यानके भी व्यवहार-दृष्टिसे शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद बनते हैं।

वह तत्त्वज्ञान जो शुक्ल ध्यानरूप है

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।
शुभाऽशुभ-मलाऽपायाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥२२१॥

'अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोमे जो उदासीन—अनासक्तिमय—तत्त्वज्ञान होता है वह शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके मलके नाश होनेके कारण विशुद्ध शुक्लध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ अपूर्वकरण आदि (८वें से १२वे) गुणस्थानो-मे होनेवाले उस तत्त्वज्ञानको निर्मल-शुक्लध्यान बतलाया है जो ज्ञेयोके प्रति कोई आसक्ति न रखता हुआ उदासीन अथवा उपेक्षाभावको प्राप्त होता है, और इसका कारण यह निर्दिष्ट किया है कि वहाँ वह ज्ञान शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके भाव-मलोसे रहित होता है।

शुक्लध्यानका स्वरूप

[1]शुचिगुण-योगाच्छुक्लं[2] कषाय-रजसः क्षयादुपशमाद्वा[3]।
माणिक्य-शिखा-वदिदं सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥२२२॥

'कषाय-रजके क्षय होने अथवा उपशम होनेसे और शुचि–पवित्र गुणोके योगसे शुक्लध्यान होता है और यह ध्यान माणिक्य-

---

१. यह पद्य मुद्रित 'ज्ञानार्णव' के ४२ वें प्रकरणमे ५ वें पद्यके अनन्तर उद्धृत है।

२. सर्वा० सि० तथा तत्त्वा० वा० ९-२८।

३ कषाय-मल-विश्लेषात् शुक्लशब्दाभिधेयताम्-
उपेयिवदिदं ध्यानं· · (आर्ष २१-१६६)

शिखाकी तरह सुनिर्मल तथा निष्कम्प रहता है।'

व्याख्या—यहाँ, शुक्लध्यानका स्वरूप उसकी निरुक्ति-द्वारा प्रतिपादन करते हुए, बतलाया है कि यह ध्यान शुचि-गुणोके सयोगसे शुक्लसज्ञाको प्राप्त है। शुचि शब्द यहाँ श्वेत, शुद्ध, पवित्र तथा निर्मल अर्थोका वाचक है। वस्त्र जिस प्रकार मैलके दूर हो जाने पर शुचिगुणके योगसे शुक्ल कहलाता है उसी प्रकार कषायमलसे रहित होने पर आत्माका जो अपने शुद्धस्वभावमे परिणमन है वह भी शुक्ल कहा जाता है। मिट्टी-रेतादिसे मिला मलिन जल जिस प्रकार उस मल-द्रव्यके पूर्णतः विश्लेषणरूप क्षयको अथवा उदयाभावरूप उपशमको प्राप्त होता है तो वह निर्मल कहा जाता है उसी प्रकार कषायमलसे मलिन आत्मा भी जब उस मलके क्षयभाव अथवा उपशमभावको प्राप्त होता है तब वह सुनिर्मल कहा जाता है। शुक्ल भी उसीका नामान्तर है। इस ध्यानमे चूँकि शुचिगुणविशिष्ट परम-शुद्धात्माका ध्यान होता है इसलिये इसे शुक्लध्यान नाम दिया गया है। यह ध्यान माणिक्य (रत्न) की ज्योतिके समान कम्पविहीन होता है—डोलता नही।

मुमुक्षुको नित्य ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा

[1]रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्ध-निबन्धनम्।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्! मुमुक्षसे ॥२२३॥

'हे योगिन्! यदि तू मोक्ष चाहता है तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको ग्रहण करके बन्धके कारण-रूप मिथ्यादर्शनादिकके त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्यानका अभ्यास कर।'

१. सि जु रत्नत्रयमयो भूत्वा।

व्याख्या—यहाँ मोक्षके इच्छुक योगीको ध्यानके निरन्तर अभ्यासकी प्रेरणा की गई है और उस अभ्यासके पूर्व मिथ्यादर्शनादिरूप बन्धके कारणोंको त्यागकर मोक्षके हेतुरूप सम्यग्दर्शनादिमय रत्नत्रयके ग्रहणकी आवश्यकता व्यक्त की है अर्थात् मुमुक्षुको बन्धहेतुओंके त्याग और मोक्षहेतुओंके ग्रहणपूर्वक ध्यानका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये, ऐसा प्रतिपादन किया है।

उत्कृष्ट ध्यानाभ्यासका फल

ध्यानाऽभ्यास-प्रकर्षेण [1]त्रुटयन्मोहस्य योगिनः।
चरमाऽङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवाऽन्यस्य[2] च क्रमात् ॥२२४

'ध्यानके अभ्यासकी प्रकर्षतासे मोहको नाश करनेवाले चरमशरीरी योगीके तो उसी भवमें मुक्ति होती है और जो चरमशरीरी नहीं उसके क्रमशः मुक्ति होती है।'

व्याख्या—यहाँ, उत्कृष्ट ध्यानके फलका निर्देश करते हुए, बतलाया है कि जो योगी उत्कृष्ट-ध्यानाभ्यासके द्वारा मोहका नाश करनेमें प्रवृत्त है वह यदि चरमशरीरी है तो उसी भवसे मुक्तिको प्राप्त होता है, अन्यथा कुछ और भव लेकर क्रमशः मुक्तिको प्राप्त करता है।

तथा ह्यचरमाऽङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाऽशुभकर्मणाम् ॥२२५॥
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणम्।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥२२६॥

---

१. सम्पादनोपयुक्त प्रतियोंमें 'तुद्यन्' पाठ पाया जाता है, जो ठीक नहीं, वह 'तुदन् या त्रुटयन्' होना चाहिये।

२. मु तदा अन्यस्य।

'तथा ध्यानका अभ्यास करनेवाले अचरमाङ्ग योगीके सदा अशुभकर्मो की निर्जरा होती है और (अशुभकर्मास्रवके निरोध स्वरूप) सवर होता है। साथ ही उसके प्रतिक्षण पुण्यकर्म प्रचुर मात्रामे आस्रवको प्राप्त होते है, जिनसे यह योगी कल्पवासी देवो-मे महाऋद्धिधारक देव होता है।'

व्याख्या—यहाँ उस योगीके जो चरमशरीरी नही—भवधा-रणरूप ससार-पर्यायका जिसके अभी अन्त नही आया—उत्कृष्ट ध्यानके फलका निरूपण करते हुए यह वतलाया है कि उसके सम्पूर्ण अशुभकर्मोंकी निर्जरा होजाती है और किसी भी अशुभ-कर्मका आस्रव नही होता, प्रत्युत इसके क्षण-क्षणमे वहुत अधिक पुण्यकर्मोंका आस्रव होता है जिन सवके फलस्वरूप वह कल्पवासी देवोमे किसी देवपर्यायको पाकर महाऋद्धिका धारक देव होता है।

तत्र सर्वेन्द्रियाल्हादि[1]मनसः प्रीणन परम् ।
सुखाऽमृत पिबन्नास्ते सुचिर सुर-सेवितम् ॥२२७॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसम्पदः ।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगम्बरीं[2] श्रितः॥२२८
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यान चतुर्विधम् ।
विधूयाऽष्टाऽपि कर्माणि श्रयते मोक्षमक्षयम् ॥२२९॥

'वहाँ—उस देवपर्यायमे—वह सर्व इन्द्रियोंको आल्हादित और मनको परम तृप्त करनेवाले सुखरूपी अमृतको पीता हूआ चिरकाल तक सुरोसे सेवित रहता है। वहाँसे मर्त्यलोकमे अवतार लेकर, चक्रवर्ती आदिकी सम्पदाओको चिरकाल तक भोगकर, फिर उन्हे स्वयं छोड़कर, दैगम्बरी दीक्षाको आश्रय किये हुए वह

---

१. मु मे मोदि। २ ज दिगवरी ।

वज्रकाय-योगी चार प्रकारके शुक्लध्यानको ध्याकर और आठो कर्मों का नाश करके अक्षय-मोक्षपदको प्राप्त करता है।'

व्याख्या—यहाँ, उस उत्कृष्ट ध्यानाभ्यासी अचरमशरीरी योगीको स्वर्गमे महर्द्धिक देव होने पर चिरकाल तक जिस सुखकी प्राप्ति होती है उसकी अतिसक्षेपमे सूचना करनेके बाद, यह बतलाया गया है कि वह योगी स्वर्गसे मर्त्यलोकमे अवतार लेकर वज्रशरीरका धारक हुआ चक्रवर्ती आदि किसी महान् राजपुरुषके पदसे विभूषित होता है, चिरकाल तक उस पदकी सपदाको भोगता है, फिर उससे विरक्त होकर दैगम्बरी जिन-दीक्षा धारण करता है और चारो प्रकारके शुक्लध्यानो-द्वारा आठो कर्मोंका नाश करके अक्षय-मोक्षपदको प्राप्त करता है, यही उसके पूर्वभव-सम्बन्धो ध्यानपर्यायमे अशरीरी होनेके कारण मोक्ष-प्राप्तिका प्रायः क्रम है।

स्वर्गके जिस सुखकी सूचना प्रथम पद्य (२२७)मे की गई है उसमे इन्द्रियो तथा मनको अतीव प्रसन्न करनेवाले उस सारे ही सुखामृतका समावेश हो जाता है जिसकी उपमा मर्त्यलोकके किसी भी सासारिक सुखको नही दी जा सकती। इसीसे श्रीपूज्य-पादाचार्यने 'इष्टोपदेश'मे **'नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौ-कसामिव'** इस वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि स्वर्गका वह सुख अपनी उपमा आप ही है।

मोक्षका स्वरूप और उसका फल

आत्यन्तिक-स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीव-कर्मणोः।
स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः ॥२३०॥

'जीव और कर्मके प्रदेशोका स्वहेतुसे—बन्ध-हेतुओके अभाव तथा निर्जरारूप निजी कारणसे—जो आत्यन्तिक विश्लेष है—

एक दूसरेसे सदाके लिये अतीव पृथक्त्व है—वह मोक्ष अथवा मुक्ति है जिसके फल हैं ज्ञानादिक क्षायिकगुण—ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोके क्षयसे प्रादुर्भूत होनेवाले आत्माके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख (सम्यक्त्व), अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध नामके स्वाभाविक मूल गुण।

व्याख्या—जिस मोक्षकी प्राप्तिके लिये ध्यानकी प्रेरणा की गई है और जिसके लिये मुमुक्षुओका सारा प्रयत्न है उसका क्या स्वरूप है और क्या फल है, उसीको यहाँ अत्यन्त सक्षिप्तरूपसे बतलाया है। मोक्षका स्वरूप है बन्धावस्थाको प्राप्त जीव और कर्मोंके प्रदेशोका आत्यन्तिक विश्लेषण—सदाके लिये एक दूसरेसे पृथक् हो जाना अथवा किसी भी कर्मका किसी भी प्रकारका सम्बन्ध आत्माके साथ न रहना। यह विश्लेषण जिन कारणोंसे होता है वे हैं—बन्ध-हेतुओका अभाव (संवर) और निर्जरा। एकसे आत्मामे नये कर्मोंका प्रवेश सर्वथा रुक जाता है और दूसरेसे सचित कर्मोंका पूर्णत निकास अथवा वहिष्कार हो जाता है। इसीसे 'तत्त्वार्थसूत्र' मे '**बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**' यह मोक्षका स्वरूप निर्दिष्ट किया है। इस मोक्षका फल ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातियाकर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत होनेवाले आत्माके अनन्तबोधस्वरूप केवलज्ञान, अनन्तदर्शनरूप केवलदर्शन, स्वाभाविक स्वात्मोत्थ सुख और अप्रतिहतअनन्तवीर्यरूप गुणोका पूर्णत. विकास है।

मुक्तात्माका क्षणभरमे लोकाग्र-गमन

कर्म-बन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्या-[1] स्वभावतः।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥२३१॥

---

१. सि जु दूर्ध्वं

'कर्मों के बन्धनोंका विध्वस और ऊर्ध्वगमनका स्वभाव होनेसे मुक्त आत्मा एक क्षण(समय)मे लोकशिखरके अग्रभागको प्राप्त होता है—वहाँ पहुँच जाता है।'

व्याख्या—मोक्ष होने पर यह आत्मा कहाँ जाता है, क्यो कर जाता अथवा कौन ले जाता है और कितने समयमे जाता है इन तीनो बातोका इस पद्यमे निर्देश किया गया है। जानेका स्थान लोक-शिखरका अग्रभाग है, वहाँ इसे कोई लेकर नही जाता, बन्धनका अभाव हो जानेसे गतिका परिणाम ही ऊपरको होता है, जैसे मृत्तिकासे लिप्त तुम्बी जो पानीमे डूबी रहती है वह लेपके उतर जाने पर एकदम ऊपर आ जाती है। दूसरे जीवका ऊर्ध्वगमन-स्वभाव होनेसे भी वह लोकके अग्रभाग तक पहुँच जाता है, जैसे अग्नि-शिखा किसी पवनादि बाधक कारणके न होने पर स्वभावसे ही ऊपरको जाती है। मुक्तात्माको लोकशिखरके अग्रभाग पर पहुँचनेके लिये केवल एक क्षण-परिमित समय लगता है। क्षण-कालके उस सबसे छोटे (सूक्ष्मसे सूक्ष्म) अशको कहते हैं जिसका विभाग नही होता, समय भी उसका एक नामान्तर है, जैसा कि 'तत्त्वार्थसूत्र'मे जीवकी अविग्रहा-गतिका निर्देश करते हुए उसे एकसमया[1] बतलाया है।

ऊर्ध्वगति स्वभाव होने पर भी मुक्तात्मा लोकशिखरके अग्रभाग पर ही क्यो ठहर जाता है—आगे अलोकाकाशमे गमन क्यों नही करता? इसका उत्तर इतना ही है कि अलोकाकाशमे गति-सहायक 'धर्मद्रव्य'का अभाव है, जिसे 'तत्त्वार्थसूत्र'मे 'धर्मास्ति-कायाभावात्' इस सूत्र (१०-८) द्वारा व्यक्त किया गया है, और इससे यह साफ मालूम होता है कि अनुकूल निमित्तके अभावमे स्वभाव अथवा केवल उपादानकारण अपना कार्य करनेमे समर्थ

---

१ एक समयाऽविग्रहा। (त० सू० २-२९)

नही होता। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कार्योत्पत्तिमे बाह्य और अन्तरग (निमित्त तथा उपादान) दोनो प्रकारके कारणो-सामग्रीकी समग्रता।ो द्रव्यगत-स्वभावके रूपमे उल्लेखित किया है[1]।

मुक्तात्माके आकारका सहेतुक निर्देश

पुंस' संहार-विस्तारौ ससारे कर्म-निर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्धेतु-कर्मणाम् ॥२३२॥
ततः सोऽनन्तर-त्यक्त-स्वशरीर-प्रमाणतः ।
किंचिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्व-गुणात्मकः ॥२३३॥

'संसारमें जीवके संकोच और विस्तार दोनो कर्म-निर्मित होते है। मुक्ति प्राप्त होने पर उसके वे दोनो नहीं होते; क्योंकि उनके हेतुभूत कर्मोंका—नामकर्मकी प्रकृतियोका—क्षय हो जाता है। अत. मुक्तिमे वह पुरुष तत्पूर्व छोड़े हुए अपने शरीरके प्रमाणसे कुछ ऊन-जितना तदाकार-रूपमे अपने गुणोंको आत्मसात् किये—अपनाये हुए— रहता है।'

व्याख्या—ससारावस्थामे जिस प्रकार जीवके आकारमे हानि-वृद्धि अथवा घट-बढ होती है—वह कर्मोदयवश जिस जातिके शरीरको धारण करता है उस शरीरके आकारका ही हो रहता है, उस शरीरमे भी यदि बाल्यावस्थादिके कारण हानि-वृद्धि होती है तो उस आत्माके आकारमे भी हानि-वृद्धि हो जाती है—उस प्रकार मुक्तावस्थामे नही होती, क्योकि वहाँ उस हानि-वृद्धिके निमित्तभूत 'नाम'कर्मका अभाव हो जाता है। ऐसी स्थितिमे मुक्तात्माका आकार प्राय' उस शरीर ही जितना रह जाता है

१. बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभाव ॥(स्वयभू०)

जिसे त्याग कर वह मुक्त हुआ है और वह उस देहके प्रतिविम्व-रूप रुचिराकार ही होता है[1]।

यहाँ प्रयुक्त हुआ 'किंचित् ऊन' विशेषण आत्म-प्रदेशोके आकारमें हानि अथवा सुकडनरूप सकोचका वाचक नही है, बल्कि उस त्यक्त शरीरके नख-केश-त्वचादि-रूप जितने अशोमे आत्म-प्रदेश नही थे उनकी दृष्टिसे आकारमें कुछ कमीका वाचक है। इसके अतिरिक्त शरोरके मुख, कान, नाक तथा पेट जैसे अगोमें कुछ पोल भी होतो है जिसमें आत्म-प्रदेश नही होते। मुक्तात्माओके आकारम वह पोल नही रहती, उनके आत्म-प्रदेश घन-विवरता अथवा निश्छिद्रावस्थाके रूपमे उसो प्रकार स्थित होते हैं जिस प्रकार मोमका पुतला अग्निसे पिघल कर निकल जाने पर साचा (मूपा)के भोतर निरुद्ध आकाश स्थित होता है।[2]

---

१ अन्याकाराप्तिहेतुर्न च भवति परो येन तेनाऽल्पहीन ।
प्रागात्मोपात्तदेहप्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्त ॥
(सि० भ० पूज्यपाद.)

"किंचिन्न्यूनान्त्यदेहानुकारी जीवघनाकृति ॥" (आर्प २१-११५)

२ "अमूर्तोऽप्ययमन्त्याङ्गसमाकारोगलक्षणात् ।
"मूपागर्भनिरुद्धस्य स्थितिं व्योम्नः परामृशन् ॥" (आर्प २१-२०३)

"घनविवरतया किंचिदूनाकृति ।" (अध्यात्मतर०, सोमदेव)

"घनविवरतया घना निविडा विवराश्छिद्रास्तेषा भावस्तत्ता तया मदनहीन-मूपागर्भवदतीतानन्तर-तन्त्राकार-जीवघनैकरूपत्वान्निखिल-सुपिर-प्रदेशानामित्यर्थं ।" (अध्यात्मतर०टी, गणधरकीर्ति)

"किंचिदूनाः निविडरूपतया तदात्मप्रदेशानामवस्थानात् नख-त्वगादिशरीरपरिमाणहीनत्वाच्च । ... ..गतसिक्थमूपागर्भे यादृशाकारस्तादृशाकारा सिद्धाः भवन्ति ।"

—प्राकृत सिद्धभ० टीकाया, प्रभाचन्द्र.

यहाँ 'स्वगुणात्मकः' विशेषण अपना खास महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि मुक्त होने पर गुणोका नाश अथवा उनमे किसी प्रकारकी हानि नही होती—वे सब गुण सदा सहभावी होनेसे उस आकारप्रमाण ही रहते हैं।

प्रक्षीणकर्माकी स्वरूपमे अवस्थिति और उसका स्पष्टीकरण

[1]स्वरूपाऽवस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाऽभावो नाऽप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥२३४॥

'तब—सम्पूर्ण कर्म-बन्धनोसे छूट जाने पर—उस **प्रक्षीण-कर्मा पुरुषकी स्वरूपमे अवस्थिति होती है, जो कि न अभावरूप है, न अचैतन्यरूप है और न अनर्थक चैतन्यरूप है।'**

व्याख्या—प्रकर्षध्यानके बलसे जिस आत्माके समस्त कर्म-बन्धन अत्यन्त क्षयको प्राप्त हो जाते है—द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मके रूपमे किसी भी प्रकारके कर्मका कोई सम्बन्ध आत्माके साथ अवशिष्ट नही रहता—और इसलिये वह ऊर्ध्व-गमन-स्वभावसे क्षणभरमे लोक-शिखरके अग्रभाग पर पहुँच जाता है; तब उसकी जो स्थिति होती है उसे यहाँ 'स्वरूपावस्थिति' बतलाया है, जो कि देहादिकसे भिन्न और वैभाविक परिणतिसे रहित स्वगुणोमे शाश्वत स्थितिके रूपमे है। श्रीपूज्यपादाचार्यने सिद्धभक्तिमे इसे 'स्वात्मोपलब्धि' के रूपमे उल्लेखित किया है, जो कि उस सिद्धिका लक्षण है, जिसकी प्राप्ति उन द्रव्यकर्म-भाव-कर्मादि-रूप दोषोके अभावसे होती है जो अनन्तज्ञानादि प्रवर-गुण-गणोके विकासको रोके हुए है, और वह उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि सुवर्ण-पाषाणसे अग्नि आदिके योग्य प्रयोग-

---

१. आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्याऽन्तर्मलक्षयात् ।
नाऽभावो नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ॥
—यशस्तिलक आ० ६, पृ० २८०

द्वारा पाषाण-भावके विनष्ट होने पर हेम-भावकी उपलब्धि होती है[1]।

इस सिद्धिका नाम ही मुक्ति है, जिसे बौद्ध प्रदीप-निर्वाणके समान अभावरूप, वैशेषिक बुद्धयादि वैशेषिक-गुणोके उच्छेदमय अचैतन्यरूप और साख्य ज्ञेयके ज्ञानसे रहित अनर्थक चैतन्यरूप मानते हैं। इन तीनोकी मान्यताओको लक्ष्यमे लेकर यहाँ पद्यके उत्तरार्धमे तीन वाक्योकी सृष्टि की गई है और उनके द्वारा क्रमशः यह सूचित किया गया है कि उक्त स्वरूपावस्थिति—सिद्धि अथवा मुक्ति—अभावरूप नही है, अचैतन्यरूप भी नही है और न अनर्थक-चैतन्यरूप ही है, किन्तु सत्रूप है—सत्स्वरूप आत्माका कभी विनाश नही होता है, आत्मा चैतन्यगुण-विशिष्ट है—उसके सदा सहभावी चेतनागुणका कभी अभाव नही होता और चेतना [2]ज्ञानरूपा है, इसलिये वह कभी अनर्थक नही होती आत्माका ज्ञान-दर्शन लक्षण होनेसे सदा सार्थक बनी रहती है।

आगे चार पद्योमे उस स्वरूप और स्वरूपावस्थितिको और स्पष्ट किया गया है:—

सब जीवोका स्वरूप

[3]स्वरूपं सर्वजीवानां स्व-परस्य प्रकाशनम्।
भानु-मण्डलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनम् ॥२३५॥

---

१. सिद्धि स्वात्मोपलब्धि प्रगुण-गुण गणोच्छादि-दोषापहारात्। योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धि ॥(सि० भ०)

२. चेतना ज्ञानरूपेय स्वय दृश्यत एव हि। (तत्त्वानु० १६८)

३ अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अवरि रवि-राउ।
जोइय एत्थुमभति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥

—परमात्मप्र० १०१

'सब जीवोंका स्वरूप स्वका और परका प्रकाशन है। सूर्य-मण्डलकी तरह परसे उनका प्रकाशन नहीं होता।'

व्याख्या—पिछले पद्यमे मुक्तात्माके स्वरूपमे अवस्थितिकी जो बात कही गई है वह स्वरूप क्या है उसीका इस पद्यमे निर्देश किया गया है। वह स्वरूप सूर्य-मण्डलकी भाति स्व-पर-प्रकाशन है और वह किसी एकका नही, सकल जीवोका है। सूर्य-मण्डलका प्रकाशन जिस प्रकार किसी दूसरे द्रव्यके द्वारा नही होता उसी तरह आत्म-स्वरूपका प्रकाशन भी किसी दूसरे द्रव्यके द्वारा नही होता। इसी लिए उसे स्वसवेद्य कहा गया है।

स्वरूपस्थितिकी दृष्टान्त-द्वारा स्पष्टता

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पूरुषः[1]।
यथा मणिः स्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके[2] मले ॥२३६॥

'जिस प्रकार मणि–रत्न ससर्गको प्राप्त हुए मलके स्व-कारणोंसे क्षयको प्राप्त हो जाने पर स्वरूपमें स्थित होता है उसी प्रकार जीवात्मा कर्ममलके स्वकारणोसे क्षीण हो जाने पर स्वरूपमे स्थित होता है।'

व्याख्या—यहाँ सांसर्गिक मलसे रहित मणिकी स्वरूपाव-स्थितिके दृष्टान्त-द्वारा कर्ममलसे रहित हुए आत्माकी स्वरूपाव-स्थितिको स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार सासर्गिक मलके दूर हो जाने पर मणि-रत्नका अभाव नही होता, वह कान्तिरहित नही होता और न उसकी कान्ति निरर्थक ही होती है, उसी प्रकार सासर्गिक कर्ममलसे रहित हुआ जीवात्मा अभावको प्राप्त नही होता, न अपने स्वाभाविक चैतन्यगुणसे रहित होता है और न उसका चैतन्यगुण निरर्थक ही होता है।

---

१. मु पौरुष। २. मे ज ससर्गिके।

स्वात्मस्थितिके स्वरूपका स्पष्टीकरण

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थान्नाध्यवस्यति[1] ।
न रज्यति[2] न च द्वेष्टि किन्तु स्वस्थः प्रतिक्षणम् ॥२३७

त्रिकाल-विषय ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितम् ।
जानन्पश्यंश्च नि.शेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥२३८॥

अनन्त-ज्ञान-दृग्वीर्य-वैतृष्ण्य-मयमव्ययम् ।
सुख चाऽनुभवत्येष तत्राऽतोन्द्रियमच्युतः ॥२३९॥

'मुक्तिको प्राप्त हुआ जीवात्मा न तो मोह करता है, न सशय करता है, न स्व तथा पर-पदार्थों के प्रति अनध्यवसायरूप प्रवृत्त होता है—स्व-पर पदार्थोंसे अनभिज्ञ रहता है—और न द्वेष करता है, किन्तु प्रतिक्षण स्वमें स्थित रहता है। उस समय वह सिद्धप्रभु त्रिकाल-विषयक ज्ञेयको और आत्माको यथावस्थित-रूपमें जानता-देखता हुआ उदासीनता - उपेक्षाको धारण करता है और मुक्तिमें यह अच्युत सिद्ध उस अतीन्द्रिय अविनाशी सुखका अनुभव करता है जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तवैतृष्ण्यरूप होता है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिको प्राप्त शुद्धात्माके स्वात्मस्थित-स्वरूपका स्पष्टीकरण कुछ विशेषताके साथ किया गया है और अन्तमे उसके उस अतीन्द्रिय अविनाशो सुखका उल्लेख किया है जिसे वह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और तृष्णाके अनन्तअभाव अथवा समताके अनन्तसद्भावरूपमे अनुभव-करता है।

इस पद्य परसे २३४वे पद्यका विषय और स्पष्ट होजाता है

---

१ मु ज स्वार्थान (ना) ध्यवस्यति। २. मु रज्यते।

और वह यह कि मुक्तिको प्राप्त आत्मा अभावरूप नही होता, न चैतन्यगुणसे शून्य होता है और न उसका चैतन्य अनर्थक ही होता है, वह तो अपने स्वभावमे स्थित हुआ ज्ञानादि-गुणोंसे सदा युक्त एव विशिष्ट रहता है और त्रिकाल-विषयोको जानते—देखते रहने तथा अपने उक्त सुखका अनुभव करते रहनेसे उसका चैतन्य कभी अनर्थक नही होता—सदा सार्थक बना रहता है।

मोक्षसुख-विषयक शका-समाधान

ननु चाऽक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृश सुखम् ॥२४०॥
इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यत ।
नाऽद्यापि वत्स ! त्वं वेत्सि स्वरूप सुख-दु खयो. ॥२४१॥

'यहाँ कोई शिष्य पूछता है कि 'सुख तो इन्द्रियोंके द्वारा उनके विषयोको भोगनेवालेके होता है, इन्द्रियोंसे रहित मुक्त-जीवोंके वह सुख कैसा ? इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं—हे वत्स ! तू जो मोहसे ऐसा मानता है वह तेरी मान्यता ठीक अथवा कल्याणकारी नहीं है, क्योकि तूने अभीतक (वास्तवमे) सुख-दुःखके स्वरूपको ही नहीं समझा है—इसीसे सासारिक सुखको, जो वस्तुत दु खरूप है, सुख मान रहा है।'

व्याख्या—पिछले एक पद्यमे जिस अतीन्द्रिय सुखके अनुभवनकी बात कही गई है उसके विषयमे यहाँ जो शका उठाई गई है वह बहुत कुछ स्पष्ट है। उत्तरमे आचार्यने शिष्यसे इतना ही कहा है कि यह तेरा मोह है जिसके कारण तू इन्द्रियो-द्वारा गृहीतविषयोके उपभोक्ताके ही सुखका होना मानता है, मालूम

होता है तुझे अभी तक सुख-दु खके वास्तविक स्वरूपका पता नही है।

अब आचार्यमहोदय सुखके मोक्षसुख और सासारिक-सुख ऐसे दो भेद करते हुए उस सुख-दु खके वास्तविक स्वरूपको बतलाते है —

मोक्ष-सुख-लक्षण

आत्माऽऽयत्त निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम् ।
घातिकर्मक्षयोद्भूत यत्तन्मोक्षसुख विदुः ॥२४२॥

'जो घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ है, स्वात्माधीन है—किसी दूसरेके आश्रित नही—, **निराबाध है**—जिसमे कभी कोई प्रकारकी बाधा उत्पन्न नही होती—,**अतीन्द्रिय है**—इन्द्रियो-द्वारा ग्राह्य नही—**और अनश्वर है**—कभी नाशको प्राप्त नही होता—**उसको 'मोक्षसुख' कहते हैं।'**

व्याख्या—यहाँ, सच्चे सुखका विवेक कराते हुए, मोक्ष-सुखका जो स्वरूप दिया है वह बहुत कुछ स्पष्ट है। घातियाकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय हैं, जिनकी क्रमश. ५, ९, २८, ५ उत्तरप्रकृतियाँ हैं और उत्तरोत्तर-प्रकृतियाँ असख्य हैं। इन सब कम-प्रकृतियोका मूलोच्छेद होने पर आत्माके जो अनन्तज्ञानादि चार महान् गुण प्रादुर्भूत होते हैं, उन्हीमे अनन्त-सुख नामका गुण भी है जो स्वाधीन है—स्वात्मासे भिन्न किसी भी इन्द्रियादि दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नही रखता—और विना किसी विघ्न-बाधाके सदा स्थिर रहता है। यही घातियाकर्मो के क्षय-से उत्पन्न हुआ अनन्तसुख मोक्षसुख कहलाता है। इस सुखका **'आत्मायत्त'** विशेषण सर्वोपरिमुख्य है, शेष सब विशेषण इसी एक विशेषणके स्पष्टीकरण-रूपमे हैं। जो सुख स्वात्माधीन न होकर पराधीन है वह वस्तुत सुख न होकर दु ख ही है। इसीसे

सुख-दु खका संक्षिप्त लक्षण स्वाधीन और पराधीनकी दृष्टि पर ही अवलम्बित रहता है, जिसकी सूचना श्रीअमितगति-आचार्यने भी अपने 'योगसारप्राभृत' मे निम्न वाक्य-द्वारा की है—

सर्वं परवश दु.ख सर्वमात्मवश सुखम् ।
वदन्तीति समासेन लक्षण सुख-दु खयोः ॥६-१२॥

लोकमे भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाही'। अत जो स्वात्माधीन सुख है वही वस्तुत. सुख है और उसीका नाम मोक्षसुख इसलिये कहा गया है कि वह घातिया-कर्मोके बन्धनसे मुक्त होने पर ही प्रादुर्भूत होता है।

सासारिक सुखका लक्षण

यत्तु सांसारिक[1] सौख्य रागात्मकमशाश्वतम् ।
स्व-पर-द्रव्य-सभूत तृष्णा-सन्ताप-कारणम् ॥२४३॥
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभ-निबन्धनम् ।
दुःख-कारण-बन्धस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥२४४॥

'और जो रागात्मक सांसारिक सुख है वह अशाश्वत है—स्थिर रहनेवाला नही—,स्वद्रव्य और परद्रव्यसे (मिलकर) उत्पन्न हुआ है—इसीलिये स्वाधीन नही—,तृष्णा तथा सन्तापका कारण है, मोह-द्रोह और क्रोध-मान-माया-लोभका साधन है और दुःखके कारण बन्धका हेतु है, इसलिये (वस्तुत) दु खरूप ही है।'

व्याख्या—यहाँ दूसरे इन्द्रियजन्य सासारिक-सुखका जो स्वरूप दिया है वह पराधीन, बाधा-सहित, नश्वर और घातिया-

१ मु ससारिक ।

कर्मो के प्रभावको लिये हुए होनेसे मोक्षसुखके विपरीत है। उसे दु खके हेतुभूत बन्धका कारण होनेसे वस्तुत दु खरूप ही बतलाया है। इस विषयमे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके प्रवचनसारकी 'सपर बाधा-सहिय' इत्यादि गाथा भी ध्यानमे लेने योग्य है, जिसे चौथे पद्यकी व्याख्यामे पाद-टिप्पणी (फुट नोट) द्वारा उद्धृत किया जा चुका है।

इन्द्रिय-विपयोसे सुख मानना मोहका माहात्म्य

तन्मोहस्यैव माहात्म्य विषयेभ्योऽपि यत्सुखम् ।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृम्भितम् ॥२४५॥

'इन्द्रिय-विषयोसे भी जो सुख माना जाता है वह मोहका ही माहात्म्य है—जो विषयोंसे सुख मानता है समझना चाहिये वह मोहसे अभिभूत है। (जैसे) **पटोल** (कटु वस्तु) **भी जिसे मधुर मालूम होती है तो वह उसके श्लेष्मा** (कफ) **का माहात्म्य है**—समझना चाहिये उसके शरीरमे कफ बढा हुआ है।

व्याख्या—पिछले एक पद्य (२४१)मे शिष्यकी जिस मान्यताको मोह बतलाया गया था उसीको यहाँ एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार पटोल (पडवल पत्र) जैसी कडवी वस्तु भी यदि किसीको मधुर मालूम होती है तो वह उसके कफाधिक्यका माहात्म्य है उसी प्रकार इन्द्रिय-विपयोमे भी जो वास्तविक सुख मानता है तो वह उसके मोहका ही माहात्म्य है, जिसने उसके विवेकको विकृत कर रक्खा है।

यहाँ इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली किसी सन्तकी एक दूसरी उक्ति भी ध्यानमे लेने योग्य है, जो इस प्रकार है—

सर्प-डसो तब जानिये जब रुचिकर नीम चबाय।
कर्म-डसो तब जानिये जब जैन-बैन न सुहाय॥

इसमे यह भाव दर्शाया है कि जिस प्रकार किसी मनुष्यको कोई विषधर सर्प काट लेता है तो वह निम्बवृक्षके कडवे पत्तोको भी रुचिसे चबाने लगता है—उसे वे पत्ते कड़वे मालूम न होकर मधुर जान पडते हैं—और उसका यह रुचिसे नीम चबाना इस बातका प्रमाण होता है कि उसे अवश्य ही सर्पने डसा है, किसी दूसरे जन्तुने नही । उसी प्रकार जिस मानवको जैन-सन्तोका इन्द्रिय-विषयोमे सुखका निषेधक वचन अच्छा मालूम नही होता और वह उसके विपरीत विषय-सुखको ही सुख समझता है तो समझना चाहिये कि वह महामोहरूप कर्म-विषधरका डसा है, जिससे उसका विवेक ठीक काम नही करता ।

मुक्तात्माओके सुखकी तुलनामे चक्रियो-देवोका सुख नगण्य

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम् ।
कलयाऽपि न तत्तुल्य सुखस्य परमात्मनाम् ॥२४६॥

'जो सुख यहाँ—इस लोकमे-चक्रवर्तियोंको प्राप्त है और जो सुख स्वर्गमें देवोंको प्राप्त है वह परमात्माओंके सुखकी एक कलाके—बहुत ही छोटे अशके—भी बराबर नहीं है ।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिको प्राप्त परमात्माके सुखकी ऊँचे से ऊँचे सासारिक सुखके साथ तुलना करते हुए यह घोषित किया गया है कि जो सुख चक्रवर्तियो तथा स्वर्गोके देवोको प्राप्त है, वह मुक्तात्माओके सुखके एक छोटेसे अशकी भी बराबरी नही कर सकता और इस तरह मुक्तात्माओके सुख-माहात्म्यको यहाँ और विशेषरूपसे ख्यापित किया गया है ।

मुक्तात्माओका 'परमात्मा' रूपमे जो उल्लेख यहाँ किया गया है वह जैन-शासनकी अपनी विशेषता है, क्योकि जैन-शासनमे एकेश्वरवादियोकी तरह किसी एक व्यक्तिविशेषको ही परमात्मा

नही माना गया है। उसकी दृष्टिमे सभी मुक्तजीव परमात्मा हैं—चाहे वे जीवन्मुक्त हो या विदेहमुक्त। जीवन्मुक्तोको शरीर-सहित होनेके कारण सकल-परमात्मा और विदेहमुक्तोको शरीर-रहित होनेके कारण निष्कल-परमात्मा कहते हैं। इससे परमात्मा एक नही किन्तु अनेक हैं, यही 'परमात्मनाम्' पदके बहुवचनात्मक प्रयोगका आशय है।

पुरुषार्थोंमे उत्तम मोक्ष और उसका अधिकारी स्याद्वादी

अतएवोत्तमो मोक्षः पुरुषार्थेषु पठ्यते।
[1]स च स्याद्वादिनामेव नान्येषामात्म-विद्विषाम्॥२४७॥

'इसी लिये सब पुरुषार्थोंमे मोक्ष उत्तमपुरुषार्थ माना जाता है। और वह मोक्ष स्याद्वादियोके-अनेकान्तमतानुयायियोके-ही बनता है, दूसरे एकान्तवादियोके नहीं, जो कि अपने शत्रु आप हैं।'

व्याख्या—चूँकि मोक्षसुखकी तुलनामे ससारका वडे से बड़ा सुख भी नगण्य है इसी लिये धर्म, अथ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमे मोक्षपुरुषाथको उत्तम माना गया है। यह मोक्ष-पुरुषार्थ किनके बनता है? कौन इसके स्वामी अथवा अधिकारी हैं? इस शकाका समाधान करते हुए, यहाँ यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि यह मोक्षपुरुषार्थ स्याद्वादियो–अनेकान्तवादियोके ही वनता है, एकान्तवादियोके नही—भले ही एकान्तवादी इसके कितने ही गीत क्यो न गावे। यहाँ एकान्तवादियोको स्वशत्रु बतलाया है जो स्वशत्रु हो उनका परशत्रु होना स्वाभाविक ही है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने एकान्ताग्रह-रक्तोको स्व-पर-वैरी

---

१ युक्त स्याद्वादिना ध्यान नान्येपा दुर्दशामिदम्।
(आर्ष २१-२५८)

बतलाया है और यह स्पष्ट घोषणा की है कि उनके कुशल (सुख-हेतुक), अकुशल (दु खहेतुक) कर्म और लोक परलोकादिककी कोई व्यवस्था नही बनती[1]। इस विषयमे 'स्व-पर वैरी कौन ?' नामक निबन्ध जो 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण १ मे तथा 'समन्त-भद्र-विचार-दीपिका' मे प्रकट हुआ है, खास तौरसे देखने योग्य[2] है।

यहाँ पर इतना और जान लेना चाहिये कि स्याद्वादी उन्हे कहते हैं जो स्याद्वाद न्यायके अनुयायी हैं अथवा 'स्यात्' शब्दकी अर्थ-दृष्टिको लेकर वस्तु-तत्वका कथन करनेवाले हैं। 'स्यात्' शब्द सर्वथारूपसे—सत् ही है, असत् ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूपसे—प्रतिपादनके नियमका त्यागी और यथादृष्टको—जिस प्रकार सत् असत् आदि रूपसे वस्तु प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—अपेक्षामे रखनेवाला होता है[3]। इसीसे स्याद्वाद सर्वथा एकान्तका त्यागी होनेसे कथचिदादि-रूपसे वस्तु-की व्यवस्था करता है अस्ति-नास्ति आदि सप्तभगात्मक नयोकी अपेक्षाको साथमे लिये रहता और मुख्य-गौणकी कल्पनासे हेय तथा उपादेयका विशेषक होता है[4]। स्याद्वादको अनेकान्त-वाद भी कहते हैं।

---

१. कुशलाऽकुशल कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ ! स्व-पर-वैरिषु ॥ देवागम ८

२. 'युगवीर-निबन्धावली' मे भी उसे देखा जा सकता है।

३ सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नाऽन्येषामात्मविद्विषाम् ॥ स्वयभू० १०२

४ स्याद्वादः सर्वथैकान्त-त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ॥
सप्तभगनयापेक्षो हेयादेयविशेषक ॥ —देवागम १०४

एकान्तवादियोके बन्धादि-चतुष्टय नही बनता

यद्वा बन्धश्च मोक्षश्च तद्धेतू[1] च चतुष्टयम् ।
नास्त्येवैकान्त-रक्तानां तद्व्यापकमनिच्छताम् ॥२४८॥

'अथवा बन्ध और मोक्ष, बन्धहेतु और मोक्षहेतु यह चतुष्टय —चारोंका समुदाय—उन एकान्त-आसक्तोंके—सर्वथा एकान्त-वादियोके—नहीं बनता, जो कि चारोंमें व्याप्त होनेवाले तत्त्वको (अनेकान्तको) स्वीकार नहीं करते।'

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि सर्वथा एकान्त-वादियोके केवल मोक्ष ही नही, किन्तु बन्ध, बन्धका कारण, मोक्ष और मोक्षका कारण ये चारो ही नही बनते, क्योकि वे इन चारोमे व्यापक तत्त्व जो 'अनेकान्त' है उसे इष्ट नही करते—नही मानते। वास्तवमे सारा वस्तु-तत्त्व अनेकान्तात्मक है और इससे वे बन्ध-मोक्षादिक भी अनेकान्तात्मक हैं। इनके आत्मा अनेकान्त-को न माननेसे इनका कोई अस्तित्व नही बनता। इसी बातको आगेके पद्योमे स्पष्ट किया गया है।

इस अवसर पर इतना और जान लेना चाहिये कि स्वामी समन्तभद्रने इन चारोका ही नही, किन्तु इनसे सम्बद्ध बद्धात्मा, मुक्तात्मा और मुक्तिफलके अस्तित्त्वका भी स्याद्वादियो (अनेकान्तवादियो) के ही विधान करते हुए एकान्तवादियोंके उन सबके अस्तित्वका निषेध किया है, जैसा—कि उनके स्वयम्भू-स्तोत्र-गत निम्न वाक्यसे प्रकट है —

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४

इससे स्पष्ट है कि जो सर्वथा एकान्तवादी हैं—सर्वथा भाव,

---

1. ज तद्वत्त च।

अभाव, नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि एकान्त-पक्षोको लिए हुए हैं—उनके बन्ध-मोक्षादिकी कथनी वस्तुत बनती नही अथवा ठीक नही बैठती—भले ही वे उसके कितने ही गीत क्यो न गाया करे।

बन्धादि-चतुष्टयके न बननेका सहेतुक स्पष्टीकरण

अनेकान्तात्मकत्वेन व्याप्तावत्र[1] क्रमाऽक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता तयाऽस्तित्वं चतुष्टये ॥२४९॥
मूल-व्याप्तुर्निवृत्तौ तु क्रमाऽक्रम-निवृत्तितः।
क्रिया-कारकयोर्भ्रंशान्न स्यादेतच्चतुष्टयम् ॥२५०॥
ततो व्याप्ता समस्तस्य प्रसिद्धश्च प्रमाणतः।
चतुष्टय-सदिच्छद्भिरनेकान्तोऽनुगम्यताम्[2] ॥२५१॥

'इस चतुष्टयमें अनेकान्तात्मकत्वके साथ क्रम और अक्रम व्याप्त हैं, क्रम और अक्रमके साथ अर्थक्रिया व्याप्त है और अर्थ-क्रियाके साथ चतुष्टयका अस्तित्व व्याप्त है। मूल व्याप्ता अनेकान्तकी निवृत्ति होनेपर क्रम-अक्रम नहीं बनते, क्रम-अक्रमके न बननेसे अर्थक्रिया नहीं बनती और अर्थक्रियाके न बननेसे यह (बन्ध-मोक्ष और उभय हेतुरूप) चतुष्टय नहीं बनता। अत. उक्त चतुष्टयके अस्तित्वकी इच्छा रखनेवालोको सारे चतुष्टय-का जो व्याप्ता और प्रमाणसे प्रसिद्ध 'अनेकान्त' है उसका सविवेक-ग्रहण-पूर्वक अनुसरण करना चाहिये।

व्याख्या—पिछले पद्यमे सर्वथा एकान्तवादियोंके बन्धादि-चतुष्टयके न बननेकी जो बात कही गई है वह क्यो नही बनती, उसीको यहाँ प्रथम दो पद्योमे स्पष्ट किया गया है और फिर

---

१. ज व्याप्त्या चात्र। सि जु व्याप्तावेतौ। २. मु मे भ्रा ज ऽवगम्यताम्।

तीसरे पद्यमे यह कहा गया है कि जो बन्धादि-चतुष्टयके अस्तित्वको अपने मतमे बनाये रखना चाहते हैं उन्हे अनेकान्तको समझ-बूझकर अपनाना चाहिये, जो कि चतुष्टयके प्रत्येक अगमे व्याप्त है और प्रमाणसे भी प्रसिद्ध है।

किसी भी वस्तुका वस्तुत्व उसकी अर्थक्रियाके विना नही बनता। यदि अर्थक्रिया होती है तो उसमे क्रम-अक्रमका होना अवश्यभावी है, क्योकि वस्तु गुण-पर्यायरूप है ('गुणपर्ययवद्द्रव्यं') जिसमे गुण सदा सहभावी एव सर्वागव्यापी होनेसे अक्रम (युगपत्) रूपसे रहते हैं और पर्यायें क्रमवर्तिनी होती हैं। इसीसे अर्थक्रिया क्रम-अक्रम उभय रूपको लिये रहती है—पर्यायो या विशेषोकी दृष्टिसे वह क्रमरूप और गुणो या द्रव्य-सामान्यकी दृष्टिसे अक्रम (यौगपद्य) रूप कही जाती है। जो लोग वस्तुतत्त्वको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक (अनित्य) आदि एकान्तरूप मानते हैं उनके मतमे यह क्रम-अक्रम तथा बन्ध-मोक्षकी बात नही बनती। सर्वथा नित्यत्वका एकान्त मानने पर वस्तुमे किसी प्रकारकी विक्रिया ही घटित नही होती—कोई प्रकारका परिणमन ही नही बनता—वह सदा कूटस्थवत् एक रूपमे ही स्थिर रहती है और कर्त्ता-कर्म-करणादि कारकोका पहले ही अभाव होता है[1]। क्योकि जब सब कुछ सर्वथा नित्य है, किसीका बनना, बिगडना, करना, कराना, उत्पन्न होना आदि कुछ नही, तब कारकोकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? ऐसी स्थितिमे किसी जीवके पुण्य-पाप क्रिया, क्रियाका फल, जन्मान्तर, सुख-दुःख

---

१. "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभाव. क्व प्रमाण क्व तत्फलम् ॥" —देवागम ३७

"भावेपु नित्येषु विकार-हानेर्न कारक-व्यापृत-कार्ययुक्ति ।
न वन्ध-भोगौ न च तद्विमोक्ष. समन्तदोष मतमन्यदीय ॥"
—युक्त्यनुशासन ८

और बन्ध-मोक्षकी बात कैसे बन सकती है[1] ? नही बन सकती। बन्धको यदि सर्वथा नित्य माना जाय तो वह कारणजन्य नही ठहरता, इससे बन्धहेतु नही बनता तथा बन्धके अभावरूप मोक्ष नही बन सकता और मोक्षको सर्वथा नित्य मानने पर मोक्षहेतु नही बनता और न उसको बन्धपूर्वक कोई व्यवस्था ठीक बैठती है। एक ही जीवके बन्ध भी सर्वथा नित्य और मोक्ष भी सर्वथा नित्य ये दोनो विरोधी बाते घटित नही हो सकती, और इसलिये बन्धादि-चतुष्टयकी बात उनके मतमे किसी तरह भी सगत नही कही जा सकती।

क्षण-क्षणमे निरन्वय-विनाशरूप अनित्यत्वका एकान्त माननेवालोंके भी किसी जीवके स्वकृत कर्मके फलस्वरूप सुख-दुःख, जन्मान्तर और बन्ध-मोक्षादिकी बात नही बनती। इस मान्यतामे प्रत्यभिज्ञान, स्मृति और अनुमान जैसे ज्ञानोका अभाव होनेसे कार्यका आरम्भ भी नही बनता, फलकी बात तो दूर रही[2]। और कार्यको सर्वथा असत् माना जानेसे—उपादानकारणमे भी उसका कथञ्चित् अस्तित्व स्वीकार न किया जानेसे—कार्यकी उत्पत्ति आकाशके पुष्पसमान नही बनती, उपादान कारणका कोई नियम नही रहता और इसलिये गेहूँ बोयेंगे तो गेहूँ ही उत्पन्न होगे ऐसा कोई आश्वासन नही बनता—सर्वथा असत्का उत्पाद होनेसे गेहूँके स्थान पर चना आदि किसी दूसरे अन्नादिका

---

१. पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात् प्रेत्यभाव फल कुतः।
बन्ध-मोक्षौ च तेषा न येषा त्व नाऽसि नायकः॥

—देवागम ४०

२. क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसभव.।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्॥

—देवागम ४१

उत्पाद भी हो सकता है[1]। ऐसी स्थितिमें उक्त बन्धादि-चतुष्टयकी कोई बात ठीक नही बैठती। एक ही क्षणवर्ती जीवके बन्ध और मोक्ष दोनो घटित नही हो सकते[2]।

अद्वैत-एकान्तपक्षकी मान्यतामे शुभाशुभकर्मद्वैत, सुख-दुःख-फलद्वैत और लोक परलोकद्वैतकी तरह बन्ध-मोक्षका द्वैत भी नही बनता। तब बन्ध-मोक्षके हेतुओका द्वैत तो स्वत ही रद्द हो जाता है। किसी भो प्रकारके द्वैतको स्वीकार करनेसे अद्वैत एकान्तको बाधा पहुँचती है। इसी तरह सर्वथा पृथक्त्वादि दूसरे एकान्त-पक्षोमे भी बन्धादि-चतुष्टयके न बन सकनेकी बातको भले प्रकार समझा जा सकता है। इसके लिये तथा प्रकृतविषय-की विशेष जानकारीके लिये स्वामी-समन्तभद्रके देवागम और उसके अष्टसहस्री आदि टीकाग्रन्थो तथा युक्त्यनुशासन जैसे ग्रन्थोको देखना चाहिये। यहाँ पर ग्रन्थकारमहोदयने जो कुछ सक्षेपमे कहा है वह बहुत हो जँचा-तुला है।

ग्रन्थमे ध्यानके विस्तृत वर्णनका हेतु

सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्षः स ध्यानपूर्वकः[3]।
इति मत्वा मया किंचिद्ध्यानमेव प्रपंचितम् ॥२५२॥

'इस चतुष्टयमें भी जो सारपदार्थ है वह मोक्ष है, और वह ध्यानपूर्वक प्राप्त होता है—ध्यानाराधनाके विना मोक्षकी प्राप्ति नही होती—यह मानकर मेरे द्वारा ध्यान विषय ही थोड़ा प्रपंचित हुआ अथवा कुछ स्पष्ट किया गया है।'

---

१ यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माऽजनि खपुष्पवत्।
मोपादान-नियमोभून्माऽऽश्वास कार्यजन्मनि ॥—देवागम ४२

२ न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसस्थौ। —युक्त्यनु० १५

३. मु ज सद्ध्यानपूर्वक.।

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि जिस वन्धादि-चतुष्टयका पिछले चार पद्योमे उल्लेख है उसमें भी मोक्ष पदार्थ सारभूत है—अर्थात् पुरुपार्थ चतुष्टयमे ही वह उत्तम अथवा सारभूत नही, किन्तु इस चतुष्टयमे भी वह उत्तम एव सारभूत है। साथ ही यह सूचना की गई है कि चूँकि मोक्षको प्राप्ति ध्यानपूर्वक होती है—विना ध्यानके वह नही वनती—इसलिये ध्यानके विपयको ही यहाँ थोडेसे विस्तार-द्वारा स्पष्ट किया गया है।

सम्पूर्ण कर्मोंका आत्मासे सम्वन्व-विच्छेदरूप अभावका नाम मोक्ष है। कर्मोंका यह अभाव अथवा विश्लेपण ध्यानाग्निसे उन्हें जलानेके द्वारा वनता है। पवनसे प्रज्वलित हुई अग्नि जिस प्रकार चिरसचित इंधन (तृण-काष्ठादिके समूह) को शीघ्र भस्म कर देती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि भी चिरसचित अपार कर्मराशिको क्षण भरमे भस्म करनेके लिये समर्थ होती है[1]। अथवा जिस प्रकार सारे शरीरमे व्याप्त हुआ विप मत्र-शक्तिसे खीचा जाकर दूर किया जाता है, उसी प्रकार सारे आत्म-प्रदेशोंमे व्याप्त हुआ कर्मरूपी विप ध्यान-शक्तिसे खीचा जाकर नष्ट किया जाता है[2]। ध्यानाग्निके विना योगी कर्मोंको जलाने या विदीर्ण करनेमें उसी प्रकार असमर्थ होता है जिस प्रकार नख और दाढसे रहित सिंह गजेन्द्रोका विदारण करनेमे असमर्थ होता है[3]। जो साधु विना ध्यानके कर्मो को क्षय करना चाहता है उसकी स्थिति

१. जह चिर सचियमिंघणमणलो पवनसहियो दुय दहइ।
तह कम्मेंघणममिय खणेण झाणाणलो डहइ॥ (ध्यानशतक)

२. सर्वाङ्गीण विप यद्वन्मत्रशक्त्या प्रकृष्यते।
तद्वत्कर्मविषं कृत्स्न ध्यानशक्त्याऽपसार्यते॥ (आर्ष २१-२१३)

३. झाणेण विणा जोई असमत्थो होइ कम्मणिड्डहणे।
दाढा-णहर-विहीणो जह सीहो वर-गयदाण॥ (ज्ञानसार)

देवसेनाचार्यने उस पदविहीन पगु-मनुष्य-जैसी बतलाई है जो मेरु-शिखर पर चढना चाहता है[1]। इससे स्पष्ट है कि विना ध्यानके दु खहेतुक-कर्मोंसे छुटकारा अथवा मोक्ष नही बनता और इसीसे उसे यहाँ ध्यानपूर्वक तथा अन्यत्र (प० ३३ मे) निश्चय और व्यवहार दोनो प्रकारके मोक्षमार्गकी प्राप्तिका आधार बतलाया है और यही ध्यानके विषयको इस ग्रन्थमे प्रपचित करने-का प्रधान हेतु है।

ध्यानविषयकी गुरुता और अपनी लघुता

यद्यप्यत्यन्त-गम्भीरमभूमिर्मादृशामिदम् ।
प्रावर्तिषि तथाप्यत्र ध्यान-भक्ति-प्रचोदितः ॥२५३॥

'यद्यपि यह ध्यान-विषय अत्यन्त गम्भीर है और मेरे जैसों-की यथेष्ट पहुँचसे बाहरकी वस्तु है, तो भी ध्यान-भक्तिसे प्रेरित हुआ मैं इसमें प्रवृत्त हुआ हूँ।'

व्याख्या—यहाँ आचार्यमहोदयने ध्यान विषयकी गुरुता-गम्भीरता और अपनी लघुताका ज्ञापन करते हुए अपनी ध्यान-भक्तिको ही इस ध्यान-विषयके प्रपंचनमे प्रधान कारण बतलाया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकारमहोदय ध्यान और उस-की शक्तियोके विषयमे सच्ची श्रद्धा-भक्ति रखते थे। वही इस ग्रन्थके निर्माणमे मुख्यत प्रेरक हुई है।

रचनामे स्खलनके लिये श्रुतदेवतासे क्षमा-याचना

यदत्र स्खलित किंचिच्छाद्मस्थ्यादर्थ-शब्दयोः ।
तन्मे भक्तिप्रधानस्य क्षमतां श्रुतदेवता[2] ॥२५४॥

---

१ चलण-रहिओ मणुस्सो जह वछइ मेरुसिहरमारुहिउ ।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खय साहू ॥ (तत्त्वसार)

२ ज श्रुतदेवता ।

'इस रचनामे छद्मस्थताके कारण अर्थ तथा शब्दोंके प्रयोगमें जो कुछ स्खलन हुआ हो या त्रुटि रही हो उसके लिये श्रुत-देवता मुझ भक्तिप्रधानको क्षमा करें।'

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकारमहोदय, अपनेको भक्ति-प्रधान वतलाते हुए, अपनी उस थोडी सी भी त्रुटि अथवा भूलके लिये श्रुतदेवतासे क्षमा-याचना करते हैं जो छद्मस्थता–असर्वज्ञताके कारण इस ग्रन्थमे अर्थों तथा शब्दोंके विन्यासमे हुई हो। इससे ग्रन्थ-रचनामे अहकारके त्यागपूर्वक विनम्रताका ज्ञापन होता है।

यहाँ श्रुतदेवताका अभिप्राय उस सरस्वतीदेवी जिनवाणी-से है जो श्रीअर्हज्जिनेन्द्रके मुख-कमलमे वास करती है और जिस-से उस श्रुतकी सम्यक् उत्पत्ति होती है जो पापोका नाश करने-वाला है, जैसा कि 'पापभक्षिणी-विद्या' के मत्र 'ॐ अर्हन्मुख-कमलवासिनि पापात्मक्षयकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन०' जैसे पदोसे प्रकट है। अत श्रुतविषयक भूलो एव त्रुटियोके लिये, जो कभी-कभी भक्तोसे अल्पज्ञतावश हो जाया करती हैं, उस श्रुतके अधिष्ठातृदेवसे क्षमा-याचना करना शिष्टजनोके लिए न्यायप्राप्त है और ऐसे विनम्रशील भक्तजन अपनी भूल तथा गलतीके लिए क्षमाके पात्र होते ही हैं। इसी वातको 'मे भक्तिप्रधानस्य' पदोके प्रयोग-द्वारा सूचित किया गया है।

भव्यजीवोको आशीर्वाद

वस्तु-याथात्म्य-विज्ञान-श्रद्धान-ध्यान-सम्पदः ।
भवन्तु भव्य-सत्त्वानां स्वस्वरूपोपलब्धये ॥२५५॥

'वस्तुओके याथात्म्य (तत्त्व) का विज्ञान, श्रद्धान और ध्यान-

रूप सम्पदाएँ भव्य-जीवोंकी अपनी स्वस्वरूपोपलब्धिके लिए कारणीभूत होवे ।'

व्याख्या—यहाँ आचार्यमहोदयने जो आशीर्वाद दिया है वह बडा ही महत्वपूर्ण है—इससे अधिक महत्वका आशीर्वाद और क्या हो सकता है ? इसमे कहा गया है कि भव्यजीवोको वस्तुओ-के यथार्थविज्ञानकी, यथार्थश्रद्धानकी और यथार्थध्यानकी सम्पत्ति प्राप्त होवे और ये तीनो सम्पत्तियां उनकी स्वरूपोपलब्धि (मोक्षप्राप्ति) मे सहायक बने । स्वस्वरूपकी उपलब्धि ही सबसे बडा लाभ है । वह जिन तीन प्रधान कारणो-द्वारा सिद्ध होता है उनके उल्लेखपूर्वक यहाँ भव्यजीवोको उसी लाभसे लाभान्वित होनेकी उत्कट भावना करते हुए उन्हे तदनुरूप आशीर्वाद दिया गया है ।

ग्रन्थकार-प्रशस्ति

श्रीवीरचन्द्र-शुभदेव-महेन्द्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयामरश्च ।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्ति
श्रीनागसेन-[1]मुनिरुद्ध-चरित्रकीर्तिः ॥२५६॥

तेन [2]प्रबुद्ध-धिषरगेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूतम् ।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
[3]श्रीरामसेन-विदुषा व्यरचि स्फुटार्थम् ॥२५७॥

'जिसके श्रीमान् वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव

1. मु मुनिरुद्य । २ मु मवृद्ध; सि जु प्रसिद्ध । ३. मु मे श्री नागसेन ।

शास्त्रगुरु (विद्यागुरु) हैं, पुण्यमूर्ति और ऊँचे दर्जेके चरित्र तथा कीर्तिको प्राप्त श्रीमान् नागसेन जिसके दीक्षागुरु हुए हैं उस प्रबुद्धबुद्धि श्रीरामसेन विद्वान्ने, गुरुवोके उपदेशको पाकर, इस सिद्धि-सुख-सम्पतके उपायभूत तत्त्वानुशासन-शास्त्रको, जो कि स्पष्ट अर्थसे युक्त है, जगतके हितके लिये रचना की है।'

व्याख्या—इन प्रशस्ति-पद्योमे ग्रन्थकारमहोदय श्रीरामसेन-ने अपने शास्त्रगुरुवो और दीक्षागुरुका नामोल्लेख किया है और अपने द्वारा इस ग्रन्थके रचे जानेकी सूचना की है। चारो शास्त्र-गुरुवोके नामोल्लेखमे किसीभी नामके साथ किसी खास विशेषण पदका प्रयोग नही किया गया, जिससे यह मालूम होता कि वे अमुक शास्त्रके विशेषज्ञ थे अथवा अमुक सघ या गण-गच्छसे सम्बन्ध रखते थे। दीक्षागुरुके नामके साथ दो विशेषण-पदोका प्रयोग किया गया है—एक 'पुण्यमूर्ति' और दूसरा 'उद्घचरित्र-कीर्तिः'—,जिनसे मालूम होता है कि नागसेनाचार्य पुण्यात्मा और ऊँचे दर्जेके चरित्रवान् तथा कीर्तिमान् थे। अपने लिये दो साधारण विशेषण पदोका प्रयोग किया है—एक 'प्रबुद्धधिषरोन' और दूसरा 'विदुषा', जो यथार्थ जान पडते हैं। 'गुरूपदेशमासाद्य' पदका सम्बन्ध 'प्रबुद्धधिषरोन' और 'व्यरचि' दोनो पदोके साथ लगाया जा सकता है। प्रथम पदके साथ उसे सम्बन्धित करनेसे यह अर्थ होता है कि श्रीरामसेन अपने गुरुवोके उपदेशको पाकर बुद्धिके विकासको प्राप्त हुए थे, जो कि ग्रन्थ परसे स्पष्ट है, और दूसरे पदके साथ सम्बन्धित करने पर यह अर्थ होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ उन्होने अपने दीक्षागुरु अथवा किसी दूसरे गुरु या गुरुवोके उपदेश एव उनकी प्रेरणासे रचा है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थके दो विशेषण दिये है—एक 'सिद्धिसुखसम्पदुपायभूत' दूसरा 'स्फुटार्थम्'। पहला विशेषण बडा ही महत्वपूर्ण है और वह ग्रन्थ-के प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे बहुत ही अनुरूप एवं यथार्थ जान

पडता है। दूसरा विशेषण ग्रन्थकी शब्द-रचनासे सम्बन्ध रखता है, और वह कठिन गूढ शब्दोके प्रयोगसे रहित अर्थकी स्पष्टता-को लिये हुए है, इसमे कोई सन्देह नही है। 'जगतो हिताय' पद ग्रन्थ-निर्माणके उद्देश्यको व्यक्त करता है, जो कि जगतका हित-साधन है और यह ग्रन्थके पद-पद परसे व्यक्त होता है। सारा ग्रन्थ जगतके हितकी चिन्ता और उसमे अपना ज्ञान उँडेल देनेकी सद्भावनाको लिये हुए है। इस तरह प्रत्येक विशेषणादि-पद जँचा-तुला एव अतिशयोक्तिसे रहित मालूम होता है और ऐसा होना ग्रन्थ और ग्रन्थकारकी बहुत बडी प्रामाणिकताका द्योतक है।

अन्त्य-मंगल[1]

जिनेन्द्रा' सद्ध्यान-ज्वलन-हुत-घाति-प्रकृतयः
प्रसिद्धाः सिद्धाश्च प्रहत-तमसः सिद्धि-निलयाः।
सदाऽऽचार्या वर्याः सकल-सदुपाध्याय-मुनयः
पुनन्तु स्वान्त ्नस्त्रिजगदधिकाः पंचगुरवः ॥२५८॥

'वे अर्हज्जिनेन्द्र, जिन्होने प्रशस्त ध्यानाग्निके द्वारा घातिया-कर्मोकी प्रकृतियोको भस्म किया है; वे प्रसिद्ध सिद्ध, जिन्होने (विभावरूप) अन्धकारका पूर्णत. विनाश किया है तथा जो (स्वात्मोपलब्धि रूप) सिद्धिके निवास-स्थान हैं; वे श्रेष्ठ ग्राचार्य और वे सब प्रशसनीय उपाध्याय तथा मुनि--साधु, जो तीन लोकके सर्वोपरि गुरु पचपरमेष्ठी हैं, वे हमारे अन्त करणको सदा पवित्र करें--उनके चिन्तन एवं ध्यानसे हमारा हृदय पवित्र हो।'

व्याख्या--यहाँ अन्त्य-मगलके रूपमे पच 'गुरुवोका स्मरण

---

१. अन्त्यमंगलके दोनो पद्य सि जु प्रतियोंमे नहीं हैं।

करके यह प्रार्थना अथवा भावना की गई है कि ये पच गुरु हमारे चित्तको पवित्र करें—उनके चिन्तन, ध्यान एव सान्निध्यसे हमारा हृदय पवित्र होवे। जो स्वय पवित्र होते हैं, वे ही अपने सम्पर्क-द्वारा दूसरोके हृदयको विना इच्छा एव प्रयत्नके भी पवित्र करने-मे समर्थ होते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार अपने राग-द्वेप-काम-क्रोधादि दोपोको शान्त करके आत्मामें शान्ति स्थापित करने-वाले महात्माजन शरणागतोके लिये शान्तिके विधाता होते हैं[1]। जिन पच गुरुवोका यहाँ स्मरण किया गया है वे ऐसे ही पवित्रता-की मूर्ति महात्मा हैं, जिनके नाम-स्मरणमात्रसे हृदयमे पवित्रता-का सचार होने लगता है, फिर सचाईके साथ ध्यानादि-द्वारा सम्पर्क-स्थापनकी तो वात ही दूसरी है, वह जितना यथार्थ एव गाढ होगा उतना और वैसा ही उससे पवित्रताका सचार हो सकेगा।

'पचगुरवः' पदका अभिप्राय यहाँ केवल पाँचकी सख्या-प्रमाण गुरुव्यक्तियोका नही है, किन्तु पाँच प्रकारके गुरुवोका वह वाचक है, जिन्हे 'पंचपरमेष्ठी' कहते है। जैसा कि ग्रन्थमे अन्यत्र **'तत्रापि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः'** (११९), **'तत्सर्वं ध्यातमेव स्याद्ध्यातेषु परमेष्ठिसु'** (१४०) जैसे वाक्योंसे व्यक्त है, और वे अर्हन्त (जिनेन्द्र), सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुपदोके वस्तुत अधिकारी हैं, जिनमेसे प्रत्येककी सख्या अनेकानेक है। इसीसे प्रत्येकका उल्लेख वहुवचनान्त-पदोके द्वारा किया गया है। और इसीलिये उक्तपदका आशय ग्रन्थकारके उन पाँच गुरुवोका नही है जिनका प्रशस्तिमे 'शास्त्रगुरु' तथा 'दीक्षागुरु'के रूपमे नामोल्लेख है। हाँ, आचार्य, उपाध्याय तथा

---

१. स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्ति शान्तेर्विधाता शरण गताना।
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्र

मुनिके रूपमे श्लेष-द्वारा उनका भी समावेश उसमे किया जा सकता है। इस विषयमे 'त्रिजगदधिका' यह विशेषणपद खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य है, जो प्रस्तुत गुरुवोकी सारे विश्वमे उच्चस्थितिका द्योतक है। इस विशेषणसे वे अपने-अपने पदकी पूर्णताको प्राप्त होने चाहियें, तभी उनका ग्रहण यहाँ हो सकेगा।

जिन जिनेन्द्रादि-गुरुवोका इस पद्यमे स्मरण किया गया है, उनके अन्य विशेषणपद भी खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य हैं, जो उनका तन्नामधारी पदाधिकारियोसे पृथक् बोध कराते हैं। जिनेन्द्रो—अर्हन्तोका एक ही विशेषण दिया गया है और वह है 'प्रशस्त-ध्यानाग्नि-द्वारा घातियाकर्मोंकी प्रकृतियोको भस्म करनेवाले।' घातियाकर्मोंकी मूल प्रकृतियाँ चार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय—जिनकी आगमोक्त उत्तर-प्रकृतियाँ क्रमशः ५, ९, २८, ५ हैं और उत्तरोत्तर-प्रकृतियाँ असख्य हैं। इन चारो घातिया-कर्मप्रकृतियोका उत्तरोत्तर-प्रकृतियो-सहित पूर्णत विनाश हो जाने पर आत्मामे अनन्त-ज्ञानादि-चतुष्टय-गुणोकी प्रादुर्भूति होती है और जिसके यह प्रादुर्भूति होती है वही वास्तवमे सर्वज्ञ होता है, जैसाकि ग्रन्थके द्वितीय पद्यमे प्रकट किया गया है। 'जिन' तथा 'अर्हन्' नामके धारक कुछ दूसरे भी हुए हैं, परन्तु वे घातिकर्म-चतुष्टयको भस्म कर अनन्तज्ञानादि-चतुष्टयको प्राप्त करनेवाले नही हुए। अत इस विशेषणपदसे उनका पृथक्करण हो जाता है।

सिद्धोके तीन विशेषण दिये गये हैं, जिनमे 'प्रसिद्धा.' विशेषण प्रकर्षत—पूर्णत सिद्धत्वका द्योतक है, अपूर्ण तथा अधूरे सिद्ध जो लोकमे विद्या-मत्र-देवतादि किसी-किसी विषयको लेकर 'सिद्ध' कहे जाते हैं उनका इस विशेषणसे पृथक्करण हो जाता है।

'प्रहततमसः' विशेषण उस अन्धकारके पूर्णत विनाशका सूचक है जो कर्मपुद्गलोके सम्पर्कसे आत्मामे वैभाविक-परिणमनके रूपमे होता है, और इसलिये जिनका वैभाविक-परिणमन सर्वथा विनष्ट हो गया है उन्ही सिद्धोंका इस विशेषणपदके द्वारा यहाँ ग्रहण है। तीसरा विशेषण 'सिद्धिनिलया.' उस सिद्धिके निवास-स्थानरूपका वाचक है जो सारे विभाव-परिणमनके अभाव हो जाने पर स्वात्मोपलब्धिके रूपमे प्राप्त होता है। जैसा कि श्री-पूज्यपादाचार्यके 'सिद्धि. स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादि-दोषापहारात्' इस वाक्यसे प्रकट है। इन तीनो विशेषणोसे उन सिद्धोका स्पष्टीकरण तथा अन्योसे पृथक्करण हो जाता है जिनका इस पद्यमें ग्रहण है। इसी तरह आचार्योंका 'वर्याः' और उपाध्यायो तथा साधु-मुनियोका 'सत्' विशेषण उस अर्थका निर्देशक है जिसका ग्रन्थमे 'अन्यत्र (१३०) 'यथोक्तलक्षणाः ध्येयाः सूर्युपाध्यायसाधवः' इस वाक्यके 'यथोक्तलक्षणा' पदमें उल्लेख है। इससे आचार्यपरमेष्ठीको आगमोक्त ३६ गुणोसे सम्पन्न, उपाध्यायपरमेष्ठीको २५ गुणोसे विशिष्ट और साधु-परमेष्ठीको २८ मूलगुणोसे पूर्णत युक्त समझना चाहिये, जैसा कि उक्तवाक्यकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है।

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगद्दुग्धाम्बुराशाविव
ज्ञान-ज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुव स्वस्त्रयी।
शब्द-ज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासन्त्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायाऽस्तु न ॥२५९

इति श्रीनागसेनसूरि-दीक्षित-रामसेनाचार्य-प्रणीत
सिद्धि-सुखसम्पदुपायभूतं तत्त्वानुशासनं
नाम ध्यान-शास्त्र समाप्तम्।

'जिसकी देह-ज्योतिमे जगत ऐसे डूबा रहता है जैसे कोई क्षीरसागरमे स्नान कर रहा हो; जिसकी ज्ञान-ज्योतिमे भूः (अधोलोक), भुवः (मध्यलोक) और स्वः (स्वर्गलोक) यह त्रिलोकीरूप ज्ञेय (ओम्[1]) अत्यन्त स्फुटित होता है और जिसकी शब्द-ज्योति (वाणीके प्रकाश) मे ये स्वात्मा और परपदार्थ दर्पणकी तरह प्रतिभासित होते हैं, वह देवोसे पूजित श्रीमान् जिनेन्द्रभगवान् तीनों ज्योतियोकी प्राप्तिके लिये हमारे सहायक (निमित्तभूत) होवें।'

व्याख्या—यह पद्य भी अन्त्य-मगलके रूपमे है। इसमे जिनेन्द्र-(अर्हन्तदेव) को तीन ज्योतियोके रूपमे उल्लेखित किया है—एक देहज्योति, दूसरी ज्ञानज्योति और तीसरी शब्दज्योति। देह-ज्योतिका अभिप्राय उस द्युतिसे है जो केवलज्ञानादिरूप अनन्त-चतुष्टयकी प्रादुर्भूतिके साथ शरीरके परमऔदारिक होते ही प्रभामण्डलके रूपमे सारे शरीरसे निकलती है। उस देहज्योतिमे जगतके मज्जनकी जो बात कही गई है उससे उतना ही जगत ग्रहण करना चाहिये जहाँ तक वह ज्योति प्रसारित होती है, और उसे दुग्धाम्बुराशिकी जो उपमा दी गई है उससे यह स्पष्ट है कि वह दुग्धवर्ण-जैसी शुक्ल होती है। ज्ञानज्योतिका अभिप्राय उस आत्मज्योतिका है जिसमे सारे जगतके सभी चराचर पदार्थ यथावस्थितरूपमें प्रतिविम्बित होते हैं—कोई भी पदार्थ अज्ञात नही रहता। और शब्दज्योतिका तात्पर्य उस दिव्यध्वनिरूप वाणीका है जो ज्ञानज्योतिमें प्रतिविम्बित हुए पदार्थोंकी दर्पणके

---

१ 'ओम् यह अव्यय-शब्द 'ज्ञेय' अर्थमे भी प्रयुक्त होता है, ऐसा 'शब्दस्तोममहानिधि' कोशकी निम्न उल्लेखसे जाना जाता है और वही यहाँ सगत प्रतीत होता है—

"ओम्—प्रणवे, आरम्भे, स्वीकारे।.... . . ..
अनुमतौ, अपाकृतौ, अस्वीकारे, मगले, शुभे, ज्ञेये, ब्रह्मणि च।"

समान यथार्थवाचिका होती है। इस प्रकार त्रिविध-ज्योतिसे युक्त और देवोंसे पूजित अर्हत्परमात्माका स्मरण करके जो प्रार्थना की गई है वह ग्रन्थकारमहोदयको ज्योतित्रयरूप अर्हत्पर-मात्मा बननेकी भावनाका द्योतन करती है।

यहाँ भगवज्जिनसेनाचार्य-शिष्य-श्रीगुणभद्राचार्यप्रणीत-उत्तरपुराण-गत-कुन्थुजिन-चरितके अन्तिम मगलपद्यका स्मरण हो आता है, जो इस प्रकार है —

देहज्योतिषि यस्य शक्रसहिताः सर्वेऽपि मग्नाः सुराः
ज्ञानज्योतिषि पंचतत्त्वसहित मग्नं नभश्चाखिलम्।
लक्ष्मीधाम दधद्विधूय वितत-ध्वान्तं स धामद्वयं।
पंथानं कथयत्वनन्तगुणधृत्कुन्थुर्भवान्तस्य वः ॥(६४-५५)

इसमे कुन्थुजिनेन्द्रका स्मरण करते हुए उनकी दो ज्योतियोका ही उल्लेख किया है—एक देहज्योति और दूसरी ज्ञानज्योति। देहज्योतिमे इन्द्रसहित सब देवताओको निमग्न वतलाया है, जो उनके समवशरणादिको प्राप्त हुए हैं, और ज्ञानज्योतिमे पच-तत्त्व (द्रव्य तथा भूत) सहित सारे आकाशको व्याप्त प्रकट किया है। तीसरी शब्दज्योतिका कोई उल्लेख नही किया। इस ज्योतिका उपर्युक्त उल्लेख यहाँ ग्रन्थकारकी अपनी विशेषताको लिये हुए जान पडता है। शब्दात्मक भी ज्योति होती है इसका वादको श्रीशुभचन्द्राचार्यने अपने ज्ञानार्णव-ग्रन्थके निम्न पद्यमे उल्लेख किया है .—

यस्माच्छब्दात्मक ज्योतिः प्रसृतमतिनिर्मलम्।
वाच्य-वाचक-सम्बन्धस्तेनैव परमेष्ठिन. ॥ ३८-३२ ॥

इसमे शब्दात्मक-ज्योति और परमेष्ठीका परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है ऐसा उल्लेख किया है और यह बात 'अर्हं-मित्यक्षर-ब्रह्म वाचक परमेष्ठिन' तथा 'शब्दब्रह्म परब्रह्मके वाचक-वाच्य नियोग' जैसे वाक्योंसे भी जानी जाती है। वाच्यके वाचक-रूप 'नामध्येय'के अन्तर्गत जिन मत्रपदोका इस ग्रन्थ (पद्य नं० १०८ आदि) मे तथा अन्यत्र पदस्थध्यानके वर्णनमे उल्लेख है, वे सब ध्वनिरूप शब्दज्योतियाँ हैं जो अर्हन्तादिकी वाचक हैं। अर्हन्तजिनेन्द्रका दिव्यध्वनिरूप सारा ही वाङ्मय शब्दज्योतिके रूपमें स्थित है।

भाष्यका अन्त्यमगल और प्रशस्ति

मोहादिक रिपुवोको जिनने, जीत 'जिनेश्वर' पद पाया,
वीतराग-सर्वज्ञ-ज्योतिसे, मोक्षमार्गको दर्शाया।
उन श्रीमहावीरको जिसने, भक्तिभावसे नित ध्याया;
आत्म-विकास सिद्ध कर उसने, निर्मल-शास्वत-सुख पाया ॥१॥

गुरु समन्तभद्रादिक प्रणमूँ, ज्ञान-ध्यान-लक्ष्मी-भर्तार,
जिन-शासनके अनुपम सेवक, भक्ति-सुधा-रस-पारावार।
जिनकी भक्ति प्रसाद वना यह, रुचिर-भाष्य सबका हितकार;
भरो ध्यानका भाव विश्वमे, हो जिससे जगका उद्धार ॥२॥

अल्पबुद्धि 'युगवीर' न रखता, ध्यान-विषय पर कुछ अधिकार,
आत्म-विकास-साधनाका लख ध्यान-क्रियाको मूलाधार।
रामसेन-मुनिराज-विनिर्मित, ध्यान-शास्त्र सुख-सम्पत-द्वार,
उससे प्रभवित-प्रेरित हो यह, रचा भाष्य आगम-अनुसार ॥३॥

पढ़े-पढ़ावें सुनें-सुनावें, जो इसको आदरके साथ;
प्रमुदित होकर चलें इसी पर, गावें सदा आत्म-गुण-गाथ।
आत्म-रमण कर स्वात्मगुणोंको; औ' ध्यावें सम्यक् सविचार,
वे निज आत्म-विकास सिद्ध कर, पावें सुख अविचल-अविकार॥४

इस प्रकार श्रीनागसेनसूरिके दीक्षित-शिष्य-रामसेनाचार्य-
विरचित सिद्धि-सुख-सम्पतका उपायभूत तत्त्वानुशासन
नामक ध्यानशास्त्र सानुवाद-व्याख्यारूप
भाष्यसे अलंकृत समाप्त हुआ।
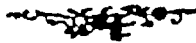
परिशिष्ट

१. भाष्यका संशोधन

भाष्यके छपनेमे प्रेसकी असावधानीसे कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं। बिन्दु-मात्रादिकी साधारण अशुद्धियोको छोडकर, जो कही-कही प्रायः टाइपके ठीक न उठनेके कारण हुई जान पडती हैं, शेष अशुद्धियोका सशोधन निम्न प्रकार है —

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	२४	पयदि	पयडि
१६	१६	मिच्छत्त	मिच्छत्त
२४	२३	द्वेषस्तु	द्वेषस्तु¹
३०	१३	भ्रमिष्यति	भ्रमिष्यसि
३६	२३	अभित्र	अभिन्न
४८	१८	(४७)	(४६)
५३	२	श्रुतेन	¹श्रुतेन
८०	१	तिगुत्त	तिगुत्तो
८०	२	एकग्गमणो	एयग्गमणो
९०	२६	देहावस्था	देहावत्था
१११	१७	व व	व वं
१२०	७	यह	ऐसे
१२०	७	और रत्नोकी	और उन्हे रत्नोकी
१३३	११	विभ्रता	विभ्रता
१५८	४	यस्मिन् मिथ्या	यन्मिथ्या
१५७	१५	अन्यत्र	अन्यन्न
१५८	२४	तमस्पन्तद्दंशा	तमस्यन्तद्दंशा
१५९	१५	लिए हुए हैं	लिए हुए आवृत्त हैं
१५९	२३	व्यावृत्त	आवृत्त
१६३	१०	पूर्ववेद	पूर्वविद
१७३	८	प्रदेशमपिण्ड.	प्रदेशमपिण्ड.
२२१	२४	कोशकी	कोशके

२. तत्त्वानुशासन–पद्यानुक्रमणिका

पद्याऽऽद्यभाग क्रमाङ्कसहित

३. भाष्यके सहायक ग्रन्थोंकी सूची

अध्यात्मकमलमार्तण्ड (कविराजमल्ल)
अध्यात्मतरंगिणी (सोमदेव)
अध्यात्मतर०-टीका (गणधरकीर्ति)
अध्यात्म-रहस्य (प० आशाधर)
अनगारधर्मामृत (प० आशाधर)
आत्मप्रबोध (कुमार कवि)
आत्मानुशासन (गुणभद्राचार्य)
आराधनासार (देवसेनाचार्य)
आर्ष-महापुराण (जिनसेनाचार्य)
आलापपद्धति (देवसेनाचार्य)
इष्टोपदेश-टीका (प०आशाधर)
उत्तरपुराण (गुणभद्राचार्य)
उपासकाचार (अमितगति आ०)
एकत्वसप्तति (पद्मनन्दि आ०)
कल्याणमन्दिर (कुमुदचन्द्राचार्य)
गोम्मटसार-कर्मकाण्ड (नेमिचन्द्रा०)
छहढाला (प० दौलतराम)
ज्ञानसार (पद्मसिंहमुनि)
ज्ञानांकुश
ज्ञानार्णव (शुभचन्द्रदाचार्य)
तत्त्वभावना (अमितगति आ०)
तत्त्वसार (देवसेन आ०)
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी)
दसणपाहुड़ (कुन्दकुन्दाचार्य)
देवागम (स्वामी समन्तभद्र)
ध्यानस्तव (आ० भास्करनन्दी)
ध्यानशतक
नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
परमात्मप्रकाश (योगीन्दुदेव)
पंचास्तिकाय (आ० कुन्दकुन्द)
प्रतिष्ठासारोद्धार (प० आशाधर)
प्रवचनसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
भावपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्य)
भैरवपद्मावतीकल्प (मल्लिषेणाचार्य)
मंत्रसारसमुच्चय (विजयवर्णी)
महाकम्मपयडिपाहुड
मूलाचार (वट्टकेर-कुन्दकुन्द आ०)
मोक्खपाहुड (कुन्दकुन्द आ०)
यशस्तिलक (आ० सोमदेव)
युक्त्यनुशासन (स्वामी समन्तभद्र)
योगदर्शन (पतंजलिऋषि)
योगप्रदीप
योगसार (अमितगति प्रथम)
योगसूत्र-मणिप्रभावृत्ति (भावागणेश)
योगसूत्र-वृत्ति (नागोजी भट्ट)
योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य)
रत्नकरण्ड (स्वामीसमन्तभद्र)
वसुनन्दिश्रावकाचार (वसुनन्दि आ०)
विद्यानुशासन
वृहद्द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्रचार्य)
वृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका (ब्रह्मदेव)
षट्खण्डागम
समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
समयसारकलशा (अमृतचन्द्राचार्य)
सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य)
सिद्धभक्तिप्रा० टी० (प्रभाचन्द्र)
सिद्धभक्ति संस्कृत (पूज्यपादाचार्य)
स्वयम्भूस्तोत्र (समन्तभद्राचार्य)
स्वामिकार्तिकयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार)

४. भाष्यमें उद्धृत-वाक्योंकी अनुक्रमणिका

*

५. प्रस्तावनाकी नामानुक्रमणी

६. तत्त्वानुशानकी लक्षणात्मक शब्द-सूची

युगवीर-निबन्धावली

यह 'निबन्धावली' आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' के साहित्य और इतिहास-विषयक उन निबन्धोसे पृथक् है, जिनका एक सग्रह 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामसे, प्रथम खड-के रूपमे, ७५० पृष्ठका प्रकाशित हो चुका है, दूसरा खड प्राय उतने ही पृष्ठोका प्रकाशित होनेको है और तीसरा खड जैनग्रन्थोकी उन परीक्षाओ-से सम्बन्ध रखता है जिन्होने महान् आचार्यो के नाम पर अकित कुछ जाली ग्रन्थोका भडाफोड किया, दूसरोकी कृतियोको अपनी कृति बनाने वालोका पर्दा फाश किया, समाजमें असाधारण विचार-क्रान्ति उत्पन्न की और अनेक भूल-भ्रान्तियो तथा मिथ्या-धारणाओके विषयमे समाजके विवेकको काफी जाग्रत किया। इस तीसरे खडका पृष्ठ-परिमाण और भी अधिक है।

इस निबन्धावलीको, जिसमे इतस्तत बिखरे हुए सामाजिक तथा धार्मिक निबन्धोका संग्रह है, दो खडोमे विभाजित किया गया है, जिनमें पहला खंड विविध विषयके महत्वपूर्ण मौलिक निबन्धोको लिए हुए है, जिनकी संख्या ४१ है। दूसरे खडमे निबन्धोको १ उत्तरात्मक, २ समा-लोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचायत्मक, ४ विनोद शिक्षात्मक और ५ प्रकी-र्णक-जैसे विभागोमे विभक्त किया गया है और उनकी सख्या ६० से ऊपर है। मुख्तारश्रीके लेख-निबन्धोको जिन्होंने भी कभी पढा-सुना है उन्हें मालूम है कि वे कितने खोजपूर्ण, उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते हैं, इसे बतलानेकी आवश्यकता नही है। विज्ञ पाठक यह भी जानते हैं कि इन निबन्धोने समय-समय पर समाजमे किन-किन सुधारोंको जन्म दिया और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है।

यह निबन्धावली स्कूलो, कालिजो तथा विद्यालयोंके विद्यार्थियोको पढ़नेके लिये दी जाना चाहिये, जिससे उन्हें समाजकी गतिविधियों एवं स्पन्दनोका कितना ही परिज्ञान होकर कर्तव्यका समुचित भान हो सके और वे खोजने, परखने तथा लिखने आदिकी कलामे भी विशेष नैपुण्य प्राप्त कर सकें।

इस निबन्धावलीका प्रथम खण्ड प्रकाशित हो चुका है, जिसके साथमे डा० हीरालालजी एम० ए०, डी० लिट०, विश्वविद्यालय जबलपुरकी लिखी 'नये युगकी झलक' नामकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है। साथ ही निबन्धोंमे आए हुए नामोकी वर्णानुक्रम-सूची भी लगी हुई है। इस खण्डके अन्तर्गत कुछ निबन्धोके नाम अपने-अपने क्रमाङ्क सहित इस प्रकार हैं.—

१ सुधारका मूलमन्त्र, २ पापोंसे बचनेका गुरुमन्त्र ३ मिथ्या धारणा, ६ हमारी यह दुर्दशा क्यो ? ८ जिन-पूजाधिकार-मीमांसा, ९ जैनियो-का अत्याचार, १४ विवाहसमुद्देश्य, १४ उपासना-तत्त्व,१५ उपासनाका ढग, १७ अपमान या अत्याचार, १९ गोत्र-स्थिति और सगोत्र-विवाह, २० असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह २१ जाति-पचायतोका दण्ड-विधान, २२ हम दुखी क्यो है ? २३ जैनी नीति, २५ भक्तियोग-रहस्य, २७ सकाम-धर्मसाधन, २८ सेवा-धर्म, २९ होलीका त्योहार और उसका सुधार, ३० स्व-पर-वैरी कौन ? ३१ वीतरागकी पूजा क्यो ? ३२ वीतरागसे प्रार्थना क्यो ? ३३ पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ? ३४ परि-ग्रहका प्रायश्चित्त, ३७ बडा दानी कौन ? ३८ बडा दानी और छोटा दानी,३९ भारतकी स्वतन्त्रता, उसका झडा और कर्तव्य, ४० महावीरका सर्वोदय-तीर्थ, ४१ सर्वोदयके मूलसूत्र।

प्राय ५०० पृष्ठोंके इस सदा उपयोगी सुन्दर सजिल्द खण्डका मूल्य केवल पांच रुपये है। इस खण्ड पर प्राप्त विद्वानोंकी बहुतसी सम्मितियों मेसे कुछ नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं —

डा० हीरालालजी जैन एम० ए०, डी० लिट० जबलपुर—

"इन लेखोमे ऐतिहासिक महत्त्वके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियोके सम्बन्धमे भी मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।······इस प्रकार हम प० जुगलकिशोरजी मुख्तारको जैनसमाजमे नये युग-निर्माणमे एक महान् अग्रणी कह सकते हैं, जिसके प्रचुर प्रमाण उनके प्रस्तुत लेखोमें विद्यमान है। अन्धविश्वासो व अज्ञानपूर्ण मान्यताओं-की कठोर आलोचनाके साथ-साथ शास्त्रीय आधार और स्थिर आदर्शों-का पक्षपात तथा नवनिर्माणका सावधानी पूर्ण प्रयत्न पंडितजीकी

अपनी विशेषता है। उनकी भाषा सरल और धारावाहिनी तथा शैली तर्कपूर्ण और ओजस्विनी है।"

"पुस्तक बड़े कामकी है और बहुत सुन्दर छपी है।"

२. प० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना (सागर)—

"कभी भी नष्ट नहीं होनेवाली उपयोगिता ही इस (निबन्धावली)-की विशेषता है।"

३ श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, सम्पादक 'नया जीवन' सहारनपुर—

"... संग्रहीत निबन्धोंमें साहित्य और इतिहास दोनोंका समन्वय है। निबन्ध गहरे हैं, ज्ञानवर्धक हैं और मुख्तार साहबके स्व-भावानुसार राई-रत्ती छान-खोजकर लिखे गए हैं। आश्चर्य है कि ४८४ पृष्ठकी इतनी उत्तम सजिल्द पुस्तकका मूल्य कुल ५ रुपए हैं।"

४ सम्पादक 'सन्मतिसन्देश' दिल्ली—

.. "जिन-जिन विषयों पर आपके निबन्ध प्रकाशित हुए हैं वे सभी विषय महत्त्वपूर्ण, सामयिक एवं क्रान्तिकारी हैं। उनसे एक सुलझा हुआ मार्गदर्शन मिलता है। . . युगान्तरकारी इन विचारोंको पढ़कर आप धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नोंका समाधान पा सकेंगे। इन विचारोंके प्रचारकी अत्यन्त आवश्यकता है।"

५. श्रीलक्ष्मीचन्द जैन एम० ए०, सम्पादक 'लोकोदयग्रन्थमाला' कलकत्ता—

"आपका कृतित्व सब प्रकारसे महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रकाशनसे विद्वानोंको और समाजको काफी लाभ पहुँचेगा।"

६. सम्पादक 'नवभारत टाइम्स' दिल्ली—

"प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य श्री मुख्तार साहबके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और ज्ञानवर्धक मौलिक निबन्धोंका संग्रह है। इन लेखोंमें वर्तमान परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर वैयक्तिक और सामाजिक मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री संकलित है। त्याग, सेवाभाव, कर्तव्यनिष्ठा आदि-के सम्यक् विवेचनके कारण यह ग्रन्थ चिरंतन महत्वका एवं सर्वोपयोगी है। यह निबन्धावली अपनी असीम उपयोगिता और उपादेयताकी दृष्टिसे स्कूलों कालेजों एवं विद्यालयोंके विद्यार्थियोंके लिये अध्ययन, चिन्तन एवं मननकी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करती है।"

मंत्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट, दरियागंज, दिल्ली